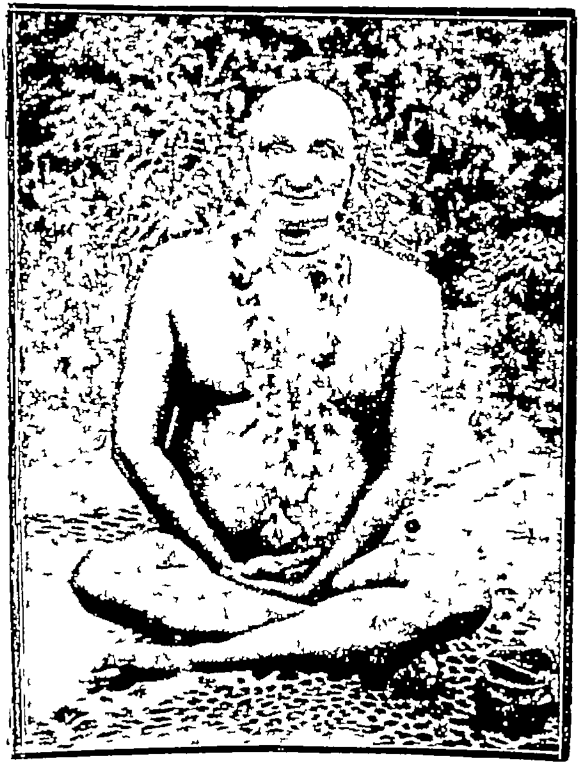
ॐ

नित्यानन्द परमसुखद केवल ज्ञानमूर्तिं ।
द्वन्द्वातीत गगन सदृश तत्वमस्यादिलक्ष्यम् ॥



श्री महाप्रभु अवधूत श्री १०८ श्रीनित्यानन्दजी महाराज

एकं नित्य विमल मचल सर्वधीसाक्षिभूत ।
भावातीत त्रिगुणरहित सद्गुरु त्वा नमामि ॥१॥

ॐ

नित्य-पाठ-दीपिका

[भावार्थ सहित]

શ્રી એન એચ. ડુંગાજી ૨૭ સાઉથ સ્ટ્રીટ
ભાયખલા બમ્બઈ નં. ૮ की ओर से
સાદર ભેંટ, ... 13-12-65

द्वितीय बार २०००]

[मूल्य १)

प्रकाशकः—

अम्बालाल अमथालाल गौर

नार (गुजरात)

मुद्रकः—

जगदीश नरायन कपूर

ईस्टर्न (इलेक्ट्रिक) प्रेस

बरेली।

॥ ॐ ॥

समर्पण

ॐ नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये,

सहस्रपादाक्षिशिरोरुवाहवे ।

सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते,

सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ॥१॥

—हज़ारों स्वरूप, हजारों चरण हजारों नेत्र, हज़ारों मस्तक, हजारों जंघा तथा-हज़ारों बाहुवाले अन्त रहित-परमात्मा को नमस्कार हो, हजारों नाम और सहस्र कोटी युगों को धारण करने वाले शाश्वत पुरुष को नमस्कार हो।

असितगिरिसमंस्यात्, कज्जलं सिन्धुपात्रे,

सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।

लिखति यदि गृहीत्वा, शारदा सर्वकालं-

तदपि तव गुणानामीश ! पारं न याति ॥२॥

—नील पर्वत इतना काजल हो, महासागर समान दावात हो, कल्पवृक्ष की डालियों की कलम हो, पृथ्वी जितना

कागज़ हो और उसे लेकर साक्षात् सरस्वती सदा काल लिखती रहे तो भी, हे नाथ ! हे जगद्गुरु आपके गुणों का पार नहीं आसकता ।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव ! ॥३॥

—तुम ही माता और तुमही पिता हो, तुम ही बन्धु हो और सखा भी तुम ही हो, तुम ही विद्या और तुम ही धन हो-हे प्रभो ! हे गुरुदेव ! हे देवों के देव-मेरे एक मात्र सर्वस्व-सब कुछ-तुम ही हो ।

—कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा,
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥४॥

—काया से, वाणी से मनसे इन्द्रियों से, बुद्धि से, चित्त से, अहंकार किंवा-प्रकृति के स्वभाव से जो जो कुछ करता हूँ वह सब हे परब्रह्म नारायण ! आपके चरण-कमलों में समर्पण करता हूँ ।

ॐ तत्सत्



॥ ॐ ॥



मङ्गलाचरण ।

ॐकारं विन्दुसयुक्त नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामद मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥१॥

—विन्दु सहित ॐकार [परब्रह्म परमात्मा का सब से छोटा और सर्वोपरि नाम] जिसका योगी जन नित्य ध्यान करते हैं और कामादि मोक्ष का दाता है उस परब्रह्म ॐकार को बारंबार नमस्कार हो ।

नारायण नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव, ततो जयमुदीरयेत् ॥२॥

—अनन्त ब्रह्माण्ड के नाथ श्रीमन्नारायण वीर नरों में उत्तम ऐसे श्रीकृष्ण भगवान् को, तथा सन्मार्ग-प्रेरक देवी सरस्वती को नमस्कार करके ग्रन्थ का प्रारम्भ करना ।

सर्वदा सर्व कार्येषु नास्ति तेषाममंगलम् ।
येषां हृदिस्थो भगवान्, मंगलायतनो हरिः ॥३॥

—सब मंगलों के भण्डार (और सदा मंगल-दाता) ऐसे भगवान् हरि जिस किसी मनुष्य के हृदय में दर्शन स्मरण कथा कीर्तनादि द्वारा विराजमान होते हैं, उसका सर्वदा और सर्व कार्यों में अमंगल तो होता ही नहीं, अर्थात् मंगल ही होता है।

व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे।
नमो वै ब्रह्म निधये वासिष्ठाय नमोनमः॥४॥

व्यासस्वरूप भगवान् विष्णु को नमस्कार करता हूँ और विष्णुस्वरूप महर्षि व्यास को, जो कि-वसिष्ठ कुल में उत्पन्न हुए थे और जिन्होंने वेद के विभाग किये थे उनको बारंबार नमस्कार करता हूँ।

अचतुर्वदनो ब्रह्मा, द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शंभुर्भगवान् बादरायणः॥५॥

—ये भगवान् बादरायण (व्यासमुनि) चार मुखवाले नहीं तो भी साक्षात्-ब्रह्मा हैं दो हाथवाले होते हुए भी साक्षात्-श्री हरि हैं, और कपाल पर तीसरा नेत्र नहीं, तो भी साक्षात् शंकर हैं।

ॐ तत्सत्



* ॐ *

मङ्गल-द्वादशी ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

* ॐकार रूपा चिति है सदा ॐ *
* न मूं उसे है सबका निदा न *
* मो दाग्नि में प्राण अपान हो मो *
* भ क्ति प्रिया के प्रिय हो चिदा भ *
* ग ति प्रभावा वह है चिरा ग *
* व शी वनो, शुद्ध करो स्वभा व *
* ते जो मयी में कुछ भी न हो ते *
* वा र्ता, भवार्ता, मय वासना वा *
* सु धागचिति, प्राण परा चिग सु *
* दे ती सभी वा कुछ भी नहीं दे *
* वा णी परा ॐ चिति भावना वा *
* य श्रेष्ठ देवो सबको सदा य *

—— o ——

ॐ शान्ति. ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

ॐ

विज्ञप्ति।

योगी याज्ञवल्क्य राजा जनक के प्रति कहते हैं:—"हे जनक! जिस प्रकार मध्याह्न काल की तपी हुई रेती में पड़े घी को पीछा उठालेने के लिये कोई बुद्धिमान् पुरुष समर्थ नहीं होता उसी प्रकार मनुष्य शरीर नाश होजाने पर फिर उसकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। मनुष्य शरीर के सिवाय अन्य सब ऊँच नीच शरीरों की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। मनुष्य-शरीर में भी भरतखण्ड में मनुष्य शरीरों की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। जिन स्त्री पुत्रादिकों के लिये अधिकारी मनुष्य शरीर को वृथा नष्ट करता है उन स्त्री पुत्रादिकों की प्राप्ति भी कुछ दुर्लभ नहीं है, उनकी प्राप्ति तो स्वर्ग नरक तथा चौरासी लक्ष योनियों में जहाँ तहाँ शरीर समान सब बिना-प्रयत्न भाग्यानुसार हो जाती है"।

"यह अधिकारी शरीर एक बार प्राप्त होकर फिर प्राप्त होना महान् कठिन है। इस भरतखण्ड में जो जीव मनुष्य शरीर पाकर पुण्य कर्म करता है वह स्वर्गादि उत्तम लोक को प्राप्त होता है, जो पाप कर्म करता है वह नरक को प्राप्त होता है, और जो दोनों ओर से रहित हुआ ब्रह्म विद्या प्राप्त कर आत्म साक्षात्कार कर लेता है वह सदा के लिये मुक्त होजाता है।

इसलिये मनुष्य का सर्वोत्तम कर्तव्य है कि-वह मनुष्य जन्म पाकर आत्म-साक्षात्कार करके जीवन सफल करे"।

—(बृहदारण्यक उपनिषद्)

* * * *

जो अधिकारी पुरुष मनुष्य-शरीर को पाकर आत्म-साक्षात्कार नहीं कर पाता उसकी महान् हानि होती है। श्रुति मे कहा है किः-'न चेद वेदीर्महती विनष्टिर्यैतद्विदु-रमृतास्ते भवन्ति" अर्थात्-जो अधिकारी पुरुष-शरीर को पाकर आनन्द स्वरूप आत्मा को नहीं पहचानता वह अज्ञानी पुरुष जन्ममरणादिक अनेक दुःख पाता है, तथा जो आनन्द स्वरूप आत्मा को जानता है वह मोक्ष रूप अमृत को पाता है। यह मोक्ष आत्मज्ञान बिना नहीं होता, श्रुति में कहा है किः-"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः", "नान्यः पथा विद्यतेऽयनाय", अर्थात् आत्मज्ञान बिना कभी मुक्ति नहीं होती, इसके सिवाय मुक्ति के लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। एक आत्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का परम मार्ग है।

* * * *

आत्मज्ञान श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-गुरु के उपदेश से होता है। श्रुति में कहा है किः—"आचार्यवान् पुरुषो वेद" श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ पुरुष आत्मा को जानते हैं, इस कारण से मुमुक्षु को ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से ब्रह्मविद्या श्रवण कर, आत्मज्ञान अवश्य संपादन करना चाहिये।

* * * *

ॐ

विज्ञप्ति।

योगी याज्ञवल्क्य राजा जनक के प्रति कहते हैं-"हे जनक! जिस प्रकार मध्याह्न काल की तपी हुई रेती में पड़े घी को पीछा उठालेने के लिये कोई बुद्धिमान् पुरुष समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्य शरीर नाश होजाने पर फिर उसकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। मनुष्य शरीर के सिवाय अन्य सर्व ऊँच नीच शरीरों की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। मनुष्य-शरीर में भी भरतखण्ड में मनुष्य शरीरों की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। जिन स्त्री पुत्रादिकों के लिये अधिकारी मनुष्य शरीर का वृथा नाश करता है उन स्त्री पुत्रादिकों की प्राप्ति भी कुछ दुर्लभ नहीं है, उनकी प्राप्ति तो स्वर्ग नरक तथा चौरासी लक्ष योनियों में जहाँ तहाँ शरीर समान सब बिना-प्रयत्न भाग्यानुसार हो जाती है"।

'यह अधिकारी शरीर एक बार प्राप्त होकर फिर प्राप्त होना महान् कठिन है। इस भरतखण्ड में जो जीव मनुष्य शरीर पाकर पुण्य कर्म करता है वह स्वर्गादि उत्तम लोक को प्राप्त होता है जो पाप कर्म करता है वह नरक को प्राप्त होता है, और जो दोनों ओर से बच कर ब्रह्म-विद्या प्राप्त कर आत्म साक्षात्कार कर लेता है, वह सदा के लिये मुक्त होजाता है।

होते हैं, सब नहीं। इसलिये, ज्ञानी के साथ "तत्त्वदर्शी" यह विशेषण लगाया है।

इससे भगवान् का यह अभिप्राय है कि-"जो यथार्थ तत्त्व को जानने वाले होते हैं, उनके द्वारा उपदेश किया हुआ ही ज्ञान अपने कार्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है, दूसरा नहीं" (   ) गीता।

दोहा—जो अद्वैत अपार सुख, जामें दुःख न लेश।
दृढ़ अनुभव से पाइये, सद्गुरु के उपदेश॥

*　　*　　*　　*

दोहा—सद्गुरु शरणहिं जायके, विधिवत् मस्तक नाय।
पूछे साधन मोक्ष को, मन एकाग्र लगाय॥

*　　*　　*　　*

श्लोक—को नाम बन्धः कथमेष आगतः,
कथं प्रतिष्ठास्य कथं विमोक्षः।
कोऽसावनात्मा परमः स्वआत्मा,
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम्॥

अर्थात्—बन्ध क्या है? यह कैसे हुआ? इसकी स्थिति कैसे है? अब इससे मोक्ष कैसे मिल सकता है? अनात्मा कौन है? अपना-वास्तविक आत्मा कौन है? और उनका विवेक (पार्थक्य-ज्ञान) कैसे होता है? कृपया सब कहिये।

"तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं । शान्तो दांतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्"। अर्थात्—उस ब्रह्म को जानने के लिये वह अधिकारी समित्पाणी (शिष्य भाव से) हुआ शान्त, दान्त तितिक्षु, श्रद्धावान्, समाधान युक्त होकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाय और महाकाश विषे घटाकाश की नाई ब्रह्मरूप आत्मा विषे ही कूटस्थ रूप आत्मा को एक रूप देखे। —(श्रुतिः)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

—वह (ब्रह्मज्ञान) जिस विधि से प्राप्त होता है, (वह) तू ध्यान-सुन। (नम्रता पूर्वक)—आचार्य के समीप जाकर भली भांति दण्डवत् प्रणाम करने एवं (किस तरह बन्धन हुआ ? कैसे मुक्ति होगी ? विद्या क्या है ? अविद्या क्या है ? इस प्रकार निष्कपट भाव से) प्रश्न करने से और गुरु की यथा योग्य सेवा करने से (ज्ञान प्राप्त होता है)।

अभिप्राय यह है कि—इस प्रकार सेवा और विनय आदि से प्रसन्न हुए—तत्त्वदर्शी, ज्ञानी आचार्य तुझे उपर्युक्त विशेषणों वाले ज्ञान का उपदेश करेंगे।

ज्ञानवान् भी कोई कोई ही यथार्थ "तत्त्व" को जानने वाले

होते हैं, सब नहीं। इसलिये, ज्ञानी के साथ "तत्त्वदर्शी" यह विशेषण लगाया है।

इससे भगवान् का यह अभिप्राय है कि-"जो यथार्थ तत्त्व को जानने वाले होते हैं, उनके द्वारा उपदेश किया हुआ ही ज्ञान अपने कार्य को सिद्ध करने मे समर्थ होता है, दूसरा नहीं" (   ) गीता।

दोहा—जो अद्वैत अपार सुख, जामें दुःख न लेश।
दृढ़ अनुभव से पाइये, सद्गुरु के उपदेश॥

* * * *

दोहा—सद्गुरु शरणहिं जायके, विधिवत् मस्तक नाय।
पूछे साधन मोक्ष को, मन एकाग्र लगाय॥

* * * *

श्लोक—को नाम बन्धः कथमेष आगतः,
कथं प्रतिष्ठास्य कथं विमोक्षः।
कोऽसावनात्मा परमः स्वआत्मा,
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम्॥

अर्थात्:—बन्ध क्या है? यह कैसे हुआ? इसकी स्थिति कैसे है? अब इससे मोक्ष कैसे मिल सकता है? अनात्मा कौन है? अपना-वास्तविक आत्मा कौन है? और उनका विवेक (पार्थक्य-ज्ञान) कैसे होता है? कृपया सब कहिये।

"तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं। शान्तो दान्तस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितः समाहितो भूत्वा ऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्'। अर्थात्—उस ब्रह्म को जानने के लिये वह अधिकारी समित्पाणी (शिष्य भाव से) हुआ शान्त, दान्त तितिक्षु, श्रद्धावान्, समाधान युक्त होकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाय और महाकाश विषे घटाकाश की नाईं ब्रह्मरूप आत्मा विषे ही कूटस्थ रूप आत्मा को एक रूप करे। —(श्रुति)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

—वह (ब्रह्मज्ञान) जिस विधि से प्राप्त होता है, (वह) तू जान-सुन। (नम्रता पूर्वक)—आचार्य के समीप जाकर भली भाँति दण्डवत् प्रणाम करने एवं (किस तरह बन्धन हुआ? कैसे मुक्ति होगी? विद्या क्या है? अविद्या क्या है? इस प्रकार निष्कपट भाव से) प्रश्न करने से और गुरु की यथा योग्य सेवा करने से (ज्ञान प्राप्त होता है)।

अभिप्राय यह है कि—इस प्रकार सेवा और विनय आदि से प्रसन्न हुए—तत्त्वदर्शी, ज्ञानी आचार्य तुझे उपर्युक्त विशेषणों वाले ज्ञान का उपदेश करेंगे।

ज्ञानपथ में कोई कोई ही यथार्थ "तत्त्व" का जानने वाले

से थोडे शब्दों मे महान् अर्थ भरा होता है, तथा एक ही शब्द जीवात्मा की ओर से प्रार्थना रूप मे और परमात्मा की ओर से आश्वासनप्रद तथा बोधगम्य–मार्गप्रदर्शक होता है जैसा कि ईशोपनिषदादि मे कई जगह आया है।

अतएव ये तीनों आरतियां "सूक्त" रूप हैं। शिष्य गुरु से "मल" "विक्षेप" तथा "आवरण" को दूर करने की प्रार्थना करता है, और गुरु शिष्य को अश्वासन के साथ २ श्रवण–मनन–निदिध्यासन का मार्ग बतलाते हैं। साथ ही यह भी बतलाते है कि–"ब्रह्म विद्या का अधिकारी शिष्य और गुरु कैसे होने चाहिये, श्रुति स्मृति में क्या लक्षण लिखे हैं, साथ ही ब्रह्मश्रोत्रिय तथा–ब्रह्मनिष्ठ के उदाहरण भी दे दिये हैं कि–श्रेय पथगामी कौन २ कैसे हुए हैं।

ब्रह्म विद्या कैसे प्राप्त की जाती है ? गुरु, ईश्वर, वेद तथा शिष्य का देह रूप से तथा–आत्मरूप से क्या स्वरूप है ? यह भी बतलाया है।

"उपासना" ब्रह्म प्राप्ति मे साहाय्यकारी है, तथा उपासनाओं में भी प्रणव की "अहग्रह" उपासना ही सुलभ-सुख-शान्ति कर है। इस अन्तर्गुह्य को आरतियों में प्रणव की प्रचुरता करके आवश्यकता स्पष्ट की है।

* ❀ * *

आरतियों की प्रत्येक पंक्ति वेद उपनिषदादि के गूढतम

प्रस्तुत पुस्तक में प्रथम आरती इन्हीं भावों के सम्बन्ध में है। कोई एक मुमुक्षु जब सांसारिक माया जाल से अति घबरा जाता है और शान्ति का कोई मार्ग नहीं पाता, तब सद्गुरु के शरणापन्न हो सुख प्राप्ति का कोई मार्ग पूछता है। उसके उत्तर में गुरु देव जगत् को माया जाल, दृश्य प्रपंच को भ्रम का कारण बतला 'तत्त्वमसि' महा वाक्य का उपदेश देकर आज्ञा करते हैं कि– इस उपदेश को श्रवण करके अब मनन निदिध्यासन द्वारा पक्का कर लो काल पाकर तुम्हें दृढ़ अनुभव होगा और सुख शान्ति प्राप्त होगी"।

* * * *

दूसरी आरती सद्गुरु देव की सगुण-निर्गुण रूप में स्तुत्यात्मक है।

* * * *

तीसरी आरती में विमल-निर्मलस्वरूप गुरुदेव से 'मल' दूर करने के लिये प्रार्थना है। इसी प्रकार चौथी आरती में अचल स्वरूप गुरुदेव से चित्त की चंचलता रूप 'विक्षेप' का दूर करने की और आरती नं० ५ में केवल ज्ञानस्वरूप गुरुदेव से 'आवरण' (अज्ञान) दूर करके निज चरण-कमलों में स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है।

* * * *

यह तीनों आरतियां साधारण आरतियां नहीं हैं, वरन् मन्त्रादि ग्रन्थों के 'सूत्र सूत्रादि" की तरह हैं कि जिनमें थोड़े

से थोड़े शब्दों मे महान् अर्थ भरा होता है, तथा एक ही शब्द जीवात्मा की ओर से प्रार्थना रूप में और परमात्मा की ओर से आश्वासनप्रद तथा बोधगम्य-मार्गप्रदर्शक होता है जैसा कि ईशोपनिषदादि मे कई जगह आया है।

अतएव ये तीनों आरतियां "सूक्त" रूप है। शिष्य गुरु से "मल" "विक्षेप" तथा "आवरण" को दूर करने की प्रार्थना करता है, और गुरु शिष्य को अश्वासन के साथ २ श्रवण-मनन-निदिध्यासन का मार्ग बतलाते है। साथ ही यह भी बतलाते है कि-"ब्रह्म विद्या का अधिकारी शिष्य और गुरु कैसे होने चाहिये, श्रुति स्मृति मे क्या लक्षण लिखे हैं, साथ ही ब्रह्मश्रोत्रिय तथा-ब्रह्मनिष्ठ के उदाहरण भी दे दिये हैं कि-श्रेय पथगामी कौन २ कैसे हुए है।

ब्रह्म विद्या कैसे प्राप्त की जाती है ? गुरु, ईश्वर, वेद तथा शिष्य का देह रूप से तथा-आत्मरूप से क्या स्वरूप है ? यह भी बतलाया है।

"उपासना" ब्रह्म प्राप्ति में साहाय्यकारी है, तथा उपासनाओं में भी प्रणव की "अहग्रह" उपासना ही सुलभ-सुख-शान्ति कर है। इस अन्तर्गुह्य को आरतियों में प्रणव की प्रचुरता करके आवश्यकता स्पष्ट की है।

* * * *

आरतियों की प्रत्येक पक्ति वेद उपनिषदादि के गूढतम

भावार्थों को लिये हुए कितनी सुगम भाषा में श्री महाप्रभु जी की अमृतमयी अनुभव गम्य-वाणी द्वारा प्रस्तुत हुई है इसका अनुभव विचारशील एवं जिज्ञासु भक्तों को हुए बिना न रहेगा।

* * * *

पंक्तियों नीचे वेद उपनिषद्, गीता, आत्मपुराण श्रीमद् भागवत श्रीबृहद्ज्ञान गुरुसागर, नित्यानन्द विलास तत्त्वबोध, श्रीमद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य के प्रस्थान त्रयी विवेक चूड़ा मणि आदि २ ग्रंथ श्लोक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपमें अवतरण उद्धृत किये गये हैं। इसी प्रकार वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ पंचदशी, विचार सागर बालबोधनी तथा अन्यान्य ग्रन्थरत्नों से भी सहायता ली गई है और प्रमाण दिये गये हैं। अतः सर्व महात्माओं को सादर साधुवाद।

* * * *

आरती नम्बर ६ सप्तश्लोक गुरु गीता है। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता सात सौ श्लोकों की है, पर उसमें से ७ श्लोक निकाल कर सप्तश्लोकी-गीता प्रचार में आई है जिस का कि-लाखों पुरुष नित्य पाठ करते हैं उसी प्रकार गुरु-गीता में से उद्धृत यह "सप्तश्लोकी-गीता" भी महान् माहात्म्यपूर्ण है। इसकी प्रशंसा स्वयं विश्ववन्द्य भोलानाथ शंकर भगवान ने जगन्माता पार्वती जी के प्रति वर्णन की है।

* * * *

सातवां–"स्तोत्र अष्टक" है। ज्ञानोत्तर दशा में स्वरूपानुभव का (जीवन मुक्ति के आनन्द की लहर का दृश्य) वर्णन इस स्तोत्र मे है। जिस प्रकार गुरुदत्त भगवान् की अवधूत गीता है तथा-श्री शङ्कराचार्य जी के "निर्वाणषट्क" "पंचदशी" आदि २ है, वैसे ही यह अष्टक भी पूज्यपाद श्रीगुप्तानन्द जी महाराज की जीवन्मुक्त दशा की आनन्द लहरें है। विशेष वृत्त स्तोत्र के साथ दिया है।

* * * *

आठवीं–"सन्ध्या आरती" है। उसके प्रारम्भ मे ही लिखा है कि–"जितनी सन्ध्या आरतियें है उन सबका सार लिखते हैं, जो कोई इसके अर्थ को धारण करेगा वह अत्मासाक्षात्कार पाकर जीवन्मुक्त होजावेगा"। यह आरती प्रक्रियात्मक है।

* * * *

नम्बर ९ में 'केशवाष्टक' है, जोकि के = ब्रह्मा + ईश = रुद्र + व = वासुदेव त्रिगुणरूपधारी परमात्मा, अथवा–विद्यागुरु केशवावधूत अथवा–क = केवल + ईश = कल्याणस्वरूप + व = "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" ऐसे केवल कल्याण-स्वरूप गुरुदेव की स्तुति है।

× × × ×

अन्त मे गृहस्थियों के लिये साधारण धार्मिक सूचनाए है।

× × × ×

साधारण कवि की कृतियों के भावों का समझना और उनका अर्थ लगाना जब बड़ा कठिन है तो फिर महान् विरक्त पहुँचे हुए महात्माओं की अनुभवगम्यवाणी का समझना कितना दुरूह होसकता है यह स्पष्ट ही है। तुलसीकृत रामायणकी एक चौपाई के किसी भक्त ने एक लाख अर्थ किये हैं, गीता के अभी तक दो हजार के ऊपर अनुवाद हो चुके हैं। ऐसे ही अनेक महात्माओं की वाणियों पर अनेक टीका टिप्पणी, भावार्थ और भाष्य हुए हैं और होते रहेंगे। इसका यह कारण है कि—यथार्थ अर्थ तो जबतक उन महात्माओं के मुखारविन्द से न निकले तब तक विदित नहीं होता, पर ऐसा होना—ऐसा अवसर प्राप्त होना—है महा दुर्लभ। क्योंकि—जो महात्मा निरीह, निरिच्छ, स्वच्छन्द निर्द्वन्द्व हैं जिनकी मर्जी पर सौदा होता है, कभी मर्जी में आवे तो दो शब्द कहदें वर्ना हरिहर।

ऐसी दशा में उन हजारों भावुक-भक्त-मुमुक्षुओं को जो नित्यप्रति इस 'नित्य पाठ' का पाठ करते हैं, और प्रेम से उत्कट-इच्छा से, चाहते हैं कि—इसके अर्थ (रहस्य) को समझें, उन्हें कुछ इंगित-(संकेत) प्राप्त हो—इस हेतु से स्वामी अमरदासजी के शब्दों में प्रार्थना है कि—

दो :—सम्पा मान चाहत कृपा यह विनय मनमांहि।
विचारमाला (भावार्थदीप) तापर रची, अब तक पर नाहिं ॥१॥

× × × ×

आरती नं० १, स्तोत्र नं० ७, तथा-आरती नं० ८ प० पू० अवधूत स्वामी श्री गुप्तानन्दजी महाराज कृत हैं।

आरती नं० २ एक विद्वान् गुरुभक्त द्वारा रचित, तथा-आरती न० ३ । ४ । ५ तथा ९ श्री अवधूत महाप्रभु श्री १०८ नित्यानन्द जी महाराज की कृपा प्रसादी है।

× × × ×

अन्त में यही प्रार्थना है, जैसी कि-श्रीजगद्गुरु ने आज्ञा की है :—

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढ़तरं संस्थाप्य, वाह्येन्द्रियं-
स्वस्थाने विनिवेश्य, निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम् ॥
ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य, तन्मयतया चाखण्डवृत्त्यानिशं।
ब्रह्मानन्दरस पिबात्मनि मुदा, शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः ॥

भावार्थः—अपने लक्ष्य-ब्रह्म-में चित्त को दृढ़तापूर्वक स्थिर करके, वाह्य इन्द्रियों को (उनके विषयों से रोककर) अपन अपने गोलकों में स्थिर करो, शरीर को निश्चल रक्खो, और उसकी स्थिति की ओर ध्यान मत दो। इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा की एकता करके, तन्मयभाव से और अखण्ड-वृत्ति से अहर्निश मन ही मन आनन्दपूर्वक ब्रह्मानन्द रस का पान करो। अन्य थोथी वातों से क्या लेना है ?

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा
कश्मलं दुःखकारणम् ॥

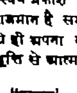
चिन्तयाऽऽत्मानमानन्द—
रूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥

अर्थात्—दुःख के कारण घोर-मोह रूप, अनात्मचिन्तन को छोड़कर, आनन्द स्वरूप आत्मा का चिन्तन करो, जो कि मुक्ति का साक्षात् कारण है।

एषः स्वयं ज्योतिरशेषसाक्षी
विज्ञानकोशे विलसत्यजस्रम् ।
लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षण—
मखण्डवृत्त्याऽऽत्मतयानुभावय ॥

भावार्थः—यह जो स्वयं प्रकाश सबका साक्षी, निरन्तर विज्ञानमय कोश में विराजमान है समस्त अनित्य पदार्थों से पृथक इस परमात्मा को ही अपना लक्ष्य बनाकर इसी का तैल धारावत् अखण्ड वृत्ति से आत्म-भाव से चिन्तन करो।

"तत्सत्"



* ॐ *

द्वितीयावृत्ति पर दो शब्द ।

— o —

सर्व सच्चिदानंद पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम श्री सद्‌गुरु देव की असीम कृपा से 'नित्य-पाठ-दीपिका' की यह द्वितीयावृत्ति प्रकाशित होरही है ।

प्रथमावृत्ति को भावुक भक्तों ने बड़े प्रेम से पढ़ा-पढाया और एक दूसरे के पास देखकर अन्य देश-निवासित भाइयों ने इसे मगा २ पढ़ा और कितने ही पूज्यपाद श्रद्धेय गण्यमान्य विद्वान् भक्त सुहृद सज्जनों ने सहानुभूति सूचक पत्रादि भी भेजे जिसके लिये उन सब महानुभावों को धन्यवाद है ।

इस बार और भी अनेकानेक सन्त महात्माओं के ग्रन्थ-रत्नों में से धन्यवाद पूर्वक अवतरण यत्र तत्र दिये गये हैं आशा है कि जिज्ञासु भाईयों को उपयोगी विदित होंगे । अव-तरणों के नीचे ग्रन्थों के नाम तो दिये हैं पर कितनेक रह भी गये हैं तदर्थ क्षमा प्रार्थना है ।

तो भी सत्‌शास्त्रों का पठन-पाठन बहुत उपयोगी समझा गया है और इसीलिये शास्त्रों में कहा गया है कि:—

सच्छास्त्राब्धमृतं मित्र, पीत्वा पीत्वा पुनः पुन. ।
दीर्घ संसार रोगस्य, हानिं कृत्वा सुखी भव ॥१॥

परन्तु इसके साथ ही यह भी कहा है कि:—

पाठ मात्रेण ग्रंथस्य, नैव लाभ प्रजायते।
यतते किन्तु तद्बुद्धि, सम्यग्लाभाय कल्पते॥

अर्थात्:—शास्त्र में कहे अनुसार यत्न करने से ही सम्यग्लाभ की प्राप्ति हो सकती है।

आशा है कि इस पुस्तक को भी जिज्ञासुगण अपने गुरुजनों से पढ़-समझ कर नीर क्षीर विवेक द्वारा सार मात्र ग्रहण कर भूल चूक को क्षमा प्रदान कर अपनी उत्तम शुभ सम्मति द्वारा अनुगृहीत करेंगे ताकि नवीन आवृत्ति के समय उससे लाभ लिया जा सके।

बरेली
रामनवमी ९६
१९-४-३७

विनीत
प्रकाशक।

* ॐ *

सद्गुरुदेव स्तुति ।

* ॐ *

सत्यं मान विवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगतकारणम्,
व्याप्तं स्थावरजङ्गममुनिवरै ध्यात निरुद्धेन्द्रियै ।
अर्काग्नीन्दुमयंशताक्षर वपु स्तारात्मक सन्ततं ।
नित्यानद गुणालय गुणपर वन्दामहे तन्महः ॥

टीका:—अरूपस्य ब्रह्मणो भावनरूप ध्यान मेतत् । सताम, असत्यव्या वृतिरूपम्; 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः । मान विवर्जितम्, प्रमाणा गोचरी कृतम्, 'यतोवाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः । श्रुति गिरा माद्यम्, वेद प्रवक्तृ, 'शास्त्र योनित्वात्' इतिबादरायण सूत्रणात, जगत्कारणम; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणात् । व्याप्त-स्थावर जङ्गमम. 'सहस्रशीर्षा' इति श्रुतेः । मुनिवरैर्वारदादिभिः । अर्काग्नीन्दु मय मिति गायत्र्यादि देवता क्रमेण । यद्वा अर्को विष्णुः अग्नी रुद्र इन्दुर्ब्रह्मा तन्मयम् । तत उत्पन्नत्वात् । यद्वा ओङ्कार रूपत्वं वक्ष्यति । एतेनाकारोकारम् कारकात्मक त्वेनाग्नीन्द्वर्क रूपत्व । शताक्षर वपु रिति शताक्षरैः परनहः प्रतिपाद्यते । प्रतिपाद्य प्रतिपादक योर भेदात् शास्त्र योनित्वेन कार्य कारण भेदाद्वा शब्द ब्रह्मरूपत्याद्व तथोमिः, यद्वा यतः अर्काग्नीन्दु रूपत्वम् अतएव शताक्षर वपुरिति हेतु हेतु मद्भावेन योजना । नित्यानन्द चित्व तत्स्वरूप मेव ।

तथाज्ञानात्मकश्च भगवत् उपचारात्। गुणत्रयात्मकस्य रजस्तमोभ्यः परं तत्प्राहितम्। तत्रैव शिरसि प्रसिद्धम्। महःनिज प्रकाशक त्वात् मह इव। एते च सर्वेशब्दा स्तस्य वस्तुनो वाचका एव न वाचकाः। एतेषां शब्दानामेक स्वार्थे त्वम्

अपर्यायत्वेऽपि प्रवृत्त्या वृत्त्यर्थे तथा न पौनरुक्त्यम्।

—दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है:—

महस्तेजो रूपा कुण्डलिनी उच्यते। सत्यं नित्यत्वात्तस्याः। 'नित्या शक्तिः परा देवी' इत्युक्तेः। ज्ञानं चिन्मया तद्वर्णिता 'सूक्ष्मात् सूक्ष्म तरा विभुः' इत्युक्तेः। व्याप्त व्यापक अक्षमा 'सर्वगा विश्वरूपिणी त्रिकालाद्यनवच्छिन्ना' इत्युक्तेः। निरस्तेन्द्रिये मुनिवरै ध्याता, 'योगिध्येया च सर्वदा' इत्युक्तेः। 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्य मञ्जसा' इत्यादि। अर्कोग्नीन्दुरूपा, 'त्रिधाम जननी देवी' इत्युक्तेः। 'सोमे सूर्यो निरूपाच' इत्युक्तेश्च।

शताक्षरवपुः, 'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूयते मन्त्र मयं जगत्' इत्युक्ते। तारात्मकम्, 'तमम्बे चिन्मये देवी बुध्वा कारोवत्रि ममाम्' ओङ्कार रूपिणीं ज्योत्स्ना मात्मरूपां सुमोदयाम्॥ (इत्युक्तेः)

नित्यानन्द गुणरूपा, 'नित्यानन्द गुणोदया' इत्युक्तेश्च। गुण परा, गुण त्रया परा च 'शक्ति कुण्डलिनी गुण त्रय वपु विद्युल्लता सन्निभा' इत्युक्तेः। 'परापर विभागेन परशक्ति रियं मता' इत्युक्तेश्च।

—शताक्षर मन्त्र—त्रिष्टुप गायत्री और अनुष्टुप तीनों के संयोग से बनता है। —नारायण-हृदय।

* ॐ *

प्रार्थना ।

मनो मयेन कोषेणाऽविद्यायः परमाद्भुतम ।
विज्ञान मय कोषेण विद्यायाश्च निकेतनम् ।
सृष्टावाऽऽनन्द मये कोषे नित्यानन्दो विराज से ।
सृष्टि शोभादि नैपुण्य कुल गेह ! नमोऽस्तुते ॥

—मनो-मय कोष से परम अद्भुत अविद्या के निकेतन को बनाकर और विज्ञान मय कोष से विद्या के निकेतन को बनाकर आनन्द-मय कोष में आप नित्यानन्द रूप से विराजमान रहते हैं। हे महा प्रभो ! आप सृष्टि की शोभादि के नैपुण्य में मुख्याधिष्ठाता है, आप को प्रणाम है।

शुद्ध चैतन्य रूपात्मा, सर्व सङ्ग विवर्जितः ।
नित्यानंदः प्रसन्नात्मा जीवन्मुक्त नमाम्यहम् ॥

—हे गुरु देव ! आप शुद्ध चैतन्य स्वरूप, सर्व संगों से रहित नित्य–आनन्द के दाता प्रसन्न आत्मा, जीवन्मुक्त है आप को मेरा प्रणाम है ।

हे प्रभो ! हे जनार्दन आप तो भावग्राही हैं पण्डित हो या मूर्ख आप की प्रसन्नता की तारतम्यता तो 'भाव' पर ही रहा करती है–भाव के वेर और केले के–छिलके, दुर्योधन के मेवे से कहीं ज्यादा अच्छे माने गये है और इसी लिये

तथाख्यत्यत्र भगवत् उपचारात् । गुरुरम्यत्यत्व रजस्तमोभ्यः परं तत्प्रतिष्ठम् । तथैव शिरसि प्रसिद्धम् । महःनित्यं प्रकाशक त्वाम् मह इव । एते च सर्वेशब्दा स्तस्य वस्तुनो वाचका एवम वाचकाः । एतेषां शब्दानामेक त्वाच त्वम्

अपर्यायत्वेऽपि मतद्भुम्या वृत्यर्थे तथा न पौनरुक्त्यम् ।

—दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है:—

महस्तेजो रूपा कुण्डलिनी उच्यते । सत्यं नित्य स्वात्तस्याः । 'नित्या शक्तिः परा देवी' इत्युक्तेः । मान नियता तद्वर्जिता, 'सूक्ष्मात् सूक्ष्म तरा विभुः' इत्युक्तेः । व्याप्त स्थावर जङ्गमा 'सर्वगा विश्वरूपिणी चिकासाधनबिंकमा' इत्युक्तेः । निरुद्धेन्द्रिये मुनिवरैः ध्याता, 'योगीभ्येयाच सर्वदा' इत्युक्तेः । 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्य मञ्जसा' इत्यादि । अर्काग्नीन्दुरूपा, 'त्रिधाम जननी देवी' इत्युक्तेः । 'सोमे सूर्याग्निरूपाच' इत्युक्तेश्च ।

शताक्षरवपुः, 'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूयते मन्त्र मयं जगत्' इत्युक्ते । तारात्मकम्, 'तमम्बे चिन्तये देवी सुरवा कारांतरि त्ममाम्' ओङ्कार रूपिणीं ज्योत्स्ना मात्सरूपां शुभोदयाम् ॥ (इत्युक्तेः)

नित्यानन्द गुणारूपा, 'नित्यानन्द गुणोदया' इत्युक्तेः। गुण परा, गुण त्रया पराच 'शक्ति कुण्डलिनी गुण त्रय वपु विद्युल्लता सन्निभा' इत्युक्तेः । 'परापर विभागेन परशक्ति रियं मता' इत्युक्तेश्च ।

—शताक्षर मन्त्र-त्रिपद, गायत्री और अनुष्टुप तीनों के संयोग से बनता है । —नारायण-हृदय ।

॥ ॐ ॥

* नित्यपाठ दीपिका *

॥ श्रीमद्गुरुदेव की आरती ॥

[जीव भाव]

ॐ[1] भज शिव[2] गुप्तानंदे, ॐहर शिव गुप्तानंदे (नित्यानंदे)
जो कोई भजन करे मन लाके, कटि जाय यम फंदे । टेक

भावार्थः—हे (मन) तू सदा ओंकार रूप, कल्याण-दाता गुप्तानन्द गुरुदेव का स्मरण कर, (यह) गुप्तानन्द सद्-गुरुदेव, हरि-हर स्वरूप, परमब्रह्म, नित्य-आनन्द के देने वाले हैं, उनका जो कोई मन लगा कर भजन करता है, उसकी 'काल-पाश' कट जाती है ॥ टेक ॥

---

१ (अ) 'प्र.' प्रपञ्चो हि 'ना'स्ति 'वो' युष्माकं प्रणवं विदुः। 'प्र'कर्षेण 'न'येद्यस्मान्मोक्षं 'वः' प्रणवं विदुः ॥ अर्थात्ः— (प्र) प्रपञ्च (न) नहीं है (वः) तुम में, अर्थात्– "जिसको जपने से ससार नहीं रहता, उसका नाम 'प्रणव'–ॐ है" (विश्वेश्वर सहिता ८ । १६ । २२) ।

परम रूप परमेश छो, सेवक मां प्रतिपाल ।
जिज्ञासु जन तारवा धरियो देह दयाल ॥ ३ ॥

गुरु उपदेश बतावनी महिमा शु य भव लोक ।
चौद लोक सुख संपति, ते आगल सौ फोक ॥ ४ ॥

गुरु महिमा शु कही शकुं अल्प मति अज्ञान ।
जाणी मति अगाध छे जल मां कमल समान ॥ ५ ॥

सुबोध सूर्य प्रगट करी कटयो सकल अंधेर ।
बलिहारी गुरुदेव ने, कर्यो तरणनो मेर ॥ ६ ॥

सेवा समरण मन बने धरूं मांहि दृढ टेक ।
शील स्नान व्रत नव करूं समजुं नहिं सुविवेक ॥ ७ ॥

पुण्य धाम परमार्थ करवा नहिं गजु कोय ।
दया करीने तारशो, चरण कमलनी छांय ॥ ८ ॥

परब्रह्म समा परमात्मथी जाणीने स्वामीन् ।
दीन अपराधी रंक हुं, आव्यो तम आधीन ॥ ९ ॥

मम अवगुण नो पार नहिं पतितो गुरुजी दयाल ।
पोताना गणी राख जो पकडता माया जाल ॥ १० ॥

सुमति दइ सत्संग मां, हरि गुण गावा काज ।
मम एह विनय अवसरमां, मागुं श्री गुरु राज ॥ ११ ॥

——o——

अर्थः—देवता ॐ से उत्पन्न हुए हैं स्वर ॐकार से उत्पन्न हुए हैं तथा चराचर त्रैलोक्य ॐकार ही से उत्पन्न हुआ है।

तैलधारा मिवाच्छिन्न दीर्घ घण्टा निनादवत्।
अवाच्य प्रणवस्याग्र यस्तं वेद स वेदवित्॥

अर्थः—प्रणव का अग्र तैलधारा सरीखा अच्छिन्न है, और मोटा घटा के नाद सरीखा है तथा अवाच्य है, इसको जो जानता है वह वेदविद् कहाता है।

हृत्पद्म कर्णिका मध्ये स्थिरदीप निभाकृतिम्।
अंगुष्ठ मात्र मचल ध्यायेदोंकार मीश्वरम्॥

अर्थः—हृदय कमल की पंखडियों के मध्य मे स्थिर दीप की आकृति सरीखी आकृति वाले अंगुष्ठमात्र प्रमाण वाले और अचल ॐकार रूपी ईश्वर का ध्यान करना।

प्रणवाभ्यसंक्तोक्तकर्मण केण्णेनापिगुरोर्निषेवणात।
अप गच्छति मानस मलं लभते तत्व मुदीरित ततः॥

अर्थः—ॐकार का अभ्यास करने से और गुरू का सेवनकरने से मानसिक मल र होते हैं और इसी को तत्व ज्ञान कहा है।

पद्मासनं समारुह्य समकाय शिरोधरः।
नासाग्र दृष्टि रेकान्ते जपेदोंकार मव्ययम्॥

(ख) ॐ प्रणवः परमो मंत्र साक्षाद्ब्रह्म सनातनः ।
तस्मात्प्रादुर् मूलमात्रा बहु शाखा समन्विता ॥ १ ॥

अर्थः—ॐ यह परम मंत्र है और साक्षात् सनातन ब्रह्म है और इसी से तमाम मन्त्र प्रकट हुए हैं इसकी शाखायें अनन्त और असंख्य हैं ।

ॐ तस्मादोंकार जापी यः स मुक्तो न च संशयः ॥२॥

अर्थः—इसलिये जो ॐकार का जप करता है वही मुक्त है इसमें संशय नहीं ।

ग्रामकार पूर्वहि योगोपासना यानि नित्यानि पुण्य कर्माणि कर्माणि दान यज्ञ तपः स्वाध्याय जप ध्यान सन्ध्योपासन प्राणायाम होम दैव पैत्र्य मन्त्रोच्चार ब्रह्मारम्भादीनियच्चान्यत्किञ्चिच्छ्रेयस्तत्सर्वं प्रणवमुच्चार्य प्रवर्तयेत्समापयेच्च ।

अर्थः—योगोपासना ॐकार पूर्वक होती है जो नित्य-कर्म और पुण्यकर्म हैं जैसे कि यज्ञ दान तप स्वाध्याय, जप, ध्यान सन्ध्योपासन प्राणायाम होम देवकार्य पितृकार्य मन्त्रोच्चारण और वेदारम्भ आदि तथा अन्य कोई भी श्रेय स्कर्म यह सब ओमकार पूर्वक प्रवर्त करना और समाप्ति के समय भी ॐकार का उच्चारण करना ।

ओंकार प्रभवा देवा ओंकार प्रभवास्वराः ।
ओंकार प्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

अर्थः—देवता ॐ से उत्पन्न हुए हैं स्वर ॐकार से उत्पन्न हुए हैं तथा चराचर त्रैलोक्य ॐकार ही से उत्पन्न हुआ है।

तैलधारा मिवाच्छिन्नं दीर्घ घण्टा निनादवत्।
अवाच्य प्रणवस्याग्रं यस्त वेद स वेदवित्॥

अर्थः—प्रणव का अग्र तैलधारा सरीखा अच्छिन्न है, और मोटा घटा के नाद सरीखा है तथा अवाच्य है, इसको जो जानता है वह वेदविद् कहाता है।

हृत्पद्म कर्णिका मध्ये स्थिरदीप निभाकृतिम्।
अंगुष्ठ मात्र मचल ध्यायेदोंकार मीश्वरम्॥

अर्थः—हृदय कमल की पंखड़ियों के मध्य मे स्थिर दीप की आकृति सरीखी आकृति वाले अगुष्ठमात्र प्रमाण वाले और अचल ॐकार रूपी ईश्वर का ध्यान करना।

प्रणवाभ्यसक्तोक्तकर्मण करणेनापिगुरोर्निषेवणात।
अप गच्छति मानस मलं लभते तत्त्व मुदीरित ततः॥

अर्थः—ॐकार का अभ्यास करने से और गुरू का सेवनकरने से मानसिक मल र होते हैं और इसी को तत्व ज्ञान कहा है।

पद्मासनं समारुह्य समकाय शिरोधरः।
नासाग्र दृष्टि रेकान्ते जपेदोंकार मव्ययम्॥

अर्थः—पद्मासन ऊपर बैठ कर देह तथा गर्दन को सीधी रख कर नासाग्र दृष्टि रख अव्यय ऐसे ॐकार का जप करना।

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः॥

अर्थः—तमाम प्राणियों के शरीर में अधोमुख ॐकार रहा हुआ है और वह सब अवस्थाओं में मनुष्यका प्रिय करने वाला है।

प्रणवात् प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात् प्रभवो हरिः।
प्रणवात् प्रभवो रुद्रः प्रणवोहि परो भवेत्॥

अर्थः—प्रणव से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं प्रणव से विष्णु उत्पन्न हुए हैं प्रणव ही से रुद्र उत्पन्न हुए हैं इसलिये प्रणव ही परब्रह्म है।

वाचसा तज्जपे नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तज्जपे नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति॥

अर्थः—वाणी से इस प्रणव का जप करना शरीर से अभ्यास करना और मन से उसका जप करना प्रणव ही तेजोमय है।

शुचिर्वाप्य शुचिर्वापि योजपेत्प्रणवं सदा।
नस लिप्यति पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा॥

अर्थः—मनुष्य पवित्र दशा में अथवा अपवित्र दशा में निरंतर प्रणव का जप करे तो जिस प्रकार कमल के पत्ते को जल का स्पर्श नहीं होता उसी प्रकार प्रणव जापी को पाप का स्पर्श नहीं होता। —"धर्मवीज"

(स) ॐ—तारक हैः—

—तारक के स्मरण से जीव मोक्ष पाता है।

ॐ नमो नारायणाय – यह तारक चैतन्यरूप है ऐसी उपासना करना ॐ यह एक अक्षर आत्मस्वरूप है नमः यह दो अक्षर प्रकृतिस्वरूप है तथा नारायण यह पांच अक्षर पर-ब्रह्म स्वरूप है 'ॐ' ब्रह्मा 'न' विष्णु 'म' रुद्र 'न' ईश्वर 'र' विराट 'य' पुरुष 'ण' भगवान् तथा 'य' परमात्मा है। नारायण के यह आठ अक्षर परम पुरुष हैं ॐ यह अक्षर परब्रह्म है – यही सूक्ष्म अष्टाक्षर है अकार प्रथम अक्षर उकार द्वितीय अक्षर मकार तृतीय अक्षर विंदु चौथा अक्षर नाद पांचवां अक्षर कला छठा अक्षर कलातीत सातवां अक्षर और उससे परे जो आठवां अक्षर है वही तारक ब्रह्म हैं। अकार जाववान उकार सुग्रीव मकार हनुमान विंदु शत्रुघ्न नाद भरत कला लक्ष्मण कलातीता सीता और उससे परे श्रीराम हैं। ॐ यह अक्षर सर्व है भूत वर्तमान और भविष्य तथा अन्य ॐकार है इस मंत्र के जप करने से पुरुष पवित्र होता है।

—"तारसारोपनिषद्"

(ह) जगतगुरु श्री शंकराचार्य महाराज ने विष्णु-

सहस्र के भाष्य में ॐ विश्वम् का भाष्य इस प्रकार किया है विश्व अर्थात् जगत् का कारण होने से ब्रह्म को विश्व कहा गया है। पहिले यहां यह दिखलाने के लिये कि कार्य रूप विरञ्चि आदि शब्दों से भी विष्णु की स्तुति उपपन्न हो सकती है 'विश्व' इस शब्द से कारण का ग्रहण किया गया है।

अथवा यह विश्व वास्तव में परम पुरुष परमात्मा से भिन्न नहीं है इस लिये विश्व ब्रह्म को कहा गया है यह विश्व परमोत्कृष्ट ब्रह्म ही है। (मु उ० २।२।११) यह सब पुरुष ही है (मु उ० २।१।१०) इत्यादि श्रुति से भी वास्तव में ब्रह्म से अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है।

अथवा प्रवेश करता है – इसलिये ब्रह्म विश्व है जैसा कि श्रुति कहती है 'उस रच कर उसी में प्रविष्ट होगया' — (तै० उ० २।६) अथवा जिसमें मर कर प्रविष्ट होते हैं – इस श्रुति के अनुसार प्रलय काल में समस्त प्राणी उसमें प्रवेश कर जाते हैं – इस लिये ब्रह्म ही विश्व है। इस प्रकार वह कार्य्यरूप सम्पूर्ण जगत में प्रविष्ट है तथा सम्पूर्ण जगत उसमें प्रवेश करता है इस लिये दोनों ही प्रकार से ब्रह्म विश्व है।

कठोपनिषद् में 'धर्म से अलग है और अधर्म से भी अलग है (१।२।१४) इस प्रकार प्रसंग आरंभ करते हुए कहा है सब वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं तथा सारे तप जिसे प्राप्त कराते हैं जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य्य का आच

रण करते हैं उस पद का मैं तुम से संक्षेप मे वर्णन करता हूं वह ॐ वस यही है। (१ । २ । १५) यह अक्षर ही ब्रह्म है यह अक्षर-ही परम श्रेष्ठ है इस अक्षर को जान लेने पर जो जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे वह प्राप्त होजाती है।' (क० उ० १ । २ । १६)

प्रश्नोपनिषद् में भी 'हे सत्यकाम ! यह ओंकार ही पर और अपर ब्रह्म है' (५ । २) इस प्रकार उपक्रम करके यह कहा है कि 'जो ॐ इस तीनमात्रा वाले अक्षर से परम पुरुष का ध्यान करता है (५ । ५) [वह मुक्त होजाता है]

यजुर्वेद आरण्यक में (तै० उ० १ । ८) कहा है ॐ वस यही ब्रह्म है और यही सब कुछ है । तथा छान्दोग्य का कथन है कि जिस प्रकार सब पत्ते शंकु (पत्ते की नसों) से व्याप्त होते हैं उसी प्रकार ओंकार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त हैं यह सब कुछ ओंकार ही है।

माण्डूक्योपनिषद् मे भी ॐ यह अक्षर ही सब कुछ ह इस प्रकार उपक्रम करके प्रणव ही अपर ब्रह्म है और प्रणव ही परब्रह्म कहा गया है। यह अपूर्व अनन्तर और अवाह्य है [अर्थात् उससे पहले पीछे या वाहर कुछ भी नहीं है] और उसका कोई कार्य्य भी नहीं हे वह प्रणव अव्यय है। प्रणव ही सबका आदि मध्य और अन्त है, प्रणव को ऐसा जान कर फिर उसी को प्राप्त हो जाता हे। प्रणव ही को सब के हृदय में स्थित ईश्वर समझे, सर्वव्यापी ओंकार को जान लेने पर

धीर पुरुष शोक नहीं करता। जिसने मात्राहीन और अनंत मात्राओं वाले द्वैतशून्य कल्याण स्वरूप ओंकार को जान लिया है वही मुनि है, और कोई नहीं। (मा० उ० १ । २६–२६) यहाँ तक ऐसा ही कहा है। [इसके सिवा] यह ॐ ही ब्रह्म है ॐ ही वायु है ॐ ही आत्मा है ॐ ही सत्य है ॐ ही सब कुछ है (ना उ० ६८) इत्यादि श्रुतियों में तथा—

'जो पुरुष ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण कर मुझे स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है वह परमगति को प्राप्त होता है। (गीता ८ । १३)

जिस अक्षर (ॐकार) का वेदज्ञजन बखान करते हैं जिसमें विरक्त यतिजन प्रवेश करते हैं तथा जिसे प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य्य का आचरण करते हैं वह पद तुम्हें संक्षेप से बताता हूँ (गीता ८ । ११) 'हे कुन्तीपुत्र ! जल में मैं रस हूँ चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ सम्पूर्ण वेदों में प्रणव हूँ आकाश में शब्द हूँ और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। (गीता ७ । ८) मैं महर्षियों में भृगु हूँ वाणी में एकाक्षर (ओंकार) हूँ यज्ञों में जप यज्ञ हूँ तथा स्थावरों में हिमालय हूँ। (गीता १०।२५) त्र्यक्षर (तीन अक्षर वाला) ब्रह्म (ओंकार) ही आदि में है जिसमें वेदत्रयी स्थित है।' एकाक्षर ओंकार ही परब्रह्म है और प्राणायाम ही परम तप है। (मनु २ । ११) सभी वेद प्रणव से आरम्भ होने वाले हैं और प्रणव में ही समाप्त हो जाते हैं सम्पूर्ण वाणी मात्र प्रणव रूप है इसलिये प्रणव का अभ्यास करे। (मनु १ । ६) इत्यादि स्मृतियों से भी विदित

शब्द से ओंकार का ही निरूपण, किया गया है क्यों कि वाच्य और वाचक का आत्यन्तिक भेद नहीं होता इसलिये तात्पर्य यह है कि विश्व अर्थात् ओंकार ही ब्रह्म है।

यह सब निःसन्देह ब्रह्म ही है क्यों कि उसी से उत्पन्न होता उसी में लीन होता और उसी में चेष्टा करता है इस प्रकार शांत भाव से उपासना करे' (छा० उ० ३। १४।१) इस श्रुति से यह बतलाया गया है कि यह सम्पूर्ण विकार ब्रह्म ही से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्म ही में लीन होने के कारण और उसी में चेष्टा करने के कारण ब्रह्म ही है इस प्रकार सब एक रूप होने से इसमें रागादि दोष सम्भव नहीं है, इसलिये शांतभाव से उपासना करे।

—:o:—

प्रणौतीति प्रणवः तस्मादोमिति प्रणौति इति श्रुते। प्रणम्यते इति वा प्रणवः

'प्रणमन्तीह वै वेदास्तमात्प्रणव उच्यते'

इति सनत्कुमार वचनात्। —श्री शंकराचार्य

अर्थः—[ॐ कह कर] स्तुति अथवा प्रणाम करते है इसलिये (ओंकार) प्रणव है। श्रुति में कहा है 'अतः ओ३म् ऐसा [कह कर] प्रणाम करता है। अथवा प्रणाम किये जाते हैं इसलिये—(भगवान् ही) प्रणव है उन्हें वेद प्रणाम करते हैं इसलिये वे प्रणव कहे जाते हैं। (श्री सनत्कुमार जी का

आरत जन की सुनो आरती, हे कृपासिन्धे ।
मोह जाल की फांसी मांही, जीव फिर बन्धे ॥१॥

भावार्थः—हे कृपा के सागर गुरुदेव ! दीन दुःखीजनों की प्रार्थना (पुकार) सुनिये, ये (हम सब) 'जीव' मोह रूपी जाल की फांसी में बंध २ चौरासी के चक्कर में भटक रहे हैं ॥१॥

सभी¹ कहो समझाय कौन मैं, को यह जगबन्धे ?
अब करो अविद्या नाश, तभी हम होवें आनन्दे ॥२॥

कथन है) "प्रणवानाम परमात्मनो वाचक ओंकारः तदभेदोपचारेणायं प्रणवः" अर्थात् परमात्मा के वाचक ॐकार का नाम प्रणव है उसके साथ अभेद का उपचार (व्यवहार) होने से परमात्मा प्रणव है ।

(२) शिव— "ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्द मूर्तये" अर्थात्—सच्चिदानन्द मूर्ति सद्गुरुदेव शिवजी को नमस्कार हो (निरालम्बोपनिषद्)।

(३) जिस प्रकार के प्रश्न इस आरती में किये गये हैं वैसे ही प्रश्न "केन उपनिषद्" में किये गये हैं। यह "केन उपनिषद्" सामवेद के 'तवलकार ब्राह्मण' अथवा—'जैमिनीय ब्राह्मण' के नवम अध्याय में है इसलिये इसको प्रारम्भ में 'तवलकार' उपनिषद् कहा जाता था। परन्तु-इसके प्रारम्भ में

को ईश्वर, को जीव, कौन रहता तिनके सन्धे ?
क्या माया का रूप; कहो अब सत्-चित-आनन्दे ॥३॥

भावार्थः—हे सच्चिदानन्द गुरुदेव ! अब कृपा कीजिये और समझाइये कि—'मैं कौन हूँ ? यह संसाररूपी बन्धन क्या है ? ईश्वर किसे कहते हैं ? जीव क्या है ? इनकी सन्धि में कौन रहता है ? अर्थात् इनमें तटस्थ कौन है ? माया का रूप क्या है ? आदि २ सब बातें बतला कर हमारी अविद्या का नाश कीजिये। तबही हमको आनन्द होगा ॥२-३॥

"केन" शब्द होने से इसका नामः—"केन उपनिषद्" भी प्रचलित होगया है। इस के प्रथम मंत्र में प्रश्न किये हैं:—

ॐ केनेपित पतति प्रेषित मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति। चक्षु श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति। १

अर्थात्ः—किसकी इच्छा से प्रेरित हुआ मन दौडता है ? किससे नियुक्त हुआ पहिला प्राण चलता है ? किससे प्रेरित हुई यह वाणी बोलती है ? और कौन सा भला देव आँखों और कान को चलाता (शक्ति देता) है ?

इस उपनिषद् के चार खड है, और उनमें निम्न उपदेश आया है:—

[१] आध्यात्मिक उपदेश- (प्रथम खंड) "मन, प्राण, वाचा, चक्षु, कर्ण, ये इन्द्रियां किसकी प्रेरणा से कार्य करती

है। इन सब की प्रेरक शक्ति एक आत्मशक्ति है। परन्तु यह मन आदि इन्द्रियों को अगोचर है। इन्द्रियों से उसका 'पोषण' नहीं होता। किंतु-वही सम्पूर्ण इन्द्रियों का पोषण करती है।

(द्वितीय खंड)—इस 'आत्मशक्ति' का पूर्णता से ज्ञान होना अत्यन्त कठिन कार्य है। जो उसको जानने का घमण्ड करता है, वह उसको बिल्कुल नहीं जानता परन्तु-जो समझता है कि "मुझे उसका ज्ञान नहीं हुआ," वही कुछ न कुछ जानता है। इसी-आत्मा से सर्व प्राप्त होते हैं, और "इसके ज्ञान से अमरपन" प्राप्त होता है। यदि-इसी जन्म में 'उसका ज्ञान" हुआ तो ठीक है। नहीं तो बड़ी हानि होगी। जो ज्ञानी प्रत्येक पदार्थ में-ढूंढ २ कर उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं वे-'अमर' होते हैं"।

आधिदैविक उपदेश—(तृतीय खंड) 'ब्रह्म ने देवों के लिए विजय किया परन्तु-देव घमण्ड में आकर समझने लगे कि-'यह हमने ही विजय किया है। यह देख कर-देवों के सामने ब्रह्म प्रकट हुआ परन्तु-कोई भी देव उसको पहचान न सका। अपनी शक्ति का गर्व करता हुआ अग्नि उसके पास गया परन्तु उसकी सहायता के बिना वह घास भी न जला सका। उसी प्रकार वायु-घास के तिनके को भी न उड़ा सका। इस प्रकार देव लज्जित होकर वापस गये। तब इन्द्र आगे बढ़ा। परन्तु-इन्द्र को आते हुए देख कर वह 'ब्रह्म' गुप्त होगया। तत्पश्चात् उस इन्द्र ने उसी आकाश में हैमवती

'उमा' नामक एक स्त्री का दर्शन किया, और-उससे पूछाः—"यह क्या है ?" (चतुर्थ खण्ड)=उमा (ब्रह्मविद्या) ने उत्तर दियाः—"वह ब्रह्म है, उसी के कारण तुम्हारा विजय हुआ था"। इस प्रकार इन्द्र को ब्रह्म का पता लगा। सम्पूर्ण देवों मे अग्नि, वायु और इन्द्र, ये तीनों ही देव श्रेष्ठ हैं, क्यों कि इनको ही 'ब्रह्म' किञ्चित् निकट हुआ था। तथा इसमे 'इन्द्र' इसलिये श्रेष्ठ है कि उसी ने 'ब्रह्म का ज्ञान' प्राप्त किया"।

"जो आधिदैवत में 'विद्युत' है वही-अध्यात्म मे-'मन' है, ये दोनों उसी का मार्ग बताते है। इसलिये, उसी वदनीय की उपासना करना चाहिये। इस उपनिषद् का आश्रय तप, दम, और कर्म है, वेद इसके सब अग ह, और इसको सत्य का आधार है" (स्वाध्यायमंडल)।

इसी प्रकार "अथर्व वेद" मे—'केन सूक्त आया है, जिसके ३३ मत्र हैं और जिसका साराश निम्न प्रकार से हैः-

१-आध्यात्मिक प्रश्न= (वैयक्तिक प्रश्न) = "मनुष्य के शरीर मे एडी, टखने, अगुलियाँ, इन्द्रियाँ और पॉव के तलवे, किसने वनाये हैं ? शरीर पर मॉस किसने चढ़ाया है ? घुटने जांघे किसने वनाई है ? पेट, छाती, कुल्हे आदि से वना हुआ उत्तम धड किसका रचा हुआ है ? कितने देवों ने मिल कर छाती और गला आदि वनाया ? वाहु, कधे, कोहनियां, स्तन और पसलियाँ किसने वनाई ? आँख, नाक आदि इन्द्रियों की रचना किसने की ? जिह्वा और प्रभावशाली वाणी किससे

है। इन सब की प्रेरक शक्ति एक आत्मशक्ति है। परन्तु यह मन आदि इन्द्रियों को अगोचर है। इन्द्रियों से उसका 'पोषण' नहीं होता। किन्तु-वही सम्पूर्ण इन्द्रियों का पोषण करती है।

(द्वितीय खण्ड)-इस 'आत्मशक्ति' का पूर्णता से ज्ञान होना अत्यन्त कठिन कार्य है। जो उसको जानने का घमण्ड करता है वह उसको बिल्कुल नहीं जानता, परन्तु-जो समझता है कि 'मुझे उसका ज्ञान नहीं हुआ," वही कुछ न कुछ जानता है। इसी-आत्मा से सर्व प्राप्त होते हैं, और "इसके ज्ञान से अमरपन" प्राप्त होता है यदि-इसी जन्म में 'उसका ज्ञान" हुआ तो ठीक है। नहीं तो बड़ी हानि होगी। जो ज्ञानी प्रत्येक पदार्थ में-ढूंढ २ कर उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं वे-'अमर' होते हैं"।

आधिदैविक उपदेश—(तृतीय खंड) 'ब्रह्म ने देवों के लिये विजय किया परन्तु-देव घमण्ड में आकर समझने लगे कि-'यह हमने ही विजय किया है'। यह देख कर-देवों के सामने ब्रह्म प्रकट हुआ परन्तु-कोई भी देव उसको पह चान न सका। अपनी शक्ति का गर्व करता हुआ अग्नि उसके पास गया परन्तु उसकी सहायता के बिना वह घास भी न जला सका। इसी प्रकार वायु-घास के तिनके को भी न उड़ा सका। इस प्रकार सब लज्जित होकर वापस गये। तब इन्द्र आगे बढ़ा। परन्तु-इन्द्र को आते हुए देख कर वह 'ब्रह्म' गुप्त होगया। तत्पश्चात् उस इन्द्र ने उसी आकाश में हैमवती

आरति कैसे करूँ तुम्हारी, तुम व्यापक जिन्दे ।
जो कोई तुमरी करे आरती, वे बुद्धि के अन्धे[४] ॥४॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप सर्वत्र व्यापक, चैतन्य और प्रकाश स्वरूप हैं। जो कोई आपकी आरती (नीराजन) करता है, वह अल्पज्ञ ही है ॥४॥

है। पुरुष सर्वत्र व्यापक है। जो इस पुरुष की 'ब्रह्म नगरी' को जानता है, उसको 'ब्रह्म' और 'इतर देव' – बल, आरोग्य और प्रजा देते हैं; वह अकाल मृत्यु से मरता नहीं। इस 'देव नगरी' अयोध्या में नौ द्वार हैं, और आठ चक्र हैं। इसी में तेजस्वी स्वर्ग है, और इस में वह 'यक्ष' रहता है जिसको आत्मज्ञानी ही जानते हैं"। (मंत्र २६ से ३३)।

(४) त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते, ध्यानेन चेतः परता हता ते।
स्तुत्या मया वाक्परता हता ते, क्षमस्व नित्यं त्रिविधापराधान् ॥
—(अवधूतगीता ८-६)

"हे प्रभो ! मैंने आपकी परिक्रमा करने की इच्छा से बहुत २ यात्राएं की, किन्तु हे अखिल भूमेश्वर, मैं आप अपार की परिक्रमा न लगा सका।

हे अगम्य देवाधिदेव ! आपको चित्त में लाने के लिये बहुत बहुत ध्यान किये, किन्तु मैं आपको ध्यान में न ला सका, क्योंकि आप चित्त से परे ठहरे।

प्रेरित होती है ? यह कर्म करता हुआ जो गुप्त है वह कौन है ? मस्तिष्क की रचना किसने की ? प्रिय और अप्रिय पदार्थ क्यों प्राप्त होते हैं ? शरीर में रस नाड़ियों की योजना किसने की है ? इसमें सुन्दरता और यश किसने धारण किया है ? यहाँ प्राणों का संचालक कौन है ? इसका जन्म और मृत्यु कैसे होता है ? संतति उत्पन्न होने योग्य 'रेत' इस देह में किसने रखा है ? (मंत्र १ से १५, १७)"।

२—आधिभौतिक प्रश्न— (जनता विषयक प्रश्न) मनुष्यों में 'पुरुषार्थ' और 'श्रद्धा' कैसी होती है ? 'विद्वान्' कैसे प्राप्त होते हैं ? ज्ञानी बनने के लिए कैसे 'गुरु' मिलते हैं ? देशी प्रजाओं में विश्यजन कैसे रहते हैं ? प्रजाओं में 'क्षात्रतेज' कैसे उत्पन्न होता है ? (मंत्र २० २२)"।

३—आधिदैविक प्रश्न— (जगद्विषयक प्रश्न) जल प्रकाश आदि किसने बनाये हैं ? भूमि और द्युलोक किसने बनाया है ? पर्जन्य और चन्द्र का बनाने वाला कौन है ? (मंत्र १६, १८, १९)

४—सब प्रश्नों का एक उत्तर— "यह सब ब्रह्म का बनाया हुआ है"। (मंत्र २१ २२, २३)।

५—विशेष उपदेश— "मस्तिष्क और हृदय को एक करके, प्राण मस्तिष्क के ऊपर ले जाओ। यह योगी का सिर देवों का खजाना है उसका प्राण मन और अन्न रक्षण करते

आरति कैसे करूँ तुम्हारी, तुम व्यापक जिन्दे।
जो कोई तुमरी करे आरती, वे बुद्धि के अन्धे[४] ॥४॥

भावार्थः—हे गुरुदेव! आप सर्वज्ञ व्यापक, चैतन्य और प्रकाश स्वरूप हैं। जो कोई आपकी आरती (नीराजन) करता है, वह अल्पज्ञ ही है ॥४॥

है। पुरुष सर्वत्र व्यापक है। जो इस पुरुष की 'ब्रह्म नगरी' को जानता है, उसको 'ब्रह्म' और 'इतर देव' – बल, आरोग्य और प्रजा देते हैं, वह अकाल मृत्यु से मरता नहीं। इस 'देव नगरी' अयोध्या में नौ द्वार है, और आठ चक्र हैं। इसी में तेजस्वी स्वर्ग है, और इस में वह 'यक्ष' रहता है जिसको आत्मज्ञानी ही जानते हैं"। (मन्त्र २६ से ३३)।

(४) त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते, ध्यानेन चेतः परता हता ते।
स्तुत्या मया वाक्परता हता ते, क्षमस्व नित्यं त्रिविधापराधान् ॥
—(अवधूतगीता ८-६)

"हे प्रभो! मैंने आपकी परिक्रमा करने की इच्छा से बहुत २ यात्राएं की, किन्तु हे अखिल भूमेश्वर, मैं आप अपार की परिक्रमा न लगा सका।

हे अगम्य देवाधिदेव! आपको चित्त में लाने के लिये बहुत बहुत ध्यान किये, किन्तु मैं आपको ध्यान में न ला सका, क्योंकि आप चित्त से परे ठहरे।

हे वागीश्वर ! मैंने वाणी द्वारा स्तुति कर आपको वश करना चाहा पर आप तो वाणी से परे, मन से अगोचर हैं। यथार्थ में मैंने ये भूलें ही की हैं। इसलिये हे प्रणव रूप परमात्मन् ! मेरे इन तीनों अपराधों को क्षमा करें"।

(अव० गी० ८-९)

(ख) श्लोकः—पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः ॥१॥
निर्मलस्य कुतस्स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
निरालम्बस्योपवीतं पुष्पं निर्वासनस्य च ॥२॥
निर्लेपस्य कुतो गंधो रम्यस्याभरणं कुतः ।
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं ताम्बूलं च कुतो विभोः ॥३॥
प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य, ह्यद्वयस्य कुतो नतिः ।
वेद वाक्यैरवेद्यस्य कुतःस्तोत्रं विधीयते ॥४॥
स्वय प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विभोः
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ॥५॥
एवमेव परापूजा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
एकबुद्ध्यातु देवेश, विधेया ब्रह्मवित्तमैः ॥६॥

भावार्थः— जो परिपूर्ण है उसका आवाहन क्या ! जिसने सबको धारण कर रक्खा है उसके लिये आसन क्या ! जो स्वतः स्वच्छ है उसे पाद्य अर्घ्य क्या ! और शुद्ध स्वरूप को आचमन क्या हो सकता है ! निर्मल को स्नान, विश्व जिसके उदर में है उसे वस्त्र, निरालम्ब को उपवीत तथा वासना रहित को पुष्प क्या ! निर्लेप को गन्ध क्या ! जो

स्वतः रमणीय है उसे भूषण क्या ? उसी प्रकार नित्य तृप्त को, नैवेद्य क्या ? और विभू को ताम्बूल क्या ? अनन्त की प्रदक्षिणा क्या ? और अद्वय को नमन कैसे ? वेद वाक्यों से भी जो अवेद्य है उसकी स्तुति ही कैसे ? जो स्वयं प्रकाश स्वरूप है उसकी आरती कैसे ? और जो बाहर, भीतर, परिपूर्ण है, उसे क्या मुद्रा बताई जावे ? परा का पार कैसे पावे ? ब्रह्मविद् पुरुषों के लिये सदा सर्वदा ऐसी ही परा पूजा करने का विधान है।

—— o ——

ॐ

शिव-भाव

अर्थात्

उपर्युक्त प्रश्नों का सन्क्षिप्त समाधान,

—:o:—

ॐ[1] भज[2], शिव[3] शुद्धानन्दे,

ॐ[4] हर-शिव[5], शुद्धानन्दे ! (नित्यानन्दे)

जो कोई [1]भजन करे मन लाके, कटि जाय यम फन्दे। टेक।

भावार्थ—अक्षय रूप शुद्ध-आनन्द के देने वाले, त्रिताप के हरने वाले, हरि-हर-स्वरूप-शिव आत्मा का जो कोई मन लगा कर भजन करता है (आत्म ध्यान में निमग्न रहता है), उसकी 'काल-पाश' कट जाती है। वह मुक्त होकर शुद्धानन्द (अथवा) 'नित्यानन्द' स्वरूप हो जाता है। (टेक)

---

(१) "जपापकानां योगीनां सम्यक्-पूजकस्य च। सर्व कर्म क्षयं कृत्वा दिव्यज्ञानं सुनूतनम्"। अर्थात्-अपना जप करने वाले योगियों और-उस अपना पूजन करनेवाले को सर्व कर्म क्षय कर दिव्य ज्ञान देने से यह ॐ—'प्रणव' कहलाता है
—(विश्वेश्वर संहिता-८१९-२२)

(२) "य यथा यथोपासते तदेव भवति" – जो जिसकी उपासना करता है, वह उसी का रूप हो जाता है। अतः– ब्रह्म-भावना के परिपाक होने पर साधक ब्रह्ममय बनजाता है।
– (श्रुतिः)।

(३) 'जगदादि गुरुः शिवः'—शंकर जगद्गुरु हैं।

'शिवएवह्याचार्यरूपेणानुगृह्णाति'-परमात्मा शिवजी'आचार्य और 'गुरु' रूप से अनुग्रहीत करते हैं (श्रुतिः) "शिवहि आत्मा" शिव ही आत्मा है (शिवपुराण)

(४) 'ओमित्येतदक्षर मिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव" भावार्थः—एक नित्य वस्तु ओंकार ॐ–ही है, यह जो कुछ जगत् दृष्टि पडता है, इस सब को प्रकाशित करने वाली है, भूत, भविष्य और वर्तमान–जो कुछ भी है— वह सब ब्रह्म है। तथा– जो इस त्रिकाल से अतीत है, वह भी ब्रह्म–ॐ–(शिव) ही है– (माण्डूक्योपनिषद्)

५–(अ) ब्रह्माविष्णुसुरेन्द्राणां, रुद्रादित्याश्विनामपि।
विश्वेषामपि देवानां, वपुर्धारयते भवः॥

भावार्थ.—हर ही ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि देवताओं का शरीर धारण करते हैं। "किञ्चिदप्यन्तर कृत्वा रौरवं नरकं व्रजेत्'—इन जगदीश्वरों में थोड़ी भी भेद बुद्धि करनेवाला रौरव नरक में जाता है– (महाभारत अनु० अ १४)

(ब) नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रय विभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥
(कुमार संभव)

(स) मधुसूदन सरस्वतीन 'महिम्न' की टीका में लिखा है:-

श्लोकः—भूतिभूषित देहाय द्विजराजेन राजते।
एकात्मने नमस्तुभ्यं हराय च हराय च॥१॥

[द] शिवस्य हृदयम् विष्णु विष्णोश्च हृदयम् शिवः।
सयद्वास्म को रुद्रः सव द्वा शिवात्मकाः॥
- रुद्रहृदयोपनिषद्।

[ड] सर्वं यथा संविशन्ति इति विष्णु। सर्वाणि बृहयतीति ब्रह्म। सर्वांल्लोकान् व्याप्नोति व्यापनाद् व्यापी महादेवः।
—अथर्व शिवोपनिषद्।

[ई] रुद्राणां शंकरश्चास्मि। —गीता।

इस प्रकार अवसर पर श्रीविष्णु भगवान् ने कहा है:—
अहम् ब्रह्मा च सर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं दृग् विशेषणः॥

अर्थात्—मैं ही जगत का परमकारण रूप ब्रह्मा और शिव हूँ। और मैं ही सबका साक्षी स्वयं प्रकाश तथा निर्विशेष आत्मा तथा ईश्वर हूँ।

त्र्याणामेक भावानां यो न पश्यति वैभिदम्।
सर्व भूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधि गच्छति॥

हे ब्रह्मन् ! सब जीवों के आत्मा रूप इन ब्रह्मा विष्णु शिव-रूप तीन एकरूप भावों में जो भेद-दृष्टि नहीं करता वही शान्ति प्राप्त कर सकता है।

[एफ]–हरि हर साम्य वर्णन:–

उनते कढी है गंग इनते चढी है गंग,
वे हैं मुरारी तो पुरारी ए कहावत हैं।
उनके रमा है सग इनके उमा है संग,
उतै सांप-सेज इतै साप लपटावे हैं॥
नन्द गोद राजैं वह नदीपीठ राजैं यह,
सीस चद छावैं चंद सीस पै चढ़ावे हैं।
पाप के हरैया हरि तापके हरैया हर,
एक हैं कहावैं दोय भक्तन के भावैं हैं॥१॥

[ह] "ब्रह्माणं केशवम् रुद्रम् भेद भावेन मोहिताः।
पश्यत्येक न जानति पाखडो पहता जनाः॥
महापातक युक्तोऽपि ध्यायन्निमिषच्युतम्।
पुनस्तपस्वी भवति पङ्क्ति पावन पापनः॥

'महा पातकी व्यक्ति भी यदि निमेषमात्र श्रीभगवान् का ध्यान करे तो वह पुनः पवित्र होकर पवित्र करने वालों को भी पवित्र कर सकता है।'

"ब्रह्मवादिनो वदन्ति ओमित्यात्मानं युञ्जीतै तद्वै मरोप-निशदं देवाना गुह्यं य एवम् वेद ब्रह्मणो महिमान माप्नोति॥"

अर्थ—ब्रह्मवादी कहते हैं कि ओंकार के साथ आत्मा को जोड़ो, यह (ओं) देवता ओं की उपनिषद् है। और गुप्त है। जो ओंकार को जानता है वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है।

—— o ——

"अथ हैनं भारद्वाजो याज्ञवल्क्यमुवाचाथ केनैः परमात्मा प्रीतो भवति आत्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूही भगवन् इति। सहोवाच याज्ञवल्क्यः ओमिति॥"

अर्थः—भारद्वाज मुनि ने याज्ञवल्क्य मुनि से पूछा कि किस मंत्रसे परमात्मा प्रसन्न होते हैं—और आत्म दर्शन होते हैं, तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह मंत्र ओंकार है।

—— o ——

ओंकार और अथ शब्द प्रथम ब्रह्मा के कंठ को भेद कर बाहर आये हैं। इससे यह दोनों शब्द मांगलिक कहे जाते हैं।

ब्रह्म और प्रणव का संधान यह ज्योतिर्मय कल्याण कारक नाद है इससे आत्मा का सम्यक् आविर्भाव होता है जैसे कि बादलों के अभावे रहने पर सूर्य का प्रकाश होता है।

—— o ——

वाचिकस्यैकमेकस्यादुपांशोश्शतमुच्यते।
साहस्रं मानसः प्रोक्तो मन्वादि भृगुनारदैः॥

अर्थः—मनु अत्रि भृगु तथा नारदादि ऋषियों न वाचिक

जप का एकगुणा फल कहा है, उपांशु जपका सौगुना तथा मानसिक जपका सहस्रगुना फल कहा है। —"धर्म बीज"

(६) "ओ३म् क्रतो। स्मर कृत ꣳ स्मर क्रतो। स्मर कृत ꣳ स्मर। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ꣳ शरीरम्।" (ईशोपनिषद् यजुर्वेद) भावार्थ.–हे मनुष्य! यदि तुझे उन्नत होना है–स्वस्वरूप की प्राप्ति करना है—तो यह लक्ष्य में रख कि–(वायुः) यह हमारा प्राण (अन्+इल, अ+मृत) अपार्थिव, अमृतरूप, प्रचण्ड शक्ति है, और (इद शरीर–भस्म+अन्तम्) ये शरीर मात्र अन्त मे भस्म होनेवाला है। अतः मर जाने वाले शरीर की अपेक्षा अमर प्राणशक्ति की विशेष आराधना करनी उचित है। मरनेवाले शरीर मे अमर प्राणशक्ति है, और उस प्राणशक्ति के अन्दर तू (असौपुरुषः=जीवआत्मा) है और तेरी ही उन्नति के लिये ये बाहिर के सर्व साधन है, इन साधनों की सहायता से तुझे अपने अमरपने का अनुभव लेना है–"इन अनित्य साधनों के योग से तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना है"—इस वास्ते, हे "क्रतो" = कर्म करनेवाले पुरुष! (कर्म करना स्वभाव है जिसका, ऐसे हे मनुष्य!) 'ओं स्मर'= (अवति इति ओम्) उस सर्व रक्षक परमात्मा का ध्यान कर, उसके गुणों का चिन्तन कर, उसके–कल्याण मय गुणों को निदिध्यासन से अपने आत्म-बुद्धि मनमे नित्य प्रति बढा। 'कृत स्मर'–रोज प्रातः सायं तू ने जो कोई कर्म किये हैं, वे आत्मा की–उन्नति करनेवाले है अथवा अवनति? दिन भर किये हुये कर्मों का निरीक्षण–सायकाल को तथा–रात

अर्थ—ब्रह्मवादी कहते हैं कि ओंकार के साथ आत्मा को जोड़ो, यह (ओं) देवता ओं की उपनिषद् है। और गुह्य है। जो ओंकार को जानता है वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है।

—o—

'अथ हैनं भारद्वाजो याज्ञवल्क्यं मुपसमेत्य केनैवैः परमात्मा प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूही भगव इति। सहो-वाच याज्ञवल्क्यः ओमिति॥"

अर्थः—भारद्वाज मुनि ने याज्ञवल्क्य मुनि से पूछा कि किस मन्त्रसे परमात्मा प्रसन्न होते हैं—और आत्म दर्शन होते हैं, तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह मन्त्र ओंकार है।

—o—

ओंकार और अथ शब्द प्रथम ब्रह्मा के कंठ को भेद कर बाहर आये हैं। इससे यह दोनों शब्द मांगलिक कहे जाते हैं।

ब्रह्म और प्रणव का संधान यह ज्योतिर्मय कल्याण कारक नाद है, इससे आत्मा का स्वयम् आविर्भाव होता है जैसे कि बादलों के जाते रहने पर सूर्य का प्रकाश होता है।

—o—

वाचिकस्यैकमेवं स्यादुपांशोशतमुच्यते।
सहस्रं मानस प्रोक्तो मन्वादि भृगुनारदैः॥

अर्थः—मनु ऋषि भृगु तथा नारदादि ऋषियों ने वाचिक

जप का एकगुणा फल कहा है, उपांशु जपका सौगुना तथा मानसिक जपका सहस्त्रगुना फल कहा है। —"धर्म बीज"

(६) "ओ३म् क्रतो। स्मर कृत ॐ स्मर क्रतो। स्मर कृत ॐ स्मर। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ॐ शरीरम्।" (ईशोपनिषद् यजुर्वेद) भावार्थ-हे मनुष्य! यदि तुझे उन्नत होना है-स्वस्वरूप की प्राप्ति करना है—तो यह लक्ष्य में रख कि-(वायुः यह हमारा प्राण (अन्+इल, अ+मृत) अपार्थिव, अमृतरूप, प्रचण्ड शक्ति है, और (इद शरीर-भस्म+अन्तम्) ये शरीर मात्र अन्त मे भस्म होनवाला है। अतः मर जाने वाले शरीर की अपेक्षा अमर प्राणशक्ति की विशेष आराधना करनी उचित है। मरनेवाले शरीर मे अमर प्राणशक्ति है, और उस प्राणशक्ति के अन्दर तू (असौपुरुषः=जीवआत्मा) है और तेरी ही उन्नति के लिये ये बाहिर के सर्व साधन है, इन साधनों की सहायता से तुझे अपने अमरपने का अनुभव लेना है-"इन अनित्य साधनों के योग से तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना है"—इस वास्ते, हे "क्रतो" = कर्म करनेवाले पुरुष! (कर्म करना स्वभाव है जिसका, ऐसे हे मनुष्य!) 'ओं स्मर'= (अवति इति ओम्) उस सर्व रक्षक परमात्मा का ध्यान कर, उसके गुणों का चिन्तन कर, उसके-कल्याण मय गुणों को निदिध्यासन से अपने आत्म-बुद्धि मनमें नित्य प्रति बढा। 'कृतं स्मर'-रोज प्रातः सायं तू ने जो कोई कर्म किये हैं, वे आत्मा की-उन्नति करनेवाले है अथवा अवनति? दिन भर किये हुये कर्मों का निरोक्षण-सायकाल को तथा-रात

को किये हुए कर्मों का निरीक्षण सवेरे कर। इस प्रकार अपने आचरणों की परीक्षा तू स्वयं कर, और अपना तू स्वयं परीक्षक बन, जिससे कि तेरी कहाँ भूल है और यहाँ तुझे वास्तव में क्या करना चाहिये था, यह अपने आप तेरे ध्यान में आजाये। "हमें अपने आप अपना उद्धार करना चाहिये, जिससे अपनी अवनति होती हो ऐसे आचरण हमें कभी भी करने नहीं चाहिये।" श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं :—

— 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥'

– (भगवद्गीता अ ६।५-६)

'अपना उद्धार आप स्वयं अपने द्वारा करले एवं अपने को अधोगति पर हर्गिज न जाने दे। कारण—तू आपही अपना हितकर्ता बन्धु और आपही अपना शत्रु है।"

"जिसने अपने आप अपने को (शरीर इन्द्रियसमुदायको) जीत लिया है, वह आप अपना बन्धु-हितकर्त्ता है, और जिसने नहीं जीता, वह आप अपना शत्रु है।'

[वाज सनेयी माध्यंदिन संहिता में यह मंत्र १५ वाँ है और उसके द्वितीयार्ध में—"क्रिवे स्मर" ऐसा अधिक पाठ है। क्रिव् क्रिप् क्लृप् इनका अर्थ—'समर्थ होना' 'साम्य होना' ऐसा है। अतः 'क्रिवे स्मर' अर्थात्—'अपने सामर्थ्य की वृद्धि

के लिये स्मरण कर, अपने आप समर्थ होने के लिये ऊपर कहे गये अनुसार 'ईश-स्मरण' कर, और स्वयं कृत कर्मों का स्मरण करके, अपने उद्धार के लिये इस श्रेष्ठ मार्ग का अवलम्बन कर] रोज हम क्या करते हैं, इस बात का निरीक्षण करना, यह (आत्म-परीक्षण) आत्मोन्नति के लिये अत्यन्त सहायक है। इसके बिना किसी भी प्रकार की उन्नति होनी सम्भव नहीं साधक का शरीर-पोषण तक इस परीक्षण के बिना नहीं होगा। अतः—"हमारी आध्यात्मिक उन्नति आत्म-परीक्षण के बिना नहीं होगी", इस प्रकार पृथक् कहने की आवश्यकता ही नहीं। इसी के वास्ते-"यह आत्मनिरीक्षण करना चाहिये' ऐसा जो यहां खास करके कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि-उसकी ओर से साधक कदापि दुर्लक्ष्य न करे।

(७) "अग्नेनय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराण मेनो भूयिष्ठा ते नम उक्ति विधेम। —(ईश० उ० १८)

पूषन्ने कर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूप कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ —(ईश० उ० १६)

भावार्थः—हे 'अग्ने'=प्रकाश देने वाले ईश्वर! (गुरु) 'अस्मान् सुपथा राये नय'=हमें अच्छे मार्ग से अभ्युदय को

को किये हुये कर्मों का निरीक्षण सवेरे कर। इस प्रकार अपने आचरणों की परीक्षा तू स्वयं कर, और अपना तू स्वयं परीक्षक बन, जिससे कि तेरी कहां भूल है और वहाँ तुझे वास्तव में क्या करना चाहिये था, यह अपने आप तेरे ध्यान में आजाये। "हमें अपने आप अपना उद्धार करना चाहिये, जिससे अपनी अवनति होती हो ऐसे आचरण हमें कभी भी करने नहीं चाहिये।" श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं :—

— 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

– (भगवद्गीता अ ६। ५–६)

"अपना उद्धार आप स्वयं अपने द्वारा करले एवं अपने को अधोगति पर हर्गिज न जाने दे। कारण—तू आपही अपना हितकर्ता बन्धु, और आपही अपना शत्रु है।"

"जिसने अपने आप अपने को (शरीर इन्द्रियसमुदायको) जीत लिया है, वह आप अपना बन्धु-हितकर्ता है और जिसने नहीं जीता वह आप अपना शत्रु है।

[वाज सनेयी माध्यंदिन संहिता में यह मन्त्र १५ वाँ है और उसके द्वितीयार्ध में-"क्रिवे स्मर" ऐसा अधिक पाठ है। क्रिव् क्रिप् कल्प् इनका अर्थ-'समर्थ होना' 'योग्य होना' ऐसा है। अतः 'क्रिवे स्मर' अर्थात्-'अपने सामर्थ्य की वृद्धि

'प्राजापत्य' = (जो प्रजाओं को पालन करने वाला है वह प्रजापति) प्रजापति से उत्पन्न होनेवाले, प्राजापत्य, अर्थात् उसकी सामर्थ्य इन सब सामर्थ्यों से युक्त वह देव है। इस देव को भक्तियुक्त अन्तःकरण से इस मन्त्र में पुकारा है। हे पोषक, नियामक, तेजस्वी, सामर्थ्यशाली, सर्वज्ञ देव! [गुरु] मेरी सहायता कर। "रश्मिन् व्यूह समूह"– किरणों को इकट्ठा करके एक ओर कर, हे देव! इस जगत् की इस चकचकाहट के कारण मुझे तेरा रूप दीखता नहीं। जहां देखता हूँ वहीं इस प्रकृति की चकचकाहट नजर आती है। उससे परे वर्तमान तेरा रूप दीखता नहीं। इस वास्ते ये अपनी किरणें एक ओर कर, और मुझे तेरा रूप दीखे, उसके लिये तू ही मेरे पर दया करके मेरी आँखों को चकाचौंध करने वाले अपने इस तेज को दूर कर। तूने ऐसा किया कि—'ते कल्याणतमं तेजो रूप पश्यामि' = तेरे अत्यन्त कल्याणमय तेजस्वी स्वरूप को मैं देख सकता हूं। हे देव! तूही कृपा कर और अपना रूप दिखा, तेरी कृपा के विना तेरा मंगलमय और कल्याणमय रूप मुझे दीख नहीं सकता। "यः असौ असौ पुरुषः" = जो यह तेरे (असौ = आसु मे) प्राणशक्ति के आधार से रहनेवाला और (पुरुषः = पुरि + वसति) इस शरीर रूपी नगरी में रहनेवाला, देह धारण कर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति की इच्छा करन वाला, शरीर धारणकर परम पुरुषार्थ करने की इच्छा वाला जो तेरा भक्त है, 'सः अहं अस्मि' = वही मे हू, मैं तेरा एक निष्ठ भक्त हूँ। मुझे भक्त मानता हुआ तू 'अपना' मान"। (इस मन्त्र के पहिले दो

प्राप्त करा, हमारे में कुमार्ग से जाने की बुद्धि कभी न हो धन मिले चाहे न मिले, पर—हमारे आचरण का मार्ग शुद्ध ही हो, हे देव ! तू—'विश्वानि वयुनानि विद्वान्' हमारे सब कर्म जानता है, तुझे पता न चले इस प्रकार छिप करके भी कर्म करना असम्भव है, क्योंकि—तू सर्वसाक्षी सर्वत्र होता हुआ सर्वज्ञ है, इस कारण हम जो कुछ करते हैं,—चाहे वह कितना भी चुपके से छिपकर किया गया हो तो भी—वह तुझे उसी समय ज्ञात होजाता है इतना ही नहीं, मनमें आया हुआ संकल्प भी तुझे मालूम होजाता है। ऐसी दशा में हम तेरे से छिपाकर कुछ भी नहीं कर सकते। हमारे सब अच्छे बुरे कर्मों का तुझे पता है अतः जिस मार्ग से हमारा उद्धार हो उस श्रेष्ठ और शुद्ध मार्ग से तू हमें लेचल। हमारे में कुटिलता और पाप भरे हुए हैं, ये 'जुहुराणम् एनो अस्मत् युयोधि' = कुटिलता और पाप हमारे से सर्वदा के लिये दूर कर इन पापों के साथ युद्ध करके उन्हें दूर करने के लिये हमें शक्ति दे। इस तेरी कृपा के लिये हम तुझे 'नमः विधेम' = नमस्कार करते हैं। तुझे देने के लिये हमारे पास नमस्कार करने के सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। हे देव ! यह हमारा नमस्कार स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर। (१८)

परमात्मा 'पूषन्' = सबका पोषक है वह 'एक' है और वह 'ऋषि' = ज्ञाता ज्ञानी सबका और अतीन्द्रियार्थदर्शी है वही 'यम' = सबका नियामक, सबको अपने नियम में रखने वाला 'सूर्य' = तेज देने वाला प्रकाशित करनेवाला और

'प्राजापत्य' = (जो प्रजाओं को पालन करने वाला है वह प्रजापति) प्रजापति से उत्पन्न होनेवाले, प्राजापत्य, अर्थात् उसकी सामर्थ्य इन सब सामर्थ्यों से युक्त वह देव है। इस देव को भक्तियुक्त अन्तःकरण से इस मन्त्र मे पुकारा है। हे पोषक, नियामक, तेजस्वी, सामर्थ्यशाली, सर्वज्ञ देव! [गुरु] मेरी सहायता कर। "रश्मिम् व्यूह समूह"– किरणों को इकट्ठा करके एक ओर कर, हे देव! इस जगत् की इस चकचकाहट के कारण मुझे तेरा रूप दीखता नहीं। जहा देखता हूँ वहीं इस प्रकृति की चकचकाहट नजर आती है। उससे परे वर्तमान तेरा रूप दीखता नहीं। इस वास्ते ये अपनी किरणें एक ओर कर, और मुझे तेरा रूप दीखे, उसके लिये तू ही मेरे पर दया करके मेरी आँखों को चकाचौंध करने वाले अपने इस तेज को दूर कर। तूने ऐसा किया कि—'ते कल्याणतमं तेजो रूप पश्यामि' = तेरे अत्यन्त कल्याणमय तेजस्वी स्वरूप को मैं देख सकता हू। हे देव! तूही कृपा कर और अपना रूप दिखा, तेरी कृपा के विना तेरा मंगलमय और कल्याणमय रूप मुझे दीख नहीं सकता। "यः असौ असौ पुरुषः" = जो यह तेरे (असौ = असु मे) प्राणशक्ति के आधार से रहनेवाला और (पुरुषः = पुरि + वसति) इस शरीर रूपी नगरी में रहनेवाला, देह धारण कर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति की इच्छा करन वाला, शरीर धारणकर परम पुरुषार्थ करने की इच्छा वाला जो तेरा भक्त है, 'सः अह अस्मि' = वही मैं हू, मैं तेरा एक निष्ठ भक्त हूँ। मुझे भक्त मानता हुआ तू 'अपना' मान"। (इस मन्त्र के पहिले दो

मैं, मेरा, यहि मोह हुआ, अर्जुन को रणमध्येन ।
तदा, ज्ञान गीता[6] का सुन खास समाधानी मन्ये ॥५॥

भावार्थः—हे शिष्य ! तुझ जैसा ही प्रसंग अर्जुन को महाभारत के युद्धारम्भ में उपस्थित हुआ था। उसको "मैं" और "मेरा" यही मोह उत्पन्न हुआ था। जिसके प्रतिबन्ध से वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया था। तब, भगवान् कृष्ण ने उसे गीता-ज्ञान सुनाया, जिसे सुनकर, (प्रत्यक्ष विराट्रूप) देखकर, समाधान कर सन्देह रहित हुआ ॥५॥ यह समाधान यही कि—

भाग वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता में नहीं है। मन्त्र का अन्तिम भाग इस प्रकार है—"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओं खं ब्रह्म"। यह मन्त्र भाग वहाँ १७ वाँ है और 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इस मन्त्र का उत्तरार्ध है। इसका अर्थ — (यः असौ) जो यह (आदित्ये पुरुषः) आदित्य में पुरुष है (स असौ अहम्) वह यह मैं हूं (ओं खं ब्रह्म) ब्रह्म आकाश की तरह व्यापक, ओंकार द्वारा दिखाया जाता है। इस मन्त्र में कहे गये अनुसार भक्त को परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये)

(८) राजर्षि धृतराष्ट्र ने प्रसंगवश कुछ समय के लिये राजर्षि पाण्डु द्वारा सौंपा हुआ राज्य पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को नहीं लौटाया, भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा समझाये जाने और पाण्डवों के लिये राज्य का बहुत थोड़ा सा भाग

मांगने पर भी दुर्मद दुर्योधन के वशीभूत हुए राजर्षि धृतराष्ट्र न देना स्वीकार नहीं किया। दुर्योधन ने यह कह दिया कि–"पाण्डवों मे सामर्थ्य हो तो रण में विजय प्राप्त कर राज्य लेलें।" भगवान् श्रीकृष्ण भी सुलह के प्रयत्न में सफल नही हुए। कौरव पाण्डवों में युद्ध का निश्चय होगया। दोनों पक्ष के राजागण अपनी २ सेना समेत कुरुक्षेत्र में एकत्रित होगये दोनों ओर के सेनापतियों का चुनाव होगया। सारथी बने हुये भगवान् ने अर्जुन का रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले-जाकर खडा कर दिया। शस्त्र चलाने की तैयारी ही थी, कि–अर्जुन ने विपक्ष मे पितामह--भीष्म, शस्त्राचार्य-द्रोण, एवं आत्मीय-स्वजनों को देखकर उनसे लड़ना उचित नहीं समझा, और युद्ध कर्म को हिंसारूपी पाप समझ कर क्षात्र-धर्म से विमुख हो, भगवान् के प्रति ब्राह्मोचित अहिंसा-धर्म पालने की अपनी इच्छा प्रकट की, तब–उस अर्जुन नामक अपनी देह को कार्यसिद्धि के लिये विष्णु भगवान्--आत्मज्ञान सम्पन्न श्रीकृष्ण रूप द्वारा बोले—"आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, न कभी भूत काल मे उत्पन्न हुआ है, और न होगा। यह अजन्मा, नित्य पुराण और सदा रहने वाला है शरीर मारे जाने पर भी मरता नहीं है, यह न किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है इस लिये उन लोगों का विचार ठीक नहीं है जो--आत्मा को मरने या मारने वाला समझते है। आत्मा अनन्त, एक रूप, विद्यमान और आकाश से भी सूक्ष्म, सबका स्वामी है, भला उसका कोई नाश कैसे कर सकता है? हे अर्जुन! तुम मारने वाले नहीं हो तुम तो स्वयं नित्य

मैं; मेरा; यहि मोह हुआ; अर्जुन को रणमध्येन ।
कहा, ज्ञान गीता[8] का सुन त्रास समधानी मन्ने ॥४॥

भावार्थः—हे शिष्य ! ठीक जैसा ही प्रसंग अर्जुन को महाभारत के युद्धारम्भ में उपस्थित हुआ था । उसको "मैं" और "मेरा' यही मोह उत्पन्न हुआ था । जिसके प्रतिबन्ध से वह निकर्तव्य विमूढ़ हो गया था । तब, भगवान् कृष्ण ने उसे गीता-ज्ञान सुनाया, जिसे सुनकर, (प्रत्यक्ष विराट्रूप) देखकर समाधान कर सन्देह रहित हुआ ॥४॥ वह समाधान यही कि—

भाग वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता म नहीं है । मन्त्र का अन्तिम भाग इस प्रकार है—"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओं खं ब्रह्म' । यह मन्त्र भाग यहाँ १७ वाँ है और 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इस मन्त्र का उत्तरार्ध है । इसका अर्थ — (यः असौ) जो यह (आदित्य-पुरुषः) आदित्य में पुरुष है (स असौ अहम्) वह यह मैं हूँ, (ओं-खं ब्रह्म) ब्रह्म आकाश की तरह व्यापक, ओंकार द्वारा दिखाया जाता है । इस मन्त्र में कहे गये अनुसार सब को परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए)

(८) राजर्षि धृतराष्ट्र ने प्रसंगवश कुछ समय के लिये राजर्षि पाण्डु द्वारा सौंपा हुआ राज्य पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को नहीं लौटाया भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा समझाये जाने और पाण्डवों के लिये राज्य का बहुत थोड़ा सा भाग

सुख और अभ्युदय को देने वाला है। हे धनञ्जय! तुम योगारूढ़ होकर संग को त्याग कर कर्मों को करो, क्योंकि— अनासक्त होकर कर्म करने से मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता। स्वयं शान्त ब्रह्म-रूप होकर, कर्म को भी ब्रह्म-रूप जान कर ब्रह्म को समर्पण करते हुये यदि तुम कर्म करोगे! तो क्षणमात्र में ही ब्रह्म-रूप हो जाओगे। सब पदार्थ ईश्वर को अर्पित हैं और "सर्व भूतों का आत्मा ईश्वर ही मेरा आत्मा है" इस विचार को रखते हुए इस भूमि के अलङ्कार बनो। सब सङ्कल्पों को त्याग कर, शान्त मन और समभाव रखते हुए सन्यास योग से युक्त रह कर काम करते हुए मुक्त-बुद्धि हो जाओ" इत्यादि वचनों को सुन, तथा-विराट्रूप देख, अर्जुन बोलेः—हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हुआ और-आत्मज्ञान स्मरण होगया, अब मै सन्देह रहित हूँ, और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

(९) गीता क्या है ?

गीता मे हृदय पार्थ, गीता मे सार मुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्युग्र, गीता मे ज्ञानमव्ययम्॥
गीता मे चोत्तमं स्थान, गीता मे परमं पदम्।
गीता मे परमं गुह्यं, गीता मे परमो गुरुः॥

गीता के सम्बन्ध में भी भगवान् कहते है.— गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार है, गीता मेरा अत्युग्रज्ञान है, गीता मेरा अविनाशी ज्ञान है, गीता मेरा श्रेष्ठ निवासस्थान है,

एवं शरीर मरण-विमुख आत्मा को अभिमान से मारने वाला होने का झूठा विचार (मत) त्याग दो, मारते समय जिस पुरुष के देहादि इन्द्रियों में अहं भावना नहीं है, और मारक जिसकी बुद्धि हर्ष शोक आदि से युक्त नहीं होती वह सर्व संसार को मार कर भी न तो हन्ता होता है और न बन्धन में पड़ता है क्योंकि जिसके चित्त में जैसा विचार होता है उसका वैसा ही अनुभव होता है। इस लिये मैं यह हूँ यह मेरा है इस विचार को छोड़ दो मनुष्य अहंकार से मूढ़ बुद्धि होने के कारण ही अपने को उस काम का कर्ता मान बैठता है जो बहुत अंश तक सत्वादि गुणों द्वारा—जो कि आत्मा के केवल अंश मात्र हैं—सम्पादित होता है। आँख को देखने दो कान को सुनने दो त्वचा को स्पर्श करने दो जिह्वा को रस लेने दो, इनके कामों में अपने आपको क्यों लगाते हो ? मन का अपने विचार आदि काम में लगे रहने पर भी अहंभाव के विचार का कोई कारण नहीं है, तुमको उस काम में क्या क्लेश होता है जिसके कारण तुम्हें शोक करना पड़े ! हे भारत ! यह बड़ी हंसी की बात है कि जो काम बहुत से मनुष्यों के मिलने पर होता है, उसके लिए एक ही (आत्मा) अभिमान करके दुःखी हो। योगी लोग संग को त्याग कर शरीर मन बुद्धि और केवल इन्द्रियों से ही अपनी शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। जो मनुष्य ममता और अहंकार से रहित है, वह करने तथा न करने योग्य कामों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। हे पाण्डुपुत्र ! यद्यपि यह तुम्हारा उत्तम क्षात्रकर्म क्रूर है तब भी यह अत्यन्त श्रेयस्कर तथा

करै शुभाशुभ कर्म, भोगता फल सुख दुख द्वन्द्वे।
शिव[१२] को कहते जीव[१३], शीव[१४] कछु करे नहीं धन्धे ॥७॥

भावार्थः—वास्तव में एक शिव तत्त्व ही है, पर जब (व्यष्टि रूप से) उसकी प्रवृत्ति शुभाशुभ कर्म करने में तथा उसका फल सुख दुख रूप द्वन्द के भोगने में होती है; तब उसे जीव कहते हैं, शिव अकर्ता-अभोक्ता-अर्थात्-कर्म-रहित है ॥ ७ ॥

विचारः—

कोऽहं कथमिदं जात को वा कर्ताऽस्य विद्यते।
उपादानं किमस्तीह विचार सोऽयमीदृशः ॥

अर्थः—मैं कौन हूं ? यह जगत् कैसे हुआ है ? इसका कर्त्ता कौन है ? यहां उपादान कौन है ? यह विचार है ··
—(अपरोक्षानुभूति)

१२ (अ) शिवः—

जगच्चित्पुष्पसौगन्धं, चिल्लताग्रफल जगत्।
चित्सत्तैव जगत्सत्ता, जगत्सत्तैव चिद्वपुः ॥

अर्थः—जगत् ब्रह्मरूपी फूल की सुगंध है, ब्रह्मरूपी लता का फल है, ब्रह्म की सत्ता ही जगत् की सत्ता है, और जगत् ही ब्रह्म का रूप है। —(योग वासिष्ठ)।

तुम चेतन भरपूर दृश्य मन जगत भास बने।
जब होय अविद्या[10] नाश खिले तब विद्या[11] के चन्दे ॥६॥

भावार्थ— हे शिष्य ! तू सर्वत्र परिपूर्ण चैतन्य स्वरूप है और यह जितना दृश्यमान जगत है सब मन का रचा हुआ भास है—कल्पित है, परन्तु इसका ज्ञान उस समय होता है जब अविद्यारूपी अन्धकार का नाश होकर विद्यारूपी चन्द्रमा का प्रकाश होवे ॥ ६ ॥

गीता मेरा परमपद है, गीता मेरा परम रहस्य है और गीता मेरा परमगुरु है। —(गीतामहात्म्य)

(१०) अविद्या—

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥

अर्थः—'यह जन्म मरण आदि सत्य हैं और सभी आत्मा में लगे हैं'। इस भांति का भ्रम 'अविद्या' है, यह अविद्या विद्या से दूर होती है। —(पंचदशी चित्रदीप १०)

(११) विद्या—

आत्मा भासस्य जीवस्य संसारोऽनात्मवस्तुनः ।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥

अर्थः—'चैतन्यात्मा का प्रतिबिम्ब रूप-जीव का ही संसार होता है सत्यात्मा का नहीं' ऐसा ज्ञान होना 'विद्या' है। यह विद्या विचार से प्राप्त होती है। —(पंच चित्र ११)

नित्यमेव शरीरस्थ मिमंध्यायेत् परं शिवम् ।
सर्व प्रत्यय कर्तारं स्वयमात्मानमात्मना ॥

अर्थः—इस लिये शरीर मे रहे और सर्वत्र जिस की सत्ता है ऐसे पर शिव का स्वयम् ही ध्यान करना ।

—(योगवासिष्ठ)

—— 0 ——

गीता क्या है ?

'श्रीमद्भवगद्गीता भारतवर्ष में यत्र तत्र बिखरे हुये अनेक प्रश्नोंको जोडने वाली एक अप्रतिम शृङ्खलाहै और भविष्य के राष्ट्रीय जीवन की एक अमूल्य निधि है । भारतवर्ष का राष्ट्रीय धर्मग्रन्थ होने के लिये आवश्यक समस्त गुण इसमे एकत्र किये गये हैं । इतना ही नहीं, भविष्य में समस्त संसार का धर्मग्रन्थ होने की इस में योग्यता है । समस्त मानव जाति के भविष्य को अत्यन्त उज्ज्वल बनाने के लिये भारत के वैभव-शाली भूतकाल की यह एक अपूर्व निधि है ।'

(स) शिव स्वरूपः—

श्री शुकदेव जी ने व्यास जी के चरणों मे सिर नवा कर उनसे पूछा कि सब देवताओं मे कौन से देवता विराजमान हैं, सारे देवता किस एक देवता के अन्दर है और किसकी सेवा करने से सब-देवता मुझ पर प्रसन्न होंगे ? शुकदेव जी के इस प्रश्न को सुन कर उनके पिता व्यास जी बोले कि रुद्र देवता

(ख) श्री ईश्वर उवाच—

एवं सर्वमिदं विश्वं परमात्मैव केवलम्।
ब्रह्मैव परमाकाशमेषदेव परः स्मृतः ॥१॥

एषदेवः स परमः पूज्य एषसदा सताम्।
चिन्मात्र मग्न मृत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ॥२॥

अर्थः—ईश्वर कहते हैं—इस प्रकार यह समग्र विश्व केवल परमात्मा ही है आकाश भी परब्रह्म ही है और यही पर देवता है ॥१॥ जो सर्वत्र व्याप्त होकर रहा है यही परम देव है और सज्जनों के पूजन योग्य है। तथा यह देव ज्ञानमय आनन्दमय स्वरूप सर्वव्यापी और सब का आश्रयभूत है।

पूजनम् ध्यान मेवान्तर्मान्यदन्यस्य पूजनम्।
तस्मात्त्रिभुवनाधारं नित्यध्यानेन पूजयेत् ॥३॥

अर्थः—इस देव का अन्तःकरण में ध्यान करना यही पूजन है, दूसरा पूजन नहीं। इसलिए तीनों भुवनों के आधार भूत इस देव को ध्यान द्वारा पूजो।

गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्नेव जाग्रत स्वपतोऽपिच।
सर्वाचार महापूजा नित्यं ध्यानात्मिकात्वियम् ॥

अर्थः—ध्यानात्म पूजा चलते २ खड़े २ जाग्रत दशा में तथा स्वप्नदशा में इस प्रकार हर समय की जा सकती है, कारण कि सर्वावस्था में ध्यान करने में बाध नहीं आता।

नित्यमेव शरीरस्थ मिमंध्यायेत् परं शिवम्।
सर्व प्रत्यय कर्तारं स्वयमात्मानमात्मना ॥

अर्थः—इस लिये शरीर में रहे और सर्वत्र जिस की सत्ता है ऐसे पर शिव का स्वयम् ही ध्यान करना।

—(योगवासिष्ठ)

—— o ——

गीता क्या है ?

'श्रीमद्भगवद्गीता भारतवर्ष में यत्र तत्र बिखरे हुये अनेक प्रश्नोंको जोडने वाली एक अप्रतिम शृङ्खलाहै और भविष्य के राष्ट्रीय जीवन की एक अमूल्य निधि है। भारतवर्ष का राष्ट्रीय धर्मग्रन्थ होने के लिये आवश्यक समस्त गुण इसमें एकत्र किये गये हैं। इतना ही नहीं, भविष्य मे समस्त संसार का धर्मग्रन्थ होने की इस में योग्यता है। समस्त मानव जाति के भविष्य को अत्यन्त उज्ज्वल बनाने के लिये भारत के वैभव-शाली भूतकाल की यह एक अपूर्व निधि है।'

(स) शिव स्वरूपः—

श्री शुकदेव जी ने व्यास जी के चरणों में सिर नवा कर उनसे पूछा कि सब देवताओं में कौन से देवता विराजमान है, सारे देवता किस एक देवता के अन्दर हैं और किसकी सेवा करने से सब देवता मुझ पर प्रसन्न होंगे ? शुकदेव जी के इस प्रश्न को सुन कर उनके पिता व्यास जी बोले कि रुद्र देवता

सर्वं देवात्मक हैं और सार स्वयं शिव स्वरूप हैं। रुद्र के दक्षिण पश्चिम में सूर्य ब्रह्मा और तीन अग्नि हैं। वाम पार्श्व में उमा देवी विष्णु और सोम व सोम देवता हैं। जो उमा हैं वही स्वयम् विष्णु हैं। जो विष्णु है वही चन्द्रमा हैं। जो गोविन्द को नमस्कार करते हैं वे शंकर को ही नमस्कार करते हैं। जो भक्ति पूर्वक हरि की पूजा करते हैं वे भगवान् वृषभकेतु (शंकर) को पूजते हैं। जो भगवान् त्रिलोचन से द्वेष करते हैं व भगवान् जनार्दन से द्वेष करते हैं। जो रुद्र को नहीं जानते व केशव को भी नहीं जानते। रुद्र से बीज प्रवर्तित होता है और विष्णु बीज की योनि है जो रुद्र हैं व स्वयं ब्रह्मा हैं, जो स्वयं ब्रह्मा हैं वही अग्नि हैं। रुद्र ब्रह्मा और विष्णु के स्वरूप हैं। सारा जगत् अग्नि सोमात्मक है। जितने पुरुष हैं व सब भगवान् रुद्र हैं और समस्त नारी जाति भगवती उमा का स्वरूप है। समस्त चराचर जीव उमा और रुद्र के स्वरूप हैं। व्यक्त जगत् सब उमारूप है और अव्यक्त तत्व महेश्वर हैं। उमा और शंकर का योग 'विष्णु' कहलाता है। जो उन्हें भक्ति पूर्वक नमस्कार करता है वह आत्मा (जीव) परमात्मा ब्रह्म और अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) इन तीनों प्रकार के आत्मा को जान कर परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता है। अंतरात्मा ब्रह्मा हैं। परमात्मा महेश्वर हैं सब प्राणियों की सनातन आत्मा विष्णु भगवान् हैं। पृथ्वी पर विविध प्रपंचरूप छोटी मोटी शाखा वाले त्रिलोकरूपी वृक्ष के अग्र मध्य और मूल विष्णु, ब्रह्मा और महेश हैं। कार्य विष्णु हैं, क्रिया ब्रह्मा हैं और कारण महेश्वर हैं। रुद्र भगवान् ने प्रयोजन के लिये एक

ही मूर्ति को तीन रूपों में विभक्त किया है। धर्म रुद्ररूप है, जगत 'विष्णु' रूप है और सर्व ज्ञान ब्रह्मारूप है। जो 'रुद्र रुद्र रुद्र' इस प्रकार रुद्र भगवान् को पुकारता है वह सस्कारी जीव है। सर्व देवरूप रुद्र भगवान् के कीर्तन से सब पापों का नाश होजाता है।

रुद्र पुरुष हैं और उमा स्त्री हैं। इससे उन दोनों को नमस्कार है। रुद्र ब्रह्मा हैं उमा सरस्वती हैं इससे उनको नमस्कार है। रुद्र विष्णु हैं उमा लक्ष्मी हैं। इन स्वरूपों में उनको नमस्कार है। रुद्र सूर्य है उमा छाया है, इससे उनको नमस्कार है। रुद्र सोम है और उमा तारा हैं। इस स्वरूप में उनको नमस्कार है। रुद्र दिवस है उमा रात्रि है, इस स्वरूप में उनको नमस्कार है। रुद्र यज्ञ हैं उमा देवी हैं, इस रूप मे उनको नमस्कार है। रुद्र अग्नि हैं, उमा स्वाहा ह इस रूप में उनको नमस्कार है। रुद्र वेद हैं उमा शास्त्र हैं इस स्वरूप मे उनको नमस्कार है। रुद्र वृक्ष हैं उमा पत्ता है इस रूप में उनको नमस्कार है। रुद्र लिंग है और उमा पीठ है इस रूप मे उनको नमस्कार है। सर्व देव रूप रुद्र को विभिन्न रूपों मे नमस्कार करके इन मंत्रों द्वारा ईश और पार्वती को नमस्कार करता हू।

उपासक जहां कहीं भी हो, अर्थ-ज्ञान पूर्वक इस मन्त्र का उच्चारण करे। ब्रह्म-हत्यो करने वाला जल के बीच मे खडा होकर इस मन्त्र का जप करे तो वह सब पापों से छूट जाता है। सबका आश्रयरूप सनातन पर ब्रह्म सुख-दुःखादि द्वंदों से

रहित है तथा सत् चित् आनंदस्वरूप है। यह वाणी और मन का विषय नहीं है। इसको सब प्रकार से जानने से, हे शुकदेव इस सारे दृश्य प्रपंच का ज्ञान प्राप्त होता है। सब कुछ उन्हीं का स्वरूप ज्ञान से भिन्न कुछ भी नहीं है।

दो विद्यायें जानने योग्य हैं—एक परा दूसरी अपरा। हे मुनीश्वर! ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द एवं ज्योतिष तथा आत्मा से भिन्न वस्तुओं का ज्ञान य सब अपरा विद्या है। वह परमात्मा अदृश्य एवम् अग्राह्य है यह गोत्र (नाम) हीन, रूप हीन, नेत्र हीन श्रोत्र हीन, और हाथ पैर से बिल्कुल रहित है नित्य है व्यापक है, सब में रहने वाला अत्यन्त सूक्ष्म अव्यय (परिणाम रहित) तथा सब प्राणियों का कारण है। धीर (विद्वान्) पुरुष उस परमात्मा को अपने अन्दर देखते हैं। वह सर्वज्ञ है और सर्व विद्याओं का आकार है। उसका तप ज्ञानमय है। और उस रुद्र भगवान से इस लोक में जगत के समूह अन्न रूप में उत्पन्न होते हैं। रस्सी में सर्प की भांति यह सारा जगत् उस ब्रह्म के अन्दर सत्य के समान ही जान पड़ता है। वह ब्रह्म अक्षर (अविनाशी) सत्य है। उसको जान कर प्राणी बन्धन से छूट जाता है। ज्ञान से ही संसार (आवागमन) का नाश होता है कर्म से नहीं। इस लिये (उस ज्ञान के लिये) श्रोत्रिय (वेदवित्) ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास शास्त्र विधि के अनुसार जाय। गुरु उसको ब्रह्म और आत्मा[1] का बोध कराने वाली पराविद्या का उपदेश करे।

इस प्रकार मनुष्य जानि गूढ़ साक्षात् अक्षर-ब्रह्म को यदि जान ले तो वह अविद्यारूपी महाग्रन्थि को छेद कर सनातन शिव को प्राप्त होता है। ॐकार धनुष है आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य कहलाता है इस लिये सावधानता से लक्ष्य को वेधने के लिये बाण के समान तन्मय हो जाय। लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म सर्वगत है और शर (जीव) सब में रहता है तथा तेज फल वाला (प्रणव के ध्यान मे सुसंस्कृत) है। वेधने वाला ज्ञाता सर्व गत है। शिव ही लक्ष्य है इसमें संशय नहीं। वहां चन्द्र अथवा सूर्य का स्वरूप प्रकाश नहीं करता वायु नहीं बहती। वहां सब देवता भी नहीं है। वह यह परमात्मा देव सारे कार्य पदार्थों का यथार्थ तत्व है। स्वय शुद्ध एवम् रजोगुण से रहित होकर प्रकाशमान है। इस शरीर मे जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी साथ रहते हैं। इसमें जीव कर्म फल का भोक्ता है और महेश्वर फल भोक्ता नहीं है। महेश्वर केवल साक्षी रूप से विना भोग के स्वय प्रकाशित होता है। इन दोनों मे भेद माया से कल्पित है। जिस प्रकार घट में रहने वाला आकाश घटाकाश है और मठ में रहने वाला आकाश मठाकाश है और यह मुख्य आकाश के भेद से कल्पित है इसी प्रकार जीव और शिव रूप से एकत्व में दो तत्व कल्पित है।

वास्तविक शिवरूप परमेश्वर साक्षात् चैतन्य स्वरूप है और जीव भी स्वरूपतः चैतन्यात्मक है। चित (ज्ञान) चैतन्य स्वरूप से भिन्न नहीं है। क्योंकि दोनों ही चैतन्य स्वरूप हैं। यदि भिन्न हो तो उनकी जडरूपता हो जायगी, क्योंकि

रहित है तथा सत् चित् आनन्दरूप है। यह वाणी और मन का विषय नहीं है। इसको सब प्रकार से जानने से हे शुकदेव इस सारे दृश्य प्रपंच का ज्ञान प्राप्त होता है। सब कुछ उन्हीं का स्वरूप ज्ञान से भिन्न कुछ भी नहीं है।

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—एक परा दूसरी अपरा। हे मुनीश्वर! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द एवं ज्योतिष तथा आत्मा से भिन्न वस्तुओं का ज्ञान ये सब अपरा विद्या है। वह परमात्मा अदृश्य एवम् अग्राह्य है वह गोत्र (नाम) हीन, रूप हीन, वर्ण हीन श्रोत्र हीन, और हाथ पैर से बिल्कुल रहित है, नित्य है, व्यापक है सब में रहने वाला अत्यन्त सूक्ष्म अव्यय (परिणाम रहित) तथा सब प्राणियों का कारण है। धीर (विद्वान्) पुरुष उस परमात्मा को अपने अन्दर देखते हैं। वह सर्वज्ञ है और सर्व विद्याओं का आधार है। उसका तप ज्ञानमय है। और उस अक्षर भगवान से इस लोक में जगत के समूह नाम-रूप में उत्पन्न होते हैं। रज्जु में सर्प की भाँति यह सारा जगत् उस ब्रह्म के अन्दर सत्य के समान ही जान पड़ता है। यह ब्रह्म अक्षर (अविनाशी) सत्य है। उसको जान कर प्राणी बन्धन से छूट जाता है। ज्ञान से ही संसार (आवागमन) का नाश होता है कर्म से नहीं। इस लिये (उस ज्ञान के लिये) श्रोत्रिय (वेदविद्) ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास शास्त्र विधि के अनुसार जाय। गुरु उसको ब्रह्म और आत्मा का बोध कराने वाली पराविद्या का उपदेश करे।

इस प्रकार मनुष्य जानि गूढ़ साक्षात् अक्षर-ब्रह्म को यदि जान ले तो वह अविद्यारूपी महाग्रन्थि को छेद कर सनातन शिव को प्राप्त होता है। ॐकार धनुष है आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य कहलाता है इस लिये सावधानता से लक्ष्य को बेधने के लिये बाण के समान तन्मय हो जाय। लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म सर्वगत है और शर (जीव) सब में रहता है तथा तेज फल वाला (प्रणव के ध्यान मे सुसंस्कृत) है। बेधने वाला ज्ञाता सर्व गत है। शिव ही लक्ष्य है इसमें सशय नहीं। वहां चन्द्र अथवा सूर्य का स्वरूप प्रकाश नहीं करता वायु नहीं बहती। वहां सब देवता भी नहीं है। वह यह परमात्मा देव सारे कार्य पदार्थों का यथार्थ तत्व है। स्वय शुद्ध एवम् रजोगुण से रहित होकर प्रकाशमान है। इस शरीर मे जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी साथ रहते हैं। इसमें जीव कर्म फल का भोक्ता है और महेश्वर फल भोक्ता नहीं है। महेश्वर केवल साक्षी रूप से बिना भोग के स्वयं प्रकाशित होता है। इन दोनों में भेद माया से कल्पित है। जिस प्रकार घट मे रहने वाला आकाश घटाकाश है और मठ मे रहने वाला आकाश मठाकाश है और यह मुख्य आकाश के भेद से कल्पित है इसी प्रकार जीव और शिव रूप से एकत्व में दो तत्व कल्पित है।

वास्तविक शिवरूप परमेश्वर साक्षात् चैतन्य स्वरूप है और जीव भी स्वरूपतः चैतन्यात्मक है। चित (ज्ञान) चैतन्य स्वरूप से भिन्न नहीं है। क्योंकि दोनों ही चैतन्य स्वरूप हैं। यदि भिन्न हो तो उनकी जडरूपता हो जायगी, क्योंकि

चैतन्य से भिन्न सभी जड़ हैं। निश्चय ही चित् (चैतन्य) सबका एक है। (श्रुत्यनुकूल) तर्क तथा प्रमाण के द्वारा भी चैतन्य की एक रूपता निश्चित होने से चैतन्यत्व की एकता का ज्ञान होजाने पर शोक नहीं रहता और न मोह ही रहता है। समस्त जगत के अधिष्ठान रूप सत्य चिद्घन रूप अद्वैत परमात्मस्वरूप शिव को प्राप्त होता है। पर शिव में ही है। ऐसा निश्चय करके मुनि शोक से मुक्त होजाते हैं। जिसके अविद्या काम क्रोधादि दोष क्षीण होगये हैं, एसे पुरुष अपने शरीर में स्वयं प्रकाश एवम् सबके साक्षी परमात्मा को देखते हैं परन्तु जो माया से आवृत होते हैं वे उसे नहीं देख पाते इस प्रकार जिस श्रेष्ठ योगी को अपने स्वरूप का ज्ञान रहता है उस पूर्ण स्वरूप योगी को कहीं भी जाना आना नहीं पड़ता आकाश सम्पूर्ण और एक है यह कहीं नहीं जाता इसी प्रकार आत्म स्वरूप को जानने वाला कहीं नहीं जाता यह मुनि जो निश्चय पूर्वक उस परब्रह्म को जानता है अपने स्वरूप में स्थित होकर सत् चित् आनंद स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

* हरि ॐ तत्सत् *

—रुद्र हृदयोपनिषद्।

(ह) ॐ कार स्वरूप एक अक्षर अनेक स्वरूपी किस प्रकार हुआ? इस सम्बन्ध में नारायण ब्रह्मा को कहने लगे कि प्रथम एक अद्वितीय रूप ब्रह्म था। उससे अव्यक्त तथा प्रकाशरूप अक्षर हुआ। इस अक्षर में से महत् महत् में से अहंकार अह

कार से पंचतन्मात्रा तथा उसमे से पंच महाभूत हुये। यह अक्षर पञ्च महाभूतों से वेष्ठित है मै अक्षर रूप हूँ मै ॐ कार रूप हूँ, मै अजर अभय अमृत ब्रह्म तथा अभय रूप हूँ। मैं ही मुक्त तथा अक्षर रूप हूँ एक तथा अद्वय ब्रह्म सत्ता मात्र रूप विश्वरूप प्रकाशरूप तथा व्यापकरूप है। माया को लेकर चाररूप होता है। रोहिणी पुत्र बलराम विश्वात्मक तथा एकाक्षर की उत्पत्तिरूप है। तेज स्वरूप तथा उकार अक्षर का संभव रूप प्रद्युम्न है। प्राज्ञ स्वरूप तथा मकार अक्षर के संभव रूप अनिरुद्ध है। अर्धमात्रा स्वरूप श्रीकृष्ण है कि जिस में समस्त विश्व स्थिति किये हुये है। श्रीकृष्ण स्वरूप जगत को उत्पन्न कर्ता रूप तथा मूल प्रकृति रुक्मणि है। श्रुति वृज की गोपियां है जो प्रणव रूप हैं। तथा रुक्मणि को प्रकृति रूप ब्रह्मवादी जन कहते है। इस लिये विश्व मे स्थिति वाले गोपाल ॐकार स्वरूप हैं। ब्रह्मवादी कली तथा ॐकार को एक रूप कहते है। —(गो० उ० ता० उ०)

१३ (अ) जीव.—

"कार्योपाधिरय जीवः कारणोपाधिरीश्वरः"

दोहा.—

घट जल ख-प्रतिबिंब सम मति में ब्रह्म अभास।
अधिष्ठान कूटस्थ सह, जीव कहीजे तास ॥ १ ॥
देहादिक जे ईश के, ताको सुनहु विचार।
होवे जाके ज्ञान ते, ईश्वर को निर्धार ॥ २ ॥

चैतन्य से भिन्न सभी जड़ हैं। निश्चय ही चित् (चैतन्य) सबका एक है। (भृत्यनुकूल) तर्क तथा प्रमाण के द्वारा भी चैतन्य की एक रूपता निश्चित होने से चैतन्यत्व की एकता का ज्ञान होजाने पर शोक नहीं रहता और न मोह ही रहता है। समस्त जगत के अधिष्ठान रूप सत्य चिद्घन रूप अद्वैत परमात्मस्वरूप शिव को प्राप्त होता है। पर शिव मैं ही हूँ। ऐसा निश्चय करके मुनि शोक से मुक्त होजाते हैं। जिनके अविद्या काम क्रोधादि दोष क्षीण होगये हैं ऐसे पुरुष अपने शरीर में स्वयं प्रकाश एवम् सबके साक्षी परमात्मा को देखते हैं परन्तु जो माया से आवृत्त होते हैं वे उसे नहीं देख पाते इस प्रकार जिस श्रेष्ठ योगी को अपने स्वरूप का ज्ञान रहता है उस पूर्ण स्वरूप वाले को कहीं भी जाना आना नहीं पड़ता आकाश सम्पूर्ण और एक है वह कहीं नहीं जाता इसी प्रकार आत्म स्वरूप को जानने वाला कहीं नहीं जाता, वह मुनि जो निश्चय पूर्वक इस परब्रह्म को जानता है अपने स्वरूप में स्थित होकर सत् चित् आनंद स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

—रुद्र हृदयोपनिषद्।

(ख) ॐ कार स्वरूप एक अक्षर अनेक स्वरूपी किस प्रकार हुआ? इस सम्बन्ध में नारायण ब्रह्मा को कहने लगे कि प्रथम एक अद्वितीय रूप ब्रह्म था। उससे अव्यक्त तथा प्रकाशरूप अक्षर हुआ। इस अक्षर में से महत्, महत् में से अहंकार अहं

द्वैत रहित एकान्त में दृढ़ निश्चय वाला होकर वास करे।

—(स्कन्दोपनिषद् का सार)

(स) जड देहादि को आत्मपने के भाव से मानना बंधन है और ऐसे अभिमान की निवृत्ति मोक्ष है। जड देहादि में आत्म भाव का अभिमान कराने वाली अविद्या और मय अभिमान निवृत्ति होता है वह विद्या कहलाती है। जिसमें शब्दादि का अभाव होते हुए भी अन्तःकरण द्वारा वासना शब्दादि की प्रतीति होती है वह है स्वप्न जिसमें श्रोत्रादि १४ करणों द्वारा स्थूल शब्दादि की प्रतीति होती हैं, वह जाग्रत, तथा जिसमें श्रोत्रादि १४ करणों के उपराम होने से विशेष विज्ञान का अभाव होता है वह सुषुप्ति कहाती है। जो तीन अवस्था के भावाभाव का साक्षी और स्वय भावाभाव रहित है वह तुरीय है। स्थूल शरीर अन्नमय कोष प्राणादि प्राणमय कोष बुद्धितया ज्ञानेन्द्रियों सहित विज्ञानमय कोष और यह चारों कोष जिस अज्ञान में स्थित होते हैं वह अज्ञान आनन्दमय कोष है। देहादिरूप उपाधिवान चेतन जीव कहाता है। इस जीव भावकी निवृत्ति ज्ञान बिना नहीं होती। आत्मा की उपाधि रूप लिंग शरीर हृदय ग्रन्थि कहाती है और उसमे जो चैतन्य प्रकाशता है वह क्षेत्रज्ञ कहाता है। जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के आविर्भाव तथा तिरोभाव का द्रष्टा तथा स्वय आविर्भाव तिरोभाव रहित स्वय प्रकाश है वह साक्षी कहाता है। सर्व प्राणियों की मिथ्या रूप बुद्धि मे निर्विकार पणे स्थित रहा हुआ चैतन कूटस्थ कहाता है। सर्व

जग के उत्पत्ति थिति लय तीन अवस्था एह।
विराट् सूत्रातम अरु, अव्याकृत ये देह ॥ ३ ॥
सत्वादिक गुण वस्तु है माया केरा विभागि।
वैश्वानर हिरण्यगर्भ, ईश्वर ये अभिमानि ॥ ४ ॥
—(वा० बो० उ० २। ७-८)

(ख) जीव ही शिव है:—श्री स्कंद कहते हैं—हे महादेव! आपकी कृपा-कोर से मैं अच्युत हूँ चिदानन्द हूँ और शिव हूँ। अंतःकरण विषयाकार ज्ञान से भिन्न स्वरूप प्रतीत नहीं होता और अन्तःकरण के नाश द्वारा ज्ञान मात्र 'हरि' ही रहता है। मैं केवल ज्ञान और अजन्मा हूँ मेरे से भिन्न सब जड़ स्वप्न के समान है। जीवों का तथा सबका जो द्रष्टा है वह ज्ञान-मात्र अच्युत है, वही महादेव है और वही महाहरि है। वही ज्योतियों की ज्योति वही परमेश्वर और वही ब्रह्म है। वह ब्रह्म मैं हूँ। इसमें संशय नहीं। जीव केवल शिव है। जिस प्रकार छिलके (भूसे) से बंधा हुआ चावल है और छिलके के अभाव में चोखा है उसी प्रकार कर्म से बंधा हुआ जीव है और कर्म के नाश में सदा शिव है। शिव का हृदय विष्णु और विष्णु का हृदय शिव है। विष्णु शिव मय है और शिव विष्णु मय है। देह देवालय है और जीव केवल शिव है। इस शिव का अज्ञानरूप निर्माल्य निकालकर 'सोऽहं' भाव द्वारा पूजन करना चाहिये। अभेद दर्शन ज्ञान और विषय रहित मन यह ध्यान है। मनके मलका त्याग यह स्नान और इंद्रियों का निग्रह यह शौच है। ब्रह्मरूप अमृत यह भिक्षा है। साधक

द्वैत रहित एकान्त में दृढ़ निश्चय वाला होकर वास करे।

—(स्कदोपनिषद् का सार)

(स) जड देहादि को आत्मपने के भाव से मानना बंधन है और ऐसे अभिमान की निवृत्ति मोक्ष है। जड़ देहादि में आत्म भाव का अभिमान कराने वाली अविद्या और मय अभिमान निवृत्ति होता है वह विद्या कहलाती है। जिसमे शब्दादि का अभाव होते हुए भी अन्त:करण द्वारा वासना शब्दादि की प्रतीति होती है वह है स्वप्न जिसमे श्रोत्रादि १४ करणों द्वारा स्थूल शब्दादि की प्रतीति होती है, वह जाग्रत, तथा जिसमें श्रोत्रादि १४ करणों के उपराम होने से विशेष विज्ञान का अभाव होता है वह सुषुप्ति कहाती है। जो तीन अवस्था के भावाभाव का साक्षी और स्वय भावाभाव रहित है वह तुरीय है। स्थूल शरीर अन्तमय कोष प्राणादि प्राणमय कोष बुद्धितया ज्ञानेन्द्रियों सहित विज्ञानमय कोष और यह चारों कोष जिस अज्ञान मे स्थित होते है वह अज्ञान आनदमय कोष है। देहादिरूप उपाधिवान चेतन जीव कहाता है। इस जीव भावकी निवृत्ति ज्ञान बिना नहीं होती। आत्मा की उपाधि रूप लिंग शरीर हृदय ग्रन्थि कहाती है और उसमे जो चेतन्य प्रकाशता है वह क्षेत्रज्ञ कहाता है। जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के आविर्भाव तथा तिरोभाव का द्रष्टा तथा स्वय आविर्भाव तिरोभाव रहित स्वय प्रकाश है वह साक्षी कहाता है। सर्व प्राणियों की मिथ्या रूप बुद्धि में निर्विकार पणे स्थित रहा हुआ चैतन कूटस्थ कहाता है। सर्व

जग के उत्पत्ति थिति लय तीन अवस्था यह।
विराट् सूत्रातम अरु, अव्याकृत ये कह ॥३॥
सात्त्विक गुण वस्तु है माया वश विज्ञानि।
वैश्वानर हिरण्यगर्भ ईश्वर य अभिमानि ॥४॥
—(बा० बो० उ० ३।७-८)

(ख) जीव ही शिव है:—श्री स्कन्द कहते हैं—हे महादेव! आपकी कृपा-कटाक्ष से मैं अच्युत हूँ चिदानन्द हूँ और शिव हूँ। अंतःकरण विषयाकार होने से शिव स्वरूप प्रतीत नहीं होता और अन्तःकरण के नाश द्वारा ज्ञान मात्र 'हरि' ही रहता है। मैं केवल ज्ञान और अजन्मा हूँ मेरे से भिन्न सब जड़ स्वप्न के समान है। जीवों का तथा जड़का जो द्रष्टा है वह ज्ञान-मात्र अच्युत है, वही महादेव है और वही महाहरि है। वही ज्योतियों की ज्योति वही परमेश्वर और वही ब्रह्म है। वह ब्रह्म मैं हूँ। इसमें संशय नहीं। जीव केवल शिव है। जिस प्रकार छिलके (भूसे) से बंधा हुआ चावल है और छिलके के अभाव में चोखा है उसी प्रकार कर्म से बंधा हुआ जीव है और कर्म के नाश से सदा शिव है। शिव का हृदय विष्णु और विष्णु का हृदय शिव है। विष्णु शिव मय है और शिव विष्णु मय है। देह देवालय है और जीव केवल शिव है। इस शिव का अज्ञानरूप निर्माल्य निकालकर 'सोऽहं' भाव द्वारा पूजन करना चाहिये। अभेद दर्शन ज्ञान और विषय रहित मन यह ध्यान है। मनके मलका त्याग यह स्नान और इंद्रियों का निग्रह यह शौच है। ब्रह्मरूप अमृत यह भिक्षा है। साधक

त्वम् पद वाच्य जो असि-पद अर्थाश्र व्यापक चैतन है, वही दोनों पद का सयोजक है—वही तू है। यह त्रिगुणात्मिका माया मिथ्या अर्थात्-परिवर्तनशील है, और तू अन्धकार रहित सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है।

ऐसे कल्याण स्वरूप, नित्य-आनन्द-प्रदाता, हरि-हर-स्वरूप गुप्तानन्द का भजन करने से काल-पाश कट जाती है।

माया सहित ब्रह्म है, ईश सु तत्पद वाच्य।
माया रहित ब्रह्म है, तत्पद लक्ष्य अवाच्य ॥१॥
चिदाभास सह बुद्धियुत, चित् सो त्व पद वाच्य।
विन उपाधि कूटस्थ चित्, त्वं पद लक्ष्य अवाच्य ॥२॥
—(वा० बो०)

अर्थः—परमात्मा देव सर्वत्र व्यापक है, ऐसा तत् पद का अर्थ है। तथा आगे इस रूप कहा हुआ जीवात्मा वह त्व पद का अर्थ है। तत् पदार्थ रूप ईश्वर का तथा त्व पदार्थ रूप जीव का जो परस्पर भेद है, वह वास्तविक रीति से भेद नहीं हैं, किन्तु उपाधि के कारण भेद दिखाता है। श्रुति में क्षर तथा व्यक्त इन दो नामों से कहा हुआ जो अन्तःकरणादि कार्य प्रपच है, वह त्व पदार्थ रूप जीव की उपाधि है। तथा श्रुति मे अक्षर और अव्यक्त इन दो नामों से कहा हुआ जो कारण अज्ञान है, वह कारण अज्ञान तत् पदार्थ-रूप ईश्वर की उपाधि है। वेद में कहा है कि—"कार्योपाधिरय जीवः कारणोपाधि-रीश्वरः", अन्तःकरणादि रूप कार्य उपाधिवाला जीव है, तथा अज्ञान-रूप कारण उपाधि वाला ईश्वर है। इस कार्य

तत्त्वं पद में असि[१४] जो चेतन दोनों का सन्धे।
त्रिगुणात्मक मिथ्या माया[१६] शुद्धातम[१७] सत् चित् आनन्दे[१८] ॥८॥

भावार्थः तत्त्वमसि जो वेद का महा वाक्य है इसका पदच्छेद-'तत्+त्वम्+असि' है, इसमें तत् पद का लक्ष्य और

शरीरों के अन्दर रहा हुआ चेतन अन्तर्यामी कहाता है। चिन्मात्र स्वरूप प्रत्यगात्मा त्वं पद का अर्थ है और अविनाशी ज्ञानरूप अनन्तरूप तथा आनन्दरूप जो परमात्मा यह तत् पद का अर्थ है माया अनादि कार्यरूप से विनाशी सत् से असत् और असत् से सत् तथा सत् असत् से विलक्षण अज्ञान काल में प्रथम कार्य दिखलाने वाली, ज्ञान काल में नहीं प्रतीत होने वाली और ऐसी अथवा वैसी न कह जा सकने वाली है।
—(सर्वोपनिषत्सार)।

(१४) शिवः—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म।
—(तैत्तरीय उपनिषद्)

अर्थः—जिससे हिरण्यगर्भ से लेकर कीट पर्यन्त प्राणी उत्पन्न होते हैं जिसमें उत्पन्न होकर प्राण धारण करते हैं, अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं उसको जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है—[वही शिव है वही तुम हो]

(१५) तत्त्वमसिः—

त्वम् पद वाच्य जो असि-पद अर्थाश्र व्यापक चैतन है, वही दोनों पद का संयोजक है—वही तू है। यह त्रिगुणात्मिका माया मिथ्या अर्थात्-परिवर्तनशील है, और तू अन्धकार रहित सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है।

ऐसे कल्याण स्वरूप, नित्य-आनन्द-प्रदाता, हरि-हर-स्वरूप गुप्तानन्द का भजन करने से काल-पाश कट जाती है।

माया सहित ब्रह्म हैं, ईश सु तत्पद वाच्य।
माया रहित ब्रह्म है, तत्पद लक्ष्य अवाच्य ॥१॥
चिदाभास सह बुद्धियुत, चित् सो त्वं पद वाच्य।
बिन उपाधि कूटस्थ चित्, त्वं पद लक्ष्य अवाच्य ॥२॥
—(वा० बो०)

अर्थ—परमात्मा देव सर्वत्र व्यापक है, ऐसा तत् पद का अर्थ है। तथा आगे हस रूप कहा हुआ जीवात्मा वह त्व पद का अर्थ है। तत् पदार्थ रूप ईश्वर का तथा त्व पदार्थ रूप जीव का जो परस्पर भेद है, वह वास्तविक रीति से भेद नहीं है, किन्तु उपाधि के कारण भेद दिखाता है। श्रुति में क्षर तथा व्यक्त इन दो नामों से कहा हुआ जो अन्तःकरणादि कार्य प्रपच है, वह त्व पदार्थ रूप जीव की उपाधि है। तथा श्रुति में अक्षर और अव्यक्त इन दो नामों से कहा हुआ जो कारण अज्ञान है, वह कारण अज्ञान तत् पदार्थ-रूप ईश्वर की उपाधि है। वेद में कहा है कि—"कार्योपाधिरथ जीवः कारणोपाधि-रीश्वरः", अन्तःकरणादि रूप कार्य उपाधिवाला जीव है, तथा अज्ञान-रूप कारण उपाधि वाला ईश्वर है। इस कार्य

तथा कारणरूप दामों उपाधियों का अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म है। वह परमात्मा बुद्धि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध को प्राप्त होने से अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जाने है। तभी सो परमात्मा देव जीव भाव को प्राप्त होवे है। तभी जीव भाव करिके सो परमात्मा देव पुण्य पाप के वशसे नाना प्रकार के सुख दुःखों कू भोगे है। और वही परमात्मा देव जभी माया कृत जीव भाव का परित्याग करिके आपणे कूं अद्वितीय ब्रह्मरूप जाने है तभी सो परमात्मा देव सब बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष रूप अमृतभाव को प्राप्त होवे है। जैसे वास्तव में स्थूल अधिक भाव से रहित जो आकाश है सो आकाश जभी सूची (सुई) के मूल छिद्र विषे स्थित होता है तभी यह आकाश अल्प कहा जावे है, और सोही आकाश जभी ब्रह्माण्ड रूप उपाधि विषे स्थित होवे है तब ही यह आकाश महान् कहा जाता है। तैसे वास्तव में जीव ईश्वरभाव तें रहित जो यह परमात्मा देव है सो परमात्मा देव जभी बुद्धिरूप उपाधि विषे स्थित होवे है तभी सो परमात्मा देव जीव सत्ता कू प्राप्त होवे है, और सोई ही परमात्मा देव जभी माया रूप उपाधि विषे स्थित होवे है तभी सो परमात्मा देव ईश्वर सत्ता कूं प्राप्त होवे है। यातैं कार्य कारण रूप उपाधि के भेद करिके ही जीव ईश्वर का भेद प्रतीत होय है। वास्तव में जीव ईश्वर का भेद नहीं। यातैं ता कल्पित उपाधियों का परित्याग करिके यह जीवात्मा रूप हंस जभी आपणे कूं अद्वितीय ब्रह्मरूप करिके जाने है तभी यह जीवात्मा मायारूप कारण सहित सर्व काम आपादि पाशों से मुक्त होवे है।

शंकाः—हे भगवन् ! ऐसे अद्वितीय आत्मा विषे जीव ईश्वर ब्रह्म इत्यादि भेद व्यवहार कौन करावे है ?

समाधानः—एक ईश्वर, दूसरा जीव, तीसरा शुद्ध ब्रह्म ये तीनों कू शास्त्रवेत्ता पुरुष अनादि कहे हैं। सो तिन तीनों विषे जो अनादिपणा है तथा जन्म ते रहितपणा है सो भी या माया करिके कल्पित है। तात्पर्य यह कि–माया शक्ति ही तिन ईश्वरादिकों कूं अनादि रूप करिके कल्पना करे है, और आकाशादिक प्रपञ्च कू सादिरूप करिके कल्पना करे है। और उस माया ने जीव ईश्वर शुद्ध ब्रह्म या तीनों विषे जभी अनादिपणा कल्पित किया तभी तिस जीव ईश्वर का भेद तथा सा माया तथा माया चेतन का सम्बन्ध या तीनों विषे जभी अनादिपण अर्थ तैं ही सिद्ध होवे है। यह वार्ता सुरेश्वराचार्य नैं भी कथन करी है। तहां

श्लोकः—"जीव ईशो विशुद्धाचिद्विभागश्चतयोर्द्वयोः ।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादय. ॥"

अर्थात्ः—जीव, ईश्वर, शुद्धचेतन, तिन दोनों का परस्पर भेद, अविद्या, अविद्या चेतन का सम्बन्ध, यह षट् वेदान्त-शास्त्र विषे अनादि होवे है ॥ १ ॥ इस तैं आदि लेके जो अ-द्वितीय आत्मा विषे भेद प्रतीत होवे हैं सो सम्पूर्ण माया करिके ही प्रतीत होवे है, और यह अधिकारी पुरुष जभी जीव, ईश्वर, शुद्ध चेतन या तीनों कू अपने आत्मा तें अभिन्न करिके जानै है, तथा आपणे स्वरूप कू सर्वत्र व्यापकरूप करिके जानै है, तभी यह अधिकारी पुरुष मोक्ष कू प्राप्त होवे है"।

(१९) माया:—

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
नहि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा॥
—(पंच० महा० ४७)

भावार्थ—जो वस्तु सत्य और असत्य से निराली है, वह परमात्मा की शक्ति अर्थात् माया है, जैसे इन्द्रजाल। इस माया में मिथ्या भ्रम उत्पन्न करने के सिवाय मोह शक्ति भी है। यह माया पंच भूतों से रहित इनका कारण रूप है। जैसे दाहकता आदि कार्य से निराला उसका कारण रूप अग्नि। नाम रूपात्मक पंच भूतमयी सृष्टि रूप कार्य से यह माया जानी जाती है जैसे दाहकता रूप कार्य से अग्नि का ज्ञान होता है। सत्स्वरूप परमात्मा के किसी अंश में $\frac{1}{10}$ यह जग जननी माया रहती है जैसे पृथ्वी के किसी अंश में घड़ा आदि बनाने की चिकनी मिट्टी जैसे चिकनी मिट्टी में घड़ा बनाने आदि की शक्ति को मिट्टी से जुदी दूसरी वस्तु नहीं कहते हैं ऐसे ही परमात्मा की माया को दूसरा तत्त्व नहीं कहते हैं। जब कि शक्ति ही दूसरा तत्त्व नहीं है तो उस शक्ति का कार्य मिथ्यारूप जगत् दूसरा तत्त्व कैसे हो सकता है! जैसे दीवार या कागज में अनेक रंगों का मेल होना चित्र कहलाता है ऐसे ही सत्स्वरूप आत्मा के किसी अंश $\frac{1}{10}$ में माया से जगत् की कल्पना (भ्रम से मान लेना) होती है।

—(पंच० महा० ४७–५६)

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥
—(पंच० चित्र० १३३-१४६)

भावार्थः—जिसमें बुद्धि न चले उसे माया कहते हैं, माया को प्रकृति जानो और मायावान् को महेश्वर, इस (ईश्वर) के अंशरूपों में यह सब संसार व्याप्त है, यह माया इन्द्रजालवत् है, यह मोहरूपी माया तीन प्रकार से देख पडती है। १ तुच्छ-रूपा, २ वस्तुरूपा, ३ अनिर्वचनीया। जान लेने पर शान्त हो जाती है, इससे तुच्छ है। क्यों कि- जब तक नहीं जानते तभी तक उसका चमत्कार रहता है। फिर तो 'यह माया है' ऐसा जान लेने पर शान्त होजाता है। वस्तु रूप से देख पडती है इससे वस्तु रूपा है। देख पड़ती है और फिर नष्ट होजाती है तथा अघटित घटना करती है इससे अनिर्वचनीया है। संसार को स्पष्ट देखते हैं, परन्तु—उसका वर्णन करना सामर्थ्य के बाहर है, इसलिये मायारूप संसार आश्चर्यमय है। जैसे जल में द्रवता, अग्नि मे ऊष्णता, स्वयं है ऐसे ही माया में अघटित घटना स्वय है। जिस प्रकार से माया परतंत्र है; उसी प्रकार स्वतत्र भी है। विना चेतन के नहीं मालूम होती है इससे परतंत्र है। असग परमात्मा को जीव और ईश्वर कर देती है इससे स्वतत्र है। जैसे वस्त्र के समेटन और फैलाने पर उसमें बने हुये चित्रों का न देख पड़ना व देख पड़ना होता है, ऐसे ही माया के द्वारा सृष्टि का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होना है।

(१६) माया:—

> निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
> नहि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतःपुरा॥
>
> —(पंच० महा० ४७)

भावार्थ—जो वस्तु सत्य और असत्य से निराली है, वह परमात्मा की शक्ति अर्थात् माया है, जैसे इन्द्रजाल। इस माया में मिथ्या भ्रम उत्पन्न करने के सिवाय मोह शक्ति भी है। यह माया पंच भूतों से रहित इनका कारण रूप है। जैसे दाहकता आदि कार्य से निराला उसका कारण रूप अग्नि। नाम रूपात्मक पंच भूतमयी सृष्टि रूप कार्य से यह माया जानी जाती है जैसे दाहकता रूप कार्य से अग्नि का ज्ञान होता है। सत्यरूप परमात्मा के किसी अंश में $\frac{1}{10}$ यह जग जननी माया रहती है, जैसे पृथ्वी के किसी अंश में घड़ा आदि बनाने की चिकनी मिट्टी जैसे चिकनी मिट्टी में घड़ा बनाने आदि की शक्ति को मिट्टी से अलग दूसरी वस्तु नहीं कहते हैं, वैसे ही परमात्मा की माया को दूसरा तत्व नहीं कहते हैं। जब कि शक्ति ही दूसरा तत्त्व नहीं है तो उस शक्ति का कार्य मिथ्यारूप जगत् दूसरा तत्त्व कैसे हो सकता है? जैसे दीवार या कागज में अनेक रंगों का मेल होना चित्र कहलाता है वैसे ही सत्यरूप आत्मा के किसी अंश $\frac{1}{10}$ में माया से जगत् की कल्पना (भ्रम से मान लेना) होती है।

—(पंच० महा० ४७-४६)

आपना आप है पुन्य नहिं पाप है,
जाप अजाप नहिं मधुर खारा।
गुप्त से गुप्त प्रगट से प्रगट,
ध्रुव से ध्रुव चलता अपारा॥

दोहा—ज्ञाता ज्ञान सरूप तें, नहीं रूप अरूप।
सो तो अपना आप है, किसकी दीजै ऊप॥
—(चौदहरत्नसागर)

१८ (अ) दोहाः—

देहादिक प्रपंच ते, न्यारो आतम रूप।
सब विकार विहीन सो पूरण ब्रह्म स्वरूप॥१॥
देह अवस्था तीन है, कोश पंच पुनि आंहिं।
तीन देह के मध्य गत, मैं साक्षी यह नांहि॥२॥
ऐसा जानी रूप निज, ब्रह्म अभिन्न पिछान।
सत्‌चित आनन्द सोऽहै, यह निश्चय सो ज्ञान॥३॥

सच्चिदानन्दः—सत् (असि) + चित् (भाति) + आनन्द (प्रिय) रूप से जो अखंड एक रस त्रिकालाबाध परब्रह्म हैं, वही सच्चिदानन्द-निज आत्मा है। —(बा० बो० १५५)

(ब) आनन्दः—आनन्द के तीन भेद हैः-१ ब्रह्मानन्द, २ विद्यानन्द, विषयानन्द। जिसमें 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' त्रिपुटी नहो, अहंपन का अभिमान नहो और निद्रा भी न हो-उसको निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द, अद्वैतानन्द (नित्यानन्द,

सुषुप्ति (सुख से शयन की दशा) में माया का बीज रहता है। उस सुषुप्ति के माया बीज में जाग्रत-स्वप्न रूप संसार वासना रूप से लीन रहता है, जैसे बीज में पत्र-पुष्प सहित वृक्ष। संसार की वासनाओं में से आदि बुद्धि की वासनाएं हैं, उनमें चेतन का प्रतिबिंब पड़ता है परन्तु सुषुप्ति दशा में स्पष्ट नहीं मालूम होता है। जैसे मेघाकाश। जब चैतन्याभास के साथ वह माया बीज बुद्धि के रूप में उदय होता है तब जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में चैतन्याभास स्पष्ट ज्ञात होता है।

मेघाकाश में जैसे मेघ रहता है ऐसे ही ईश्वर में माया रहती है। जैसे बादल में तुषार रूप से जल के कण रहते हैं ऐसे ही माया में बुद्धि की वासनायें रहती हैं। जैसे तुषार रूप जल में आकाश का प्रतिबिंब पड़ता है ऐसे ही बुद्धि की वासनाओं में चेतन का प्रतिबिंब पड़ता है। इसलिये माया ही ईश्वर और जीव की रचना करती है। जैसे महाकाश के प्रतिबिंब मेघाकाश और जलाकाश हैं ऐसे ही ईश्वर और जीव को परब्रह्म के प्रतिबिंब रूप समझना चाहिये।

(१७) शुमारम—

ज्ञान का ज्ञान अरु ध्यान का ध्यान है,
ब्रह्म का ज्ञान जहान सारा।
जीव का जीव है सीव का सीव है,
ब्रह्म का ब्रह्म कछु नाहिं न्यारा॥

आपना आप है पुन्य नहिं पाप है,
जाप अजाप नहिं मधुर खारा।
गुप्त से गुप्त प्रगट से प्रगट,
ध्रुव से ध्रुव चलता अपारा॥

दोहा—ज्ञाता ज्ञान सरूप तें, नहीं रूप अरूप।
सो तो अपना आप है, किसको दीजे ऊप॥

—(चौदहरत्नसागर)

१८ (अ) दोहाः—

देहादिक प्रपच ते, न्यारो आतम रूप।
सग विकार विहीन सो पूरण ब्रह्म स्वरूप॥१॥
देह अवस्था तीन है, कोश पंच पुनि आंहिं।
तीन देह के मध्य गत, मैं साक्षी यह नाहि॥२॥
ऐसा जानी रूप निज, ब्रह्म अभिन्न पिछान।
सत्चित आनन्द सोऽहं है, यह निश्चय सो ज्ञान॥३॥

सच्चिदानन्दः—सत् (अस्ति) + चित् (भाति) + आनन्द (प्रिय) रूप से जो अखंड एक रस त्रिकालाबाध परब्रह्म है, वही सच्चिदानन्द–निज आत्मा है। —(बा० बो० १५५)

(ब) आनन्दः—आनन्द के तीन भेद हैः–१ ब्रह्मानन्द, २ विद्यानन्द, विषयानन्द। जिसमें 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' त्रिपुटी नहो, अहंपन का अभिमान नहो और निद्रा भी न हो–उसको निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द, अद्वैतानन्द (नित्यानन्द,

दोहा।

पढ़ै जो सन्ध्या आरती, साँझ समय चितलाय।
कोई काल अभ्यासते[१९], समुझै सहज सुभाय ॥१॥

भावार्थः—जो कोई इसे आरती-अष्टक को सायंकाल के समय चित्त लगाकर पढ़ेगा तो कुछ समय बाद अभ्यास करते करते सहज स्वभाव ही—यह सब रहस्य समझ जायगा ॥१॥

और ब्रह्मानन्द कहते हैं। 'आनन्द से प्राणी उत्पन्न होते आनन्द से जीते और आनन्द में ही लय होते हैं'। ऐसे ब्रह्मानन्द को मायिक कहते हैं। अपने पिता वरुण से मायिक ब्रह्मानन्द को ही सुन कर भृगु ने मुख्यानन्द समझ लिया था। माया रूप उपाधि के त्याग से अखंड ब्रह्मानन्द को माया रहित ब्रह्मानन्द कहते हैं। ब्रह्मानन्द की वासना को विद्यानन्द कहते हैं और ब्रह्मानन्द के प्रतिबिंब को विषयानन्द कहते हैं। ऐसा होने पर मुख्य ब्रह्मानन्द में वासनानन्द और प्रतिबिंबानन्द उत्पन्न होते हैं। संसार में इन तीन के सिवाय अन्य कोई आनन्द नहीं है। —(पंचदशी)

१९ (अ) कोई काल अभ्यास ते:—केनोपनिषद् में १२ वाँ मन्त्र है:-"उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव उपनिषदमब्रूमेति ॥१२॥" शिष्य ने कहा-'हे गुरु! अब तुम मुझको ब्रह्मविद्या का भेद बताओ'। तब गुरु ने कहा:—'जो कुछ ब्रह्मविद्या का ज्ञान था वह तुमको सब बता चुका। तब

शिष्य ने कहाः-जो कुछ आपने बताया है इसमे जो शेष रह गया हो, उसको आप बतावें। गुरु ने कहाः-मै ब्रह्म का उपदेश तुझको कर चुका, अब कुछ बताना शेष नहीं। निश्चय अब कुछ बतलाना बाकी नहीं है"। प्रश्न होता है कि गुरु से ब्रह्म-विद्या सुन चुकने पर भी शिष्य को ब्रह्म सम्बन्ध मे सन्देह क्यों रहा, जिससे उसने कहा कि और जो बाकी है वह उप-देश कीजिये ? समाधानः—ब्रह्मविद्या श्रवण अर्थात्-गुरु से उपदेश सुनने, उसको युक्ति से रात दिन विचारने, निदिध्या-सन-उस पर नियम पूर्वक कर्म अभ्यास करने से होती है। और गुरु उपदेश केवल श्रवण है। मनन और निदिध्यासन की कमी होने से शिष्य को ब्रह्मविद्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ। इसी से उसने गुरु से प्रश्न किया। अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिये कुछ काल अभ्यास की परमावश्यकता है इसी लिये दोहे मे सक्षेप रूप से प्राप्ति का मार्ग बतलाया है।

(ब) अभ्यासः—

'अभ्यास' शब्द में अभि, आस-ऐसे दो पद है। 'अभि' अर्थात् समीप एव 'आस' अर्थात् पास रहना-समीप रहना एकही विषय पर लगातार विचारों का प्रवाह चलाना, अर्थात् किसी विषय का हृदय पर चित्र अङ्कित करना है। आस शब्द का अर्थ धनुष्य भी है। इसका भी यही भाव निकलता है कि धनुप के समीप अर्थात् धनुष चलाते समय जैसे उसकी प्रत्यंचा-रस्सी खैंच कर लक्ष वेध जमा के बाण छोड़ा जाता है वैसे ही अभ्यास अर्थात् किसी विषय को

दोहा।

पढ़ै जो सन्ध्या आरती, साँझ समय चितलाय।
कोई काल अभ्यासते[१६], समुझै सहज सुभाय ॥१॥

भावार्थ—जो कोई इस आरती-अष्टक को सायंकाल के समय चित्त लगाकर पढ़ेगा तो कुछ समय बाद अभ्यास करते करते सहज स्वभाव ही-यह सब रहस्य समझ जायगा ॥१॥

और ब्रह्मानन्द कहते हैं। 'आनन्द से प्राणी उत्पन्न होते आनंद से जीते और आनन्द में ही लय होते हैं'। ऐसे ब्रह्मानन्द को मायिक कहते हैं। अपने पिता वरुण से मायिक ब्रह्मानन्द को ही सुन कर भृगु ने मुख्यानन्द समझ लिया था। माया रूप उपाधि के त्याग से अर्थात अद्वैतानन्द को माया रहित ब्रह्मानन्द कहते हैं। ब्रह्मानन्द की वासना को विद्यानन्द कहते हैं और ब्रह्मानन्द के प्रतिबिंब को विषयानन्द कहते हैं। ऐसा होने पर मुख्य ब्रह्मानन्द से वासनानन्द और प्रतिबिंबानन्द उत्पन्न होते हैं। संसार मे इन तीन के सिवाय अन्य कोई आनन्द नहीं है। —(पञ्चदशी)

१६ (अ) कोई काल अभ्यास ते—केनोपनिषद् में १२ वां मन्त्र है-"उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥१२॥" शिष्य ने कहा-'हे गुरु! अब तुम मुझको ब्रह्मविद्या का भेद बताओ'। तब गुरु ने कहा- जो कुछ ब्रह्मविद्या का ज्ञान था वह तुमको सब बता चुका'। तब

देहोऽमितिया बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता ।
नाह् देवश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते ॥३॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्यानिपतिका ।
तस्माद्यत्त सदाकार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः ॥४॥

अर्थः—यह देह यही मैं हूँ–इस प्रकार की जो बुद्धि यह अविद्या कहाती हैं, परन्तु मैं देह नही वरन् चिदात्मा हूँ, इस प्रकार की जो बुद्धि उसका नाम विद्या है ॥१॥

अविद्या ससार की हेतु है और विद्या संसार को निवृत्त करने वाली है इस लिये मोक्षकी इच्छा रखने वाले को विद्याभ्यास में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। (अ० रा०)

यह अभ्यास साधनों करके होता है। इसके सवन्ध में भगवान् रामचन्द्र अपने अनुजा को समझाते हैं, विस्तृत वर्णन इसका अध्यात्म रामायण मे है–उसका साररूप यहां दिया जाता है।

१—सज्जनों का समागम करना यह प्रथम साधन हैं।

२—मेरी कथाओं को करना यह दूसरा साधन है।

३—मेरे गुणों का कथन करना यह तीसरा साधन है।

४ - मेरे वचनों का व्याख्यान करना यह चौथा साधन है।

५ –निष्कपट बुद्धि से ब्रह्मस्वरूप समझकर आचार्य की निरंतर सेवा करना यह पाचवा साधन है।

साम्य करने के लिए-विचारों का एकी करण-समी करण, एवं लड़ी करण करके विषय का ग्रहण किया जाता है, उसको अभ्यास कहते हैं।

लगातार किसी विषय के समीप जाना या उस विषय को समीप लाना एवं उसमें तदाकार होना या उसको तदाकार करना अर्थात् स्वयं अभ्यास बन जाना या अभ्यास को अपने में जमा लेना या अपने को अभ्यास में मिला लेना, या अभ्यास में स्वयं मिल जाना अभेद हो जाना इसको अभ्यास दृढ़ता कहते हैं। "सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया। कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते॥" अर्थात् एकनिष्ठ होकर के जिस विषय में मनुष्य सक्त होता है वह उसी का रूप बन जाता है। जैसे कीट का ध्यान-अभ्यास करके भ्रमर बन जाता है। भगवान् शंकराचार्य की इस उक्ति में-एकनिष्ठा शब्द अनुलक्षणीय है, एवम् ध्यायन्-पद पद स्मरणीय हैं इन्हीं शब्दों का रूप व्यक्त प्रत्यक्ष प्रमाण-कीटक का भ्रमर होना है। यही 'अभ्यास' अभ्यास की दृढ़ता एवम् अभ्यास की सफलता प्रत्यक्ष ईश्वर रूप होना है।

—(विचार दर्शन)

सर्वेषां तु पदार्थानामभ्यासः कारणं परम्।
अनभ्यासेन मन्त्रस्य प्राप्तो योगोऽपि नश्यति ॥१॥
अभ्यासेन स्थिरं चित्तमभ्यासेनानिलच्युतिः।
अभ्यासेन परानन्दो ह्यभ्यासेनात्मदर्शनम् ॥२॥

—(योगरसायन)

देहोऽमितिया बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता ।
नाहं देवश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते ॥३॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्यानिपतिका ।
तस्माद्यत्न सदाकार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः ॥४॥

अर्थः—यह देह यही मै हूँ—इस प्रकार की जो बुद्धि यह अविद्या कहाती है, परन्तु मै देह नहीं वरन् चिदात्मा हूँ, इस प्रकार की जो बुद्धि उसका नाम विद्या है ॥१॥

अविद्या ससार को हेतु है और विद्या ससार को निवृत्त करने वाली है इस लिये मोक्षकी इच्छा रखने वाले को विद्याभ्यास में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। (अ० रा०)

यह अभ्यास साधनों करके होता है। इसके सबन्ध में भगवान् रामचन्द्र अपने अनुजा को समझाते है, विस्तृत वर्णन इसका अध्यात्म रामायण मे है—उसका साररूप यहां दिया जाता है।

१—सज्जनों का समागम करना यह प्रथम साधन है।

२—मेरी कथाओं को करना यह दूसरा साधन है।

३—मेरे गुणों का कथन करना यह तीसरा साधन है।

४- मेरे वचों का व्याख्यान करना यह चौथा साधन है।

५ -निष्कपट बुद्धि से ब्रह्मस्वरूप समझकर आचार्य की निरतर सेवा करना यह पाचवा साधन है।

६—पुण्य शील दया यम नियम का पालन करना और मेरी पूजन में एक निष्ठा रखना यह छठा साधन है।

७—मेरे सांग मंत्र की उपासना करना यह सातवां साधन है।

८—मेरे भक्तों की अधिक पूजा करना सब प्राणियों में मेरी भावना करना बाह्य विषयों में वैराग्य रखना और शान्ति रखना यह आठवां साधन है। तथा—

९—निरन्तर तत्व चिन्तन करना यह नवमा साधन है।

इस प्रकार नवधा भक्ति, अगर नव साधन जिस पुरुषको प्राप्त होते हैं। उस पुरुष को भक्ति होत ही मेरे तत्वका अनुभव होता है और मेरे अनुभव से सिद्ध हुए पुरुष की उसी जन्म में मुक्ति होती है।

(स) जन समाज और व्यावहारिक कार्यों से समय निकाल कर प्रातःकाल तथा सायंकाल अथवा रात्रि को सोते समय किसी शुद्ध पवित्र एकान्त स्थान में अथवा अपनी कोठरी में किवाड़ बन्द करके अभ्यास के लिये बैठ जाओ जिससे कि कोई तुम्हारे अभ्यास में विघ्न न डाल सके निश्चित होकर सुखासन से बैठ जाओ प्रत्येक शरीर के प्रत्येक स्नायु और ज्ञान तन्तु को शिथिल और निश्चेष्ट करो। शान्ति से नासिका से दस बीस दीर्घ श्वांस अभ्यास करो जिससे मन और शरीर शान्त हो। पांच बार मिनिट 'ॐ' का जप करो। इस जपकी ध्वनि व आन्दोलन से तुम्हारे आस पास का वातावरण परम शुद्ध हो जायगा। इसको 'शिव-कवच' कहते

है। शान्ति में तल्लीन हो जाओ और एकाग्र चित्त होकर निम्न शिव भावनाओं को श्रद्धा प्रेम और शान्ति से मन, हृदय और आत्मा मे प्रवेश कराओ। यह सब साधनों में श्रेष्ठ साधन है और सारे दुःखों और दोषों से मुक्त होने का सर्वोत्तम साधन है–उपाय है। मनुष्य जिस वस्तु की भावना करता है मनमे रचना करता है, उस का मन उस वस्तु के आकार वाला बन जाता है। और अन्तःकरण में दीर्घकाल तक जिस वस्तु की स्थिति रहती है वह वही होजाता है। यह मानस शास्त्रका अचूक सिद्धान्त है। इस लिये जो व्यक्ति अपना जीवन सुख शान्ति एव अखण्ड आनन्द मय बनाना चाहता हो वह इस साधन का अभ्यास चार छः मास करके देखे, उसे अलौकिक आनन्द और शान्ति प्राप्त होगी।

ॐ आत्मतत्वाय शोधयामि स्वाहा।
ॐ विद्यातत्वाय शोधयामि स्वाहा।
ॐ शिवतत्वाय शोधयामि स्वाहा।

इस प्रकार मंत्र बोलकर तीन आचमन करके जल प्राशन करने से शरीर मन और आत्मा स्थिर होता है इसका भावार्थ यह है कि मेरा जो जीवात्म तत्व (Energy) है, उसे मैं शुद्ध करता हूँ। और वह अन्तर्यामी तत्व मुझे प्रेरणा करे। ज्ञान का तत्त्व (Energy) है। वह मुझे सपूर्ण ब्रह्मविद्या प्रदान कर अन्तर मे प्रकाश करे और उत्तरोत्तर मेरा कल्याण करने वाला, प्रगति करने वाला जो शिव तत्व है, वह मुझे सन्मार्ग प्रदर्शित करे।

६—पुण्य शील एवं यम नियम का पालन करना और मेरी पूजन में एक निष्ठा रखना यह छठा साधन है।

७—मेरे सांग मंत्र की उपासना करना यह सातवाँ साधन है।

८—मेरे भक्तों की अधिक पूजा करना सब प्राणियों में मेरी भावना करना बाह्य विषयों म वैराग्य रखना और शान्ति रखना यह आठवाँ साधन है। तथा—

९—निरन्तर तत्व चिन्तन करना यह नवमा साधन है।

इस प्रकार नवधा भक्ति, अगर नव साधन जिस पुरुषको प्राप्त होते हैं। उस पुरुष को भक्ति होते ही मेरे तत्वका अनुभव होता है और मेरे अनुभव से सिद्ध हुए पुरुष की उसी जन्म में मुक्ति होती है।

(ख) अन समाज और व्यावहारिक कार्यों से समय निकाल कर प्रातःकाल तथा सायंकाल अथवा रात्रि को सोते समय किसी शुद्ध पवित्र एकान्त स्थान म अथवा अपनी कोठरी में किवाड़ बन्द करके अभ्यास क लिये बैठ जाओ जिससे कि कोई तुम्हारे अभ्यास में विघ्न न डाल सके निश्चित होकर सुखासन से बैठ जाओ प्रत्येक शरीर के प्रत्येक स्नायु और ज्ञान तन्तु को शिथिल और निश्चेष्ट करो। शान्ति से नासिका से दस बीस दीर्घ सांस अभ्यास करो जिससे मन और शरीर शान्त हो। पांच बार मिनिट 'ॐ' का जप करो। इस जपकी ध्वनि के आन्दोलन से तुम्हारे आस पास का वातावरण परम शुद्ध हो जायगा। इसको 'शिव-कवच' कहते

मतिः शैवे शास्त्रे शिवचरणसेवानुशरण ।
मुखे शैवी वाणी भवपु भगवन्मे शिवः शिवा ॥

पिता हमारा शैव हो उसी तरह हमारी माता वन्धु और मित्र वे भी शैव हों। लडके शैव हों, कुल शैव हो। शिवशास्त्र में हमारी सदा मति हो, और शिव के चरण की सेवा मे हमारा सदा मन लगा रहे और मुख में सदा शिव शिव शिव कल्याण करने वाली शिव शिव शिव वाणी निकलती रहे।

अंतर्ज्योति वहिर्ज्योति जगत्ज्योति परात्परः ।
ज्योतिर्ज्योतिः स्वयम्ज्योतिरात्मज्योतिः शिवोस्म्यहम् ॥
—(कल्याण)

❀ ॐकार पंचक ❀

(वसंत तिलक—विचार दर्शन)

ॐकार रूप परमेश्वर को प्रणाम,–
सद्भक्ति युक्त करता परम मुक्ति पाने
है अष्टधा प्रकृति-भूत जगत् समग्र
भावानुरूप करता सबको विचार ॥१॥

है चित्त एक रचनात्मक सृष्टिकारी
सकल्पमात्र रचना यह दृश्य सारा
होता विचार जग मे सब का निदान
है देह मुग्ध, कुछ भी न विचार मात्र ॥२॥

मैं अन्नमय कोष प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोषों से अतीत तत्त्व हूँ। मैंने प्राण मन, बुद्धि चित्त अहंकार और पंच महाभूतों पर विजय प्राप्त की है।

मैं पञ्चकोशातीत होगया हूँ। मैं हृदयाकाश में ज्योतिर्मय शिवरूप के दर्शन कर रहा हूँ। मुझे उस महान् प्रकाश का दिव्य तेज स्पर्श कर रहा है इस प्रकाश से सूर्य अग्नि और विद्युत का प्रकाश फीका पड़ रहा है मैं अब तत्स्वरूप स्थिति में लय हो रहा हूँ।

मैं सच्चिदानन्दघन शान्त आनंदमय आत्मा हूँ। मेरी द्वैत भावना दूर हो गई है। जीव और शिव का एकीकरण होगया है। अहंकार या ममात्व कहाँ विलीन होगया है। शास्त्र जिसे 'शिवतत्त्व' कहते हैं वह मेरा मूल स्वरूप ही है।

मैं नित्य-शुद्ध मुक्त स्वयं प्रकाश रूप हूँ। प्रत्येक जीव में प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य बल, सामर्थ्य तेज तथा आनंद यह सब मेरी सत्ता मेरा ही स्वरूप अथवा मेरे ही अनन्त ऐश्वर्य का विकास है। इस जगत में दुःख का लेशमात्र भी नहीं है। मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मैं सदा अखंड आनन्दमय हूँ। मैं सबसे निर्भय समरस, सर्वदा सर्व शक्तिमान् परब्रह्म स्वरूप हूँ। मैं नित्य निर्विकार निरामय अमर अजर तथा पूर्ण निर्भय हूँ।

पिता शैवः शैवी भगवतु जननी शम्भुसुहृदः।
सुताः शैवाः शैवं कुलमिति कुलं शैवमिति च ॥

मतिः शैवे शास्त्रे शिवचरणसेवानुशरणं।
मुखे शैवी वाणी भवपु भगवन्मे शिवः शिवा ॥

पिता हमारा शैव हो उसी तरह हमारी माता बन्धु और मित्र वे भी शैव हों। लडके शैव हों, कुल शैव हो। शिवशास्त्र में हमारी सदा मति हो, और शिव के चरण की सेवा मे हमारा सदा मन लगा रहे और मुख मे सदा शिव शिव शिव कल्याण करने वाली शिव शिव शिव वाणी निकलती रहे।

अतर्ज्योति वहिर्ज्योति जगत्ज्योति परात्परः।
ज्योतिर्ज्योतिः स्वयम्ज्योतिरात्मज्योतिः शिवोस्म्यहम् ॥

—(कल्याण)

❀ ॐकार पंचक ❀

(वसंत तिलक—विचार दर्शन)

ॐकार रूप परमेश्वर को प्रणाम,–
सद्भक्ति युक्त करता परम मुक्ति पाने
है अष्टधा प्रकृति-भूत जगत् समग्र
भावानुरूप करता सबको विचार ॥१॥

है चित्त एक रचनात्मक सृष्टिकारी
सकल्मात्र रचना यह दृश्य सारा
होता विचार जग में सब का निदान
है देह मुग्ध, कुछ भी न विचार मात्र ॥२॥

ॐकार रूप घटना जग की बनी है
है पूर्ण नाम उस ईश्वर का यथार्थ
हैं तीन अक्षर जहाँ पर अर्द्ध मात्रा
है चित्कला यह विचार निरोध गम्या ॥३॥

ॐकार का रटन है करता सुगम्य
सद्भाव चित्स्वरूप के स्वरूपानुसार
संचित्त ध्येय मनोरथ बनता है
हो पूर्ण चिन्मय जहाँ सद्सद्विचार ॥४॥

ॐ ॐ सदा परम ॐ प्रभु ॐ विशाल
ॐ सामगान ध्रुव ॐ श्रुति गीत ॐ है
ॐ है चराचर विचार अमोघ शक्ति
ॐकार नाम सब है प्रभु ॐ पवित्रम् ॥५॥

• ॐ तत्सत ॐ •



* ॐ *

आरती नं० २

वन्दे गुरु देवं;

ॐ वन्दे गुरुदेवम्, बोधमयं गुरुदेवं;

बोधमयं गुरुदेवं, श्री नित्यानन्दम् ॥

ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ टेक ॥

भावार्थः—हे गुरुदेव! मैं आप की वन्दना करता हूँ, हे सद्गुरुदेव! आप ज्ञान-स्वरूप हैं, (निश्चय करके) आप ज्ञान स्वरूप हैं, (कैसे-ज्ञान स्वरूप?) शोभायुक्त नित्य-आनन्द-मय हे।

हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!

विद्वद्[१]वृन्द-विवन्द्य सुवन्दित-मञ्ज पदद्वंद्वम्;

१—सत्पात्र को धन दान करता जो मनुज संसार में,
सानन्द जीवन है बिताता एक गुरु को भक्ति में।
हरिचिन्तना ही में किया चित जो सदा निश्चिन्त है,
कहते सुजन उसको सदा सानन्द वह विद्वान् है ॥१॥
(नीति)

ॐ भक्तमपवदद्दम्, स्वच्छन्दं, निर्द्वन्द्वम् ;
स्वच्छन्द निर्द्वन्द्वम्, द्वैताऽद्वैतपरम् ॥१॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आपके चरण कमल उन महापुरुषों के द्वारा सुपूजित हैं कि जिनकी वन्दना विद्वत्-समुदाय किया करता है। अहा ! हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आपके चरण कमल अवश्यमेव पूजनीय ही हैं आप स्वच्छन्द हैं निर्द्वन्द्व हैं निश्चय करके आप द्वन्द्वों से रहित परम स्वतन्त्र हैं ॥१॥

हे गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो !

अद्वय-ममित-ममेय-मनादिं; ननु जगतामादिम् ;
ॐ ननु जगतामादिम् । सर्वाद्यन्तविहीन ।
सर्वाद्यन्तविहीन, २, पीनम्ममवादिम् ॥ २ ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप अद्वितीय ; केवल आप ही हैं, आप अमित हैं—सीमारहित हैं, आप अमेय अर्थात्-अपरिणामी हैं, आप मन आदि से परे हैं, अर्थात्-आपके स्वरूप को जानने में मनबुद्धि आदि असमर्थ हैं। आपही इस संसार के आदि कारण हैं निश्चय करके हे प्रणवरूप गुरुदेव ! आप ही इस संसार के आदि कारण हैं। और आप ही सर्व प्रकार के आदि अन्त से विहीन (अर्थात्-अलग) परिपूर्ण तथा-समस्त विभूतियों के मूलकारण हैं ॥२॥

हे गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो !

दान्तं मृदुमनिकेतमगेयं, कामैरहतधियं;
ॐ कामैरहतधियं; करुणासागरमाकर,
करुणासागर माकर,-मगदस्याप्यऽभियम् ॥३॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप परम संयमी हैं, कोमल हैं, अनिकेत अर्थात्–अनिश्चित निवासस्थानी हैं, आप के गुणों का गान करना मानवी शक्ति के परे है, भौतिक इच्छाएँ आप के मन को स्पर्श तक नही कर सकतीं, निश्चय करके स्पर्श नहीं कर सकतीं, आपका हृदय समुद्रों के महान् समूह के समान दया का विशाल भंडार है–निश्चय करके महान् भंडार है, तथा महान् पापियों को भी अभयदान के देने वाले है—ऐसे हे गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो !

आशापाशविमुक्तं विमलं, वासनया रहितम्,
ॐ वासनया रहितम् । धूल्या धूसरगात्रम्,
धूल्या धूसरगात्रम्, विमतै रवधूतं[1] ॥४॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

---

१ (अ) आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्त निर्म्मलः ।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारं तस्य लक्षणम् ॥

भावार्थ—हे गुरुदेव ! आप ! आशा के जाल से पूर्णतया मुक्त हैं अत्यन्त ही निर्मल हैं, और सब प्रकार की वासनाओं से रहित हैं, निश्चय करके वासनाओं से रहित हैं, आप के शरीर में कषाय वस्त्र धारण किया हुआ है अथवा-शरीर पर भस्म विलेपित है अथवा समस्त गात्र धूलि से आच्छन्न है, और ज्ञानी जन आप को अवधूत संज्ञा से संबोधित करते हैं, ऐसे हे गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो !

अर्थः—आशारूपी पाश से जोकि रहित है, आदि मध्य और अन्त तीनों कालों में जो कि निर्मल है आनन्द में ही सदासर्वदा वर्तता है जिसका 'अ' कार लक्षण है—

—वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम् ।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारं तस्य लक्षणम् ॥

अर्थ—जिस पुरुष ने वासना का त्याग कर दिया है और वक्तव्य जिसका रोग से रहित है, वर्तमान में ही वर्तता रहता है जिसका लक्षण 'व' कार है ।

—धूलि धूसर गात्राणि धूतचित्तो निरामयः ।
धारणाध्यान निर्मुक्तो, धूकारस्तस्य लक्षणम् ॥

अर्थः—धूलि करके धूसर हैं अंग जिसके, धोया गया है पापों से चित्त जिसका, रोग से रहित धारणा और ध्यान से निर्मुक्त है यह 'धू' कार शब्द का अर्थ है ।

—तत्वचिन्ता धृता येन, चिन्ताचेष्टाविवर्जितः ।
तमोऽहंकारनिर्मुक्तस्तकारतस्य लक्षणम् ॥
—(अवधूत गीता ८ । ६–९)

अर्थः—जिसने आत्मतत्व की चिन्ता को धारण किया है, ससार की चिन्ता और चेष्टा से जो कि रहित है, धारण और अहङ्कार से जो कि रहित है, तिसके 'त' कार का यह अर्थ है ।

(व) सांकृति नाम के कोई ऋषि भगवान् दत्तात्रय अवधूत के समीप जाकर उनसे पूछते हुएः—"हे भगवन् अवधूत कौन ? उसकी स्थिति कैसी होती है ? उसके लक्षण क्या ? और उसका भ्रमण कैसा होता है ?

इसके उत्तर में परम कारुणिक भगवान् दत्तात्रय बोलेः—अक्षरपने से, वरेण्यपने से, (श्रेष्ठपने से) धूत (दूरकर डाला हुआ) ससार बधन से, तथा तत्वमार्ग (वह तू है) इत्यादि लक्ष्य-पने से अवधूत ऐसा कहा जाता है आश्रमों का तथा वर्णों का उल्लघन करके जो सर्वदा आत्मा मे ही स्थित होता है वह अति वर्णाश्रमी योगी अवधूत कहाता है उसका स्वेच्छानुसार भ्रमण है-वह वस्त्र सहित वा वस्त्र रहित भी होता है, वह कर्त्तव्य की अवधि को प्राप्त हुआ होता है, वह इस प्रकार विचारता हैः—इस लोक परलोक के फल की सिद्धि के लिये और मुक्ति की सिद्धि के लिये पहले मुझे बहुत कर्तव्य था यह सब अब समाप्त हुआ दुःखी अज्ञानी पुत्रादि

की अपेक्षा से इच्छानुसार भ्रमण फिरें परन्तु परमानंद से पूर्ण मैं किस इच्छा से भ्रमण करूं ? परलोक प्राप्त करने की इच्छा वाले कर्मों का अनुष्ठान करें सब लोक रूप मैं किस प्रकार कर्मों का अनुष्ठान करूं ? जो अधिकारी हों वे शास्त्रों का व्याख्यान करें तथा वेदों का अध्ययन करावें, अक्रिय पन से मुझे तो उसमें अधिकार नहीं मैं निद्रा भिक्षा स्नान शौच करता नहीं, और इच्छा भी नहीं देखने वाले जो उन्हें मेरे लिये कल्पें तो उन अन्य की कल्पना से मुझे क्या होता है ? कुछ नहीं जैसे बन्दर चिरमोटी के ढेर में अग्निका आरोप करे तो उससे चिरमोटी के ढेर किसी पदार्थ को जलाता नहीं–वैसे ही अन्य जनों के आरोप करे हुए संसार के धर्मों को मैं सेवन नहीं करता–जो तत्त्वको नहीं जानते वे भले श्रवण करें मैं तत्त्व को जानता हूं इससे किस लिये श्रवण करूं ? संशयी भले मनन करें मैं संशय रहित हूं इससे मनन नहीं करता विपर्यय वाले भले निदिध्यासन करें मैं शरीर में आत्म-पन की भ्रांति सेवन करता नहीं इससे मुझे निदिध्यासन कर्तव्य नहीं–मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहार तो इस भ्रांति बिना चिरकाल अभ्यास करी हुई वासना से हो सकता है प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर यह व्यवहार भी निवृत्त हो जाता है विक्षेप के अभाव से मेरे स्वरूप में समाधि भी नहीं विक्षेप और समाधि यह विकारी मन का धर्म है मैं तो कि निर्लेप तथा अकर्ता हूं उसका लौकिक व्यवहार तथा शास्त्रीय व्यवहार जैसा प्रारब्ध हो वैसा होवो अथवा कृतार्थ होते भी लोकानुग्रह की इच्छा से शास्त्रीय मार्ग से ही मैं वर्तूं तो उसमें मेरी क्या हानि है ?

यह शरीर देव-पूजा, स्नान, शौच और भिक्षादि में वर्तो, वाणी प्रणव का जप करो वा उपनिषद् पढ़ो और बुद्धि परमात्मा का ध्यान करे अथवा ब्रह्मानन्द में विलीन होवे, मैं जो साक्षी हूं वह तो यहां कुछ भी करता नहीं और कराता नहीं, मैं आत्मा का यथार्थ अनुभव करता हूँ, ब्रह्मानन्द मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है, सांसारिक दुःख मेरे देखने में आता नहीं, मेरा अज्ञान निवृत्त हो गया है अब मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है प्राप्तव्य सब प्राप्त हुआ है मैं निरकुश तृप्ति को प्राप्त हुआ हूँ और मेरे अनेक जन्मों का पुण्य उत्तम प्रकार से उदय पाया है, इससे मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ अद्वैत-ज्ञान वेदान्त-शास्त्र और जीव ब्रह्म के अभेद का उपदेश करने वाले श्री सद्गुरु ये सब अत्यन्त आश्चर्य रूप है।

—(१ अवधूत उपनिषद् का सार)



ॐ

मल

—१०१—

"मल" नाम पाप का है। सो पाप जन्मान्तरों विषे कृत अशुभ-कर्म से जनित अधर्म अपूर्व अरु अदृष्ट इन नामों करि युक्त संस्कार रूप होने ते अतिशय सूक्ष्म है। याते प्रत्यक्ष वचन में आवते नहीं। तथापि अशुभ वासना द्वारा तिसका अनुमान होता है।

जिस पुरुष को निषिद्ध कर्म की वा-विषयों की इच्छा होती है उसके चित्त में "अशुभ वासना है इसी से यह 'मल' पाप से युक्त है" यह जान लेना इसमें इसको निष्काम कर्म वा सर्व भूतमात्र पर दया, वा-ईश्वर (गुरु) नाम का उच्चारण आदिक कर्तव्य है। क्योंकि-निष्काम कर्म से वा-सर्व भूतों पर दया करने से वा-ईश्वर नाम के उच्चारण से मल दोष की निवृत्ति होती है। जिसमें ईश्वर नाम का रीति पूर्वक (ईश्वर नामोच्चार की रीतिः—(१) सन्तन की निन्दा (२) असत् पुरुषों के पास नाम वैभव की कथा (३) शिव विष्णु गणेश रूप देवों विषे भेद बुद्धि (४) वेद वचन में अश्रद्धा (५) शास्त्र वचन में अश्रद्धा (६) गुरु वचन में अश्रद्धा (७) ईश्वर नाम विषे अर्थवाद का भेद-भ्रम (८) सर्व पापों का निवर्तक नाम है, इस बुद्धि से निषिद्ध कर्म का आचरण (९) नाम महत्

पुण्य का उत्पादक है,-इस बुद्धि से विहित कर्म का त्याग (१०) अन्य धर्मों से नाम की समता, ये दश नाम अपराध हैं। इनके त्याग पूर्वक प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, सायकाल, और मध्य-रात्रिकाल इन चारों कालों विषे विभाग करिके लक्ष-परिमित किंवा उसके न्यूनाधिक ईश्वर के नामों का उच्चारण करना, और उस विषे चित्तवृत्ति का स्थापन करना, यह ईश्वर-नाम की सामान्य रीति है, इसकी विशेष रीति गुरुमुख द्वारा जानना योग्य है), जो उच्चारण है सो पाप रूप मल और विक्षेप (चचलता) रूप मल इन दोनों प्रकार के मल का नाशक है, अन्य कर्मादिक केवल पापरूप मल के नाशक हैं।

(वेदान्त बाल बोधनी)

(अ) नामापराधः—

सन्निदाऽयतिनाम वैभव कथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
र श्रद्धा श्रुति शास्त्र दैशिक गिरा नाम्न्यर्थवाद भ्रमः।
नामास्तीति निषिद्ध वृत्तिविहित त्यागो ही धर्मान्तरैः
साम्य नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥१॥

इसी भाव को लेकर किसी महात्मा ने कहा है किः—

राम राम सब कोइ कहे, दसरति कहे न कोय।
एक बार दसरति कहे, (तो) कोटि यज्ञ फल होय ॥१॥

——:o:——

(ब) सुमरन सोई न वीसरे, रहे रूप मा मन।
कहे प्रीतम शुद्ध सनेह सुं, करे सुमरन निशदिन ॥१॥

निशदिन निमेषन बीसरे हरि को तत्व विचार ।
कहे प्रीतम तद्रूपत् रहे सांई सुमरन सार ॥२॥

मिथ्या मुख बोले नहीं बोले तो हरिनाम ।
कहे प्रीतम हृदय बसे ज्यु लोभी के दाम ॥३॥

सोहं सोहं होत है नख शिख सकल शरीर ।
प्रीतम पलक न बीसरे कहीये से रघुबीर ॥४॥

घड़ी घोहरि सुमिरण कहा सुमिरण सास उसास ।
कह प्रीतम रहे अंग मां आठे पाहर उल्लास ॥५॥

जोई आकाश की आरसी, भूले नहीं स्वरूप ।
कह प्रीतम सब घट बस आप निरंजन भूप ॥६॥

चेतन ऐसी चार घड़ी सागर ऐसो प्रताप ।
कह प्रीतम भूले नहीं आप तसो निशान ॥७॥

मेरु डगे तो मन डगे रहे मगन लयलीन ।
कह प्रीतम हरि सिंधु में मगन रहे मन मीन ॥८॥

हरि-सागर संमुख भरघो नाहीं न्यून लगार ।
कहे प्रीतम एक रस रह सोई सुमरन सार ॥९॥

सब घट सीता रामजी ज्यूं हीरा धुं हेम ।
कह प्रीतम हरि रूप जोई, करहु निरंतर प्रेम ॥१०॥

घणों सुमरण हाल है बैठां बहुत प्रकार ।
प्रीतम चलतां चीनव हरि को नाम उचार ॥११॥

सुमिरण में संशय टर शाक समूला जाय ।
कह प्रीतम मन के मटे गुण गोविंद के गाय ॥१२॥

सहस्र वदन सुमरन करे, सदा सर्वदा शेष ।
कहे प्रीतम भूमि तणों, भार न लागे लेश ॥१३॥

गगन, पवन, पावक, उदक, अवनी भार अढ़ार ।
कहे प्रीतम सुमरन करे, सहु हुदिया मोजार ॥१४॥

सुमरन सेवा सन्त की, कीर्तन कथा प्रसंग ।
कहे प्रीतम सुमरन सबे, ज्यूं लागे हरि रंग ॥१५॥

मोह टके ग्रन्थी तके, मके त्रिभुवन नाथ ।
कहे प्रीतम फेरो फके, 'हरी समरण हैया साथ ॥१६॥

सेहेजे सुमरन होत है, अखण्ड अजपा जाप ।
कहे प्रीतम समजी शके, टले शोक सताप ॥१७॥

एक वीस सहस्र पट से उठे, रात दिवस अहंकार ।
कहे प्रीतम पद प्रीछना लागे नहीं विकार ॥१८॥

मुख जिह्वा हाले नहीं, अवर न जाणे कोइ ।
कहे प्रीतम आपा मिटे, सहेजे सुमरन होइ ॥१९॥

समरण से माया समे, दमे नही लवलेश ।
कहे प्रीतम समरण भजन, हरिजन करे हमेश ॥२०॥

माया दमे न मन दमे, दमे न दुःख ससार ।
कहे प्रीतम परब्रह्म को, भजन करे भव पार ॥२१॥

—— ० ——

दूलन चरणन लागि रहु, नाम की करत पुकार ।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दह्‌ लिखा लिलार ॥

जग रहु जग तें अलग रहु, योग जुगति की रीति ।
पूरन हिरदे नाम तें साइ रहौ दृढ़ प्रीति ॥

—— o ——

बचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महँ, करौं सदा विश्राम ॥
—श्रीराम ।

श्लोक—यत्फलं नास्ति तपसा, न योगेन न समाधिना ।
यत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात् ॥

'अन्य युगों में तपस्या योग और समाधि से भी जो फल प्राप्त नहीं होता वही फल कलियुग में मनुष्य केवल भगवान का नाम-कीर्तन करने से पा जाता है । —व्यास ।

सद्गुरुदेव अवधूत-महाप्रभु श्री नित्यानन्दजी महाराज की

आरती

नं० ३

[जीव भाव]

ॐ विमलं गुरु देवं ।

ॐ[१] विमलं गुरुदेवं, अखिल सच्चिदानन्दं,

अखिल सच्चिदानन्दं, श्री नित्यानन्दं ॥

ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ टेक ॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप निर्मल स्वरूप हैं—निश्चय करके निर्मल स्वरूप हैं ! आप सर्वाङ्ग पूर्ण सच्चिदानन्द हैं। हे प्रणवरूप ! आप अखिल सच्चिदानन्द-सकल विभूतिसम्पन्न नित्य आनन्द स्वरूप हैं। [मुझे निर्मल बनाइये]

हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥टेक

---

१ (अ) ॐ = ॐकारं विन्दुसयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदञ्चैव, ॐकाराय नमोनमः ॥१॥
—(शिव पुराण)

बिन्दु सहित ओंकार का जो योगी नित्य ध्यान करते हैं, उनके लिये यह प्रणव कामादि मोक्ष पर्यन्त चारों पदार्थों का दाता होता है, ऐसे प्रणवरूप परमात्मा को मैं नमन करता हूं।

(ख) य ॐकारः स प्रणवो यः प्रणवः स सर्वव्यापी सोऽनन्तो योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मं यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतम् यद्वैद्युतं तत्परंब्रह्म स एको रुद्रः स ईशान स भगवान् महेश्वरः स महादेवः।

—(अथर्व शिरोप २।४)

जो ॐकार है वह प्रणव है जो प्रणव है वह सर्वव्यापी है, जो सर्वव्यापी है वह अनन्त शक्ति स्वरूप उमा है। जो उमा है वही तारक है वही सूक्ष्म नाम शक्ति है जो सूक्ष्म है वही शुक्ल है जो शुक्ल है वही विद्युत-अभिमानी उमा है जो उमा है वही परब्रह्म है, वही एक अद्वितीय रुद्र है वही ईशान है, वही भगवान् महेश्वर है वही महादेव है।

(ग) यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः। श्रुतं मे गोपाय ॥१॥

—प्रणव [वेदों के विषय में कहने में आये पवित्र शब्द ॐकार स्वरूप परमात्मा] जिसे वेदों में श्रेष्ठ रूप से गिनने में आया है, जिसे विश्वरूप कहते हैं जो अमृतरूप वेदों से भी

अधिक अमृतरूप उत्पन्न हुए है तथा जो सर्व कामना के ईश्वर रूप है वो मेरी बुद्धि के विषे वृद्धि करो। हे प्रकाशवान प्रणव अमृत तत्व के कारणरूप ब्रह्मविद्या के ज्ञान को धारण करने वाला मैं होऊ मेरा शरीर रोग रहित हो, मेरी जिह्वा के विषे अत्यत मधुरता आवे। मेरे श्रोत्र बहुत श्रवण करने वाले होवें। हे ॐकार! परमात्मा का कोषरूप तू है तू साधारण बुद्धि से वेष्टित हुए अर्थात् सामान्य बुद्धि द्वारा अज्ञात है। जो कुछ ब्रह्मज्ञान मैंने श्रवण किया है (अथवा करूँ) उसका तू पालन कर। —(तैतिरीय उप० ५ । १)

(ह) ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते ॥
ॐ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौर व्यापणी पुत्रो वेदोऽयम् ब्राह्मण विदर्वेदेनेन यद्वेदितव्यम् ॥१॥

शब्दार्थः—वह अनन्त रूप है, यह अनन्त रूप पूर्ण अनन्त में से पूर्ण उत्पन्न होता है, पूर्ण की पूर्णता लेने से अन्त में पूर्ण बाकी रहता है। ॐकार यह आकाशरूप है, तथा ब्रह्मरूप है, आकाश पुराणरूप है, इसी प्रकार आकाश यह वायुरूप है। वायु का कारणरूप है, इस प्रकार कौर व्यापणि के पुत्र ने कहा है कि यह ॐकार वेदरूप है। ब्राह्मणगण ऐसा जानते है कि इस नाम के द्वारा जो सब जानने के योग्य है उसे मनुष्य जानते हैं। —(बृहदारण्य उप०)

जपित्वा लक्षमेकं तु प्रणवं ब्रह्मवाचकम् ।

ॐ सत्य त्रिकालाबाध्य, चित्त अलुप्तप्रकाशं,
ॐ चित्त अलुप्त प्रकाश । आनदघन निजआतम-
ॐ आनदघन निजआतम, श्रीनित्यानन्द ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥१॥

महा पातक संघात्त मुच्यते पातकान्तरैः ॥
—(सू० सं० अ० २ अ ७-२४)

ब्रह्म के वाचक प्रणव ॐ मंत्र का एक लक्ष जप करने से महापातकों के समूह से तथा अन्य उप पातकादि पापों से भी मनुष्य मुक्त होता है ।

श्लोक—हरः संसार हरणाद्वि भुत्वाद्विष्णुरुच्यते ।
भगवान्सर्व विज्ञानादव नादोमितिस्मृतः ॥
—(कूर्म पुराण अ० ४ । ६१)

अर्थः संसार के हरण कर्ता होने से उनको हर कहते हैं और व्यापक होने से विष्णु कहते हैं । सर्व का ज्ञान कराने वाले होने से भगवान् कहते हैं, और सबकी रक्षा करते हैं इस लिए ॐ कहाते हैं ।

२ (अ) सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यं मृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणंप्रपन्नाः ॥

भावार्थः—हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आप सत्य स्वरूप हैं, त्रिकालाबाध हैं ! चैतन्य स्वरूप प्रत्यक्ष प्रकाशमान है। निश्चय करके आप चैतन्य स्वरूप प्रत्यक्ष प्रकाशमान है। आपका स्वरूप आनन्दघन-प्रसन्नता से ओतप्रोत-है ! आप सकल वैभव सम्पन्न नित्य-आनन्द स्वरूप हैं, [कृपा कर मुझे माया मल से दूर कीजिये।]

हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥टेक

भावार्थः—हे महाप्रभो ! आपका व्रत-(संकल्प) सत्य है आपकी प्राप्ति का साधन भी सत्य है, आपही इस संसार के आदि, मध्य और अन्तमे सत्य रूप से रहते हैं, पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतों के कारण, उनमें अन्तर्यामी रूप से विराजमान्, तथा-अन्त में उनके लयस्थान, एव—सत्यवाणी और समदृष्टि के प्रवर्तक ऐसे 'सत्य-स्वरूप' आपकी शरण मे हम प्राप्त हुए हैं। —(भा० २। २६)

(ब) सत्यं ब्रह्म जगच्चैक स्थित मेकमनेकवत ।
ब्रह्मसर्वं जगद्वस्तु पिंडमेकम खंडितम् ॥१॥

एक सत्य ब्रह्म नानारूप जगत के रूपमे वर्तमान है, सारा जगत एक अखंडित पिंड रूप ब्रह्म है। —(यो० वा०)

सर्वशक्तिपरब्रह्म सर्ववस्तु मयततम् ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वे, सर्वत्र सर्वगम् ॥२॥

वह सर्व वस्तु मय और सर्वशक्ति वाला ब्रह्म सर्व रूप से

सब कालमें सब स्थानों पर सबके भीतर और सबके साथ फैला हुआ है।

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा ।
ययैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति ॥३॥

—सर्वशक्ति युक्त ब्रह्म सबका ईश्वर है। जिस शक्ती द्वारा प्रगट होना चाहता है वही दृष्टि गोचर हो जाती है।

चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया ।
यथोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येव सनातनः ॥४॥

'यह परम आकाश (अनन्त तत्व) जिसका मैंने चेतन स्वरूप (ब्रह्म) बताया है शिव भी कहलाता है। यह सनातन है।

अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ।
स्पन्दशक्तिः स्वविच्छेव दृश्याभासं तनोति सा ॥५॥

'उसकी मनो-मयी स्पन्द-शक्ती (क्रिया शक्ती) को उससे अनन्य समझो। वह ब्रह्म की स्पन्द-शक्ति रूपी इच्छा ही दृश्यमान पदार्थों का विस्तार करती है।

सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी ।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा ॥६॥

हे राम! वह परमेश्वरी शिवइच्छा जो कि अनादि स्पन्द शक्ती है प्रकृति और जगन्माया भी कहलाती है।

तस्माच्चिच्छक्ति कोशस्थाः सर्वा सर्ग परम्पराः ।
सर्वा सत्या परं तत्व सर्वात्मा कथमन्यथा ॥७॥

इस लिये जगत के सब पदार्थ शिव शक्ति के कोश में वर्तमान है, सभी सत्य हैं और परम-तत्व (शिव) उनका आत्मा है। इसके सिवाय और क्या कहा जासकता है।

श्लोकः—स्वदेशिकानिमान् मत्वा नित्यं यः शिवमर्च्चयेत् ।
स याति शिव सायुज्यं नात्र कार्या विचारणा ॥२८॥
—(वायवीप सहिता)

अर्थात्ः—जो (सनत्कुमारादि) को अपना सद्गुरु मानकर शिवकी उपासना-ध्यान करता है। वह अनायास शिवकी साक्षात् प्राप्ति करता है इसमें कोई सदेह नहीं।

ईश्वर जीवका परमसुहृद बिना हेतु स्नेही है यानी जीवों पर स्वार्थ रहित स्नेह करता है यह ईश्वर का दयारूप गुण है, कहा है:—

श्लोकः—रक्षणे सर्वभूतानाम् हमेय परो विभुः ।
इति हष्टानु सन्धान कृपासा परमेश्वरी ॥
—(भगवद्गुण-दर्पण)

अर्थात्—भूतमात्र के पालन करने को मैंही समर्थ हूँ इस प्रकार का दृढ अनुसन्धान रखता हूँ इस प्रकार का अनुसन्धान रखने से ईश्वर विना हेतु स्नेही है। भागवत् में दूसरा गुण करुणा कहा है:—

परदुःखानुसन्धाना शिक्षकी भवनं विभो ।
कारुण्यात्मगुणस्त्वस्य आर्तानां भीति तारकः ॥

अर्थात्—जीवों का दुःख देख कर स्वयं भी दुःखी होकर उनके दुःख मिटाने के लिये उपाय करने का नाम करुणा है।

(२) "एको देवः सर्व भूतेषु गूढः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः,
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥"

अर्थात्—एक ही परमेश्वर जो चैतन्य केवल और निर्गुण है सारे भूतों में गूढ़ और सर्व व्यापक है तथा-सब भूत प्राणियों का अन्तरात्मा है वही कर्मों के फल का देने वाला तथा समस्त प्रपंच का निवासस्थान और साक्षी है।

(उपनिषद्)

(३) तस्मै स होवाच । इहैवान्तः शरीरे सोम्य !
स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥

(प्रश्नोपनिषद् २।११)

भावार्थः—पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशा के प्रश्न के उत्तर में कहा—हे प्रिय शिष्य ! यह पुरुष कहीं दूर नहीं रहता जिसकी खोज में किसी दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता हो; किन्तु-वह इस शरीर के भीतर है, जिसके भीतर य षोडश कलायें उत्पन्न होती हैं।

ॐ अखण्ड एक रस आप, निकट नहीं दूरं ।
ॐ निकट नहीं दूरं, रूप चराचर विभुवर,
ॐ रूप चराचर विभुवर ! श्रीनित्यानन्दम् ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥२॥

भावार्थ—हे प्रणव रूप-गुरुदेव ! आपको अखड एक रस व्यापक कहा है। फिर भी आप निकट है, दूर नहीं है, क्योंकि हमारे प्रत्येक कार्य को आप देखते हैं। पर देखते हुये भी हमारी पुकार क्यों नहीं सुनते ? क्या दूर हो ? निकट नहीं हो ? पर आपको तो सर्वव्यापी परमात्मा कहते है, और निश्चय करके आप सर्वव्यापी परमात्मा ही है, सकल विभूति सम्पन्न नित्य-आनन्दस्वरूप है [हे प्रभो, दया कर मुझे मल-रहित कीजिये] ॥ २ ॥
हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो !

(च) ॐ प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ (यजुर्वेद.)

भावार्थः—प्रजापति ॐ परमात्मा चिन्मात्र, दिव्य, अभौतिक तेजरूप आवेश के द्वारा गर्भ में प्रवेश करता है, और समयानुसार विविध रूप धारण कर स्वेच्छा से प्रकट होता है, और उसी के अन्दर अखिल भुवन स्थित होते हैं, उसको योनि अर्थात्-अवतार लेने के कारण को धीर पुरुष ही जान पाते है।

ॐ गुरु-दर्शन गुरु-भक्त अनायास[४] करता,
ॐ अनायास करता । जय विश्वनाथ अविनाशी,
ॐ जय विश्वनाथ[५] अविनाशी, श्रीनित्यानन्द ॥
ॐ जय जय जय गुरु देव ॥ ३ ॥

भावार्थ :—हे गुरुदेव ! जो आपका भक्त होता है, उसे आपके दर्शन अनायास (बिना कष्ट) के ही हो जाते हैं। निश्चय करके अनायास आपके दर्शन पा जाता है। हे संसार के स्वामी ! आप अविनाशी हैं ! हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आप निश्चय करके इस विश्व के स्वामी और नाश रहित हैं। आप सकलविभूतिसम्पन्न नित्य आनन्द स्वरूप हैं। (हे दयालो ! दया कर मुझे निर्भय बनाइये) हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आप की जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥ ३ ॥

---

४ अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मादृषिभिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्मादुच्यते रुद्रः (अथर्वोपनिषद्) अर्थात्–आदिगुरु विश्वनाथ को रुद्र क्यों कहते हैं ? वह अपने भक्तों पर बहुत शीघ्र प्रसन्न हो स्वरूप साक्षात्कार करा देते हैं–अपने दर्शन देते हैं–भक्तों को कष्ट नहीं उठाने देते–इसलिये रुद्र (दयालु कल्याण स्वरूप) कहलाते हैं।

५ (अ)—त्वत्तो जगद्भवति देव ! भवस्मरारे !
त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ !
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश !
लिङ्गात्मकं हर ! चराचर विश्वरूपम् ॥

अर्थात् :—हे देवाधिदेव महादेव ! यह अखिल विश्व आप ही से उत्पन्न होता है-और हे विश्वनाथ ! यह संसार आप ही में स्थिति पाता है। अर्थात् आपके द्वारा ही पोषण पाता है। और अन्त में हे जगत् के एक मात्र जगदीश ! इस भव का आप में ही लय होता है। आप ही चराचर रूप-विश्वरूप, एक मात्र त्रितापों हरने वाले, हरि-हर गुरु देव हैं
—(वेदसार श्लोक ११) जगत् गुरु श्री शंकराचार्य कृत।

—"भागवत् ३ स्कंध मे महर्षि मैत्रैय के द्वारा तथा देवर्षि नारद द्वारा ब्रह्मर्षि रत्नों को उपदेश देते है कि गु-रु ["गु कारस्त्वन्धकारः स्याद्रुकारस्तन्निरोधक' । अन्धकार विनाशित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते"। 'गु' –अन्धकार को कहते हैं और 'रु' उसको कहते हैं–जो अन्धकार का विनाश करे, उसका नाम गुरु है] ही जीवों को दु'ख से उद्धार करने वाला है। इसलिये वह जगद्गुरु वैद्यनाथ है। इसी प्रकार दशमस्कंध मे जहां शङ्कर स्तुति की है यही कहा है कि 'आपही जगद्गुरु हैं,- गुरु के समान दयालु कोई नहीं है। क्योंकि दीनवत्सल दीनानाथ गुरुजन का यह स्वभाव ही होता है कि अनुरागी शिष्य को बिना जिज्ञासा के भी 'परम कल्याण प्रद वस्तु' प्रदान कर देते हैं."

(व) बिना कहे ही सत्पुरुष, परकी पूरे आस।
कोन कहत है सूरकौ, घर घर करत प्रकाश ॥
जो सब ही को देत है, दाता कहिये सोय।

जल-थर बरसत सम विषम थल-न-विचारत कोय ॥
—(वृन्द)

मेघ तुम्हें जाने जगत, पपिहा प्यास-अपार ।
दीन वचन चाहत तुम्ही यह नहीं उचित विचार ॥
—(मद)

❀ मनहर-छन्द ❀

चिन्तामणि पारस कल्पतरु कामधेनु,
औरहु अनेक विधि धारि धारि भाखिये ।
जो कछु दखिये सो सकल चिन्तामणि
बुद्धि मे विचार करि यहु अभिलाखिये ॥
तातें मन वचन करम करि करजोरि
सुन्दर चरण शीश मेलि दीन भाखिये ।
बहुत प्रकार तीनू लोक सब शोधे हम
ऐसी कौन भेट गुरुदेव आगे राखिये ॥१०॥

श्लोक—नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः ॥

एक दारु गत देखिय एकू । पावक जुग सम ब्रह्म विवेकू ॥

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्व पातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥
(विष्णु ६।८।१९)

जैसे नाम नामी का आकर्षण करता है वैसे ही वह नामाश्रयी को भी नामी के चरणों में लेजाता है नाम शब्द के अर्थ से भी यही बात स्पष्ट होती है:—

'वलान्नमयतीति' नाम, अर्थात् जो वल पूर्वक नामाश्रयी के चित्त को नामी के चरणों में नमन करता है वह 'नाम' है अतएव नामी और नोमाश्रयी के बीच में नाम चतुर्मध्यस्थ का काम करता है गोस्वामी जी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है'

"उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी" —(रा. बा)

न देश नियमस्तत्र न काल नियमस्तथा ।
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत् ॥
कृष्ण नाम गुन गुप्त धन पाये हरिजन सत ।
करे नहीं जो कामना दिन २ होय अनन्त ॥

एकमात्र नाम ही जीवों का आधार है नाम कोई सा भी क्यों न हो भगवान के सभी नाम समर्थ हैं। वास्तव में आवश्यकता है भाव की। भाव ही प्रधान है जितना उच्च भाव है उतना ही नाम महत्व का है। भाव क्या है:—

(१) नाम और नामी को एक समझना (२) नाम से बढ़ कर और कुछ भी न समझना (मुक्ति भी नहीं) (३) नाम में

प्रेम होना (४) निष्कामभाव होना और (५) नाम जप को गुप्त रखना। यही भाव है। इन्हीं पाँच भावों से युक्त नाम जप प्रशंसनीय है।

—(तत्व विचार)

कलियुग केवल नाम अधारा, सुमिरि सुमिरि नर उतरहु पारा।

कलियुग सम युग आन नहिं जो नर कर विश्वास।
गाई राम गुण-गण विमल भव तर बिनहीं प्रयास॥

राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
'तुलसी' भीतर बाहरहु जो चाहसि उजियार॥

सकल कामना हीन जे, राम भक्ति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किय मन मीन॥

श्रवणी गीध सुसेवकनी सुगति दीन रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुणगाथ॥

रामचंद्र के भजन बिनु, जो चहे पद निर्वाण।
ज्ञानवन्त अपि सोपि नर पशु बिन पूछ विषाण॥

वारि मथे बरु होय घृत सिकताते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरहिं यह सिद्धान्त अपेल॥

नाम सप्रेम जपत अनयासा भक्त होहिं मुद मंगल वासा।
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू भक्त शिरोमणि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवन सुत पावन नामू अपने वश करि राखेहु रामू।
अपर अजामिल गज गणिकाऊ, भये मुक्त हरि नाम प्रभाऊ॥

चहुँ युग तीन काल तिहुं लोका, भये नाम जपि जीव विशोका ।
कहहुं कहां लगि नाम बडाई, राम न सकहिं नाम गुण गाई ॥
—(रामायण)

आज काल की पांच दिन, जंगल होगा वास ।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास ॥१॥
आज कहे मैं काल भजूं, काल कहे फिर काल ।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल ॥२॥
काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब ।
पल में परलय होयगी, फेरि भजेगा कब ॥३॥

केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार ।
रात दिवस के कूकते, कभी तो सुनै पुकार ॥१॥
राम राम रटते रहो, जब लग घट में प्राण ।
कबहुँ तो दीन दयाल के भनक परेगी कान ॥२॥

ब्रह्म ज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय ।
तुलसी ऐसी आतमा, सहज नरक महं जाय ॥१॥
विव सहु जासु नाम नर करहीं ।
जनम अनेक संचित अघ दहहीं ॥
सादर सुमिरन जे नर करही ।
भव वारिधि गोपद इव तरहीं ॥

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

इस श्लोक में देवहूति जी भगवान् के प्रति कहती हैं कि अहो जिसकी जिह्वा पर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है क्योंकि जो तुम्हारे नाम का कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषों ने तप, यज्ञ, तीर्थ, स्नान, वेदाध्ययन सब कुछ कर लिया। (३।३३।७)

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो गृणन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
(१२।१२।४६-४७)

कोई भी मनुष्य गिरते पड़ते छींकते और दुःख से पीड़ित होते समय परवश होकर भी यदि ऊँचे स्वर से, हरये नमः पुकार उठता है तो वह सब पापों से छूट जाता है जैसे सूर्य पर्वत की गुफा के अन्धकार को भी नाश कर देता है और जैसे प्रचंड वायु बादलों को छिन्न भिन्न करके दूर कर देता है इसी प्रकार अनन्त भगवान का नाम-कीर्तन अथवा उसके प्रभाव का श्रवण हृदय में प्रवेश करके समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।

— ० —

भगवान् श्री वेदव्यासजी ने भी महाभारत (पञ्चम वेद) के अन्त में इसी प्रकार उपसंहार किया है कि:—

आलोड्य सर्व शास्त्राणि: विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेक सुः निष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

अर्थात्:—समस्त शास्त्रों का मन्थन करके उसका बारंबार विचार करने पर यही एक बात सिद्ध होती है कि सदा श्री नारायण का ध्यान करना चाहिये।

'मनसा वा अग्रे सङ्कल्प यत्यथ वाचा व्याहरति'

'यद्धि—मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति इति श्रुतिभ्यां स्मरणं ध्यान च नाम संकीर्तनेऽन्तभू तम्।'

अर्थात्:—'पहिले मन से संकल्प करता है फिर वाणी से बोलता है। मन से जो बात सोचता है वही वाणी से कहता है इन श्रुतियों से स्मरण और ध्यान भी नाम संकीर्तन के अन्तर्गत ही सिद्ध होते हैं।

यच्चकिञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपिवा।
अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्य नारायण. स्थितः॥

बृहन्नारायणोपनिषद् की श्रुति है—जो कुछ भी संसार दिखायी या सुनाई देता है श्री नारायण उस सबको बाहर भीतर से व्याप्त करके स्थित हैं।

श्लोकः—मुहुर्तमपियोध्याये न्नारायण मनामयम्।

सोऽपि सिद्धी मवाप्नोति किमुतस्तत्परायणः ॥
प्राप्यश्चित्तान्य शेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषाम शेषाणां कृष्णानु स्मरणं परम् ॥

—(विष्णु २ । ६ । ३६)

जो पुरुष अविनाशी नारायण देव का एक मुहूर्त भी चिन्तन करता है वह भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है । फिर जो भगवत्परायण है उसकी तो बात ही क्या है ।

जितने भी तप और कर्मरूप प्रायश्चित्त हैं उन सब में भी कृष्ण का स्मरण करना श्रेष्ठ है ।

ध्यायेत् नारायणं देवं स्नानादिषु च कर्मसु ।
प्रायश्चित्तं हि सर्वस्य दुष्कृतस्येति वै श्रुतिः ॥

स्नानादि समस्त कर्मों को करते हुये भी नारायण देव का ध्यान करना चाहिये । यह (भगवत्स्मरण) ही सम्पूर्ण दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त है, इस विषय में श्रुति भी सहमत है ।

ससार सर्प सन्दष्ट नष्ट चेष्टैक भेषजम् ।
कृष्णेति वैष्णव मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः ॥
अति पातक युक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्ति पावन पावनः ॥

—संसाररूप सर्प द्वारा डँस जाने से निश्चेष्ट हुए पुरुष के लिए एक मात्र औषध रूप 'कृष्ण' इस मन्त्र को सुन

कर मनुष्य मुक्त होजाता है। अत्यन्त पापी पुरुष भी एक पल के लिए भी अच्युत का ध्यान करने से बडा भारी तपस्वी और पंक्ति पावनों को भी पवित्र करने वाला होता है।

यन्नाम कीर्तनंभक्त्या विलापनमनुत्तमम् ।
मैत्रैया शेष पापानां धातूनामिव पावकः ॥
—(विष्णु ६ । ८ । २०)

हे मैत्रेय ! सुवर्ण आदि धातुओं को जिस प्रकार अग्नि पिघला देता है उसी प्रकार जिसका भक्तियुक्त नाम-संकीर्तन सपूर्ण पापों का अत्युत्तम विलापन (लीन करने वाला) है।

ध्यायन्कृते यजन्य स्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
—(विष्णु ६ । २ । १७)

—सत्युग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञानुष्ठान से, और द्वापर में भगवान् के पूजन से मनुष्य जो कुछ प्राप्त करता है वह कलियुग में श्री केशवका नाम संकीर्तन करने से ही पा लेता है।

हरिर्हरति पापानि दुष्ट चित्तैरपिस्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥
—(वृ० नारद १ । ११ । १००)

—श्री हरिका यदि दुष्ट चित्त पुरुषों से भी स्मरण किया जाय तो हरि उनके समस्त पापों को हर लेते हैं, जैसे अनिच्छा से स्पर्श करने पर अग्नि जला ही डालती है।

शमाय यालं जलं वह्नेस्तमसो भास्करोदयः।
शान्तिः कलौ ह्यघौघस्य नामसंकीर्तनं हरेः॥
हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
—(बृ० ना० पु० १ । ४१ । १५)

अग्नि को शान्त करने में जल और अन्धकार को दूर करने में सूर्य समर्थ है तथा कलियुग में पाप-समूह की शान्ति का उपाय श्री हरिका नाम-संकीर्तन है।

श्री हरिका नामही नामही नामही मेरा जीवन है इसके अतिरिक्त कलियुग मे और कोई उपाय नहीं है।

कलिकल्मषमत्युग्रं नरकार्तिप्रदं नृणाम्।
प्रयाति विलयं सद्यः सकृद्यत्रापि संस्मृते॥
—(वि० ६ । ८ । २१)

मनुष्यों को नरककी यातनाएँ प्राप्त कराने वाले कलियुग के अति उग्र दोष जिनका एकबार स्मरण करने से भी तुरन्त लीन होजाते हैं।

समार्चनं भूतपतिं जगद्गुरुं स्मरन्मनुष्यः सततं महामुने।
दुःखानि सर्वाण्यपहन्ति साधयत्यशेषकार्याणि च
यान्यभीप्सति॥

ॐ त्रीलोकी के नाथ,[६] गुरु कुटस्थ स्वामी,

एवमेकाग्रचित्तः सन् संस्मरन्मधुसूदनम् ।
जन्ममृत्युजरा ग्राहं संसाराब्धि तरिष्यति ॥
कलावत्रापि दोषाढ्ये विषयासक्तमानसः ।
कृत्वापि सकलं पापं गोविंदुं संस्मरञ्छुचिः ॥
वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु ।
तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्यादिकं फलम् ॥
—(२।६।४२)

हे महामुने ! समस्त प्राणियों के प्रभु जगद्गुरु जनार्दन का निरन्तर स्मरण करने से मनुष्य समस्त दुःखों को दूर कर देता है और जिन-जिनकी इच्छा करता है उन सभी कार्यों को सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार एकाग्रचित्त होकर श्रीमधुसूदन का स्मरण करते रहने से मनुष्य जन्म मृत्यु और-जरारूप ग्राहों से पूर्ण संसार सागरको पारकर लेगा।

इस दोषपूर्ण कलियुग में विषयासक्त मनुष्य समस्त पापों को करके भी श्री गोविन्दका चिन्तवन करने से पवित्र होजाता है। हे मैत्रेय ! जप होम तथा अर्चनादि जिसका चित्त भगवान् वासुदेव में लगा हुआ है उसके लिये इन्द्रत्वादि फल विघ्न-रूप ही हैं।

(६) कवित्त.—

गुरु के प्रसाद सब विद्या और बोध होत,
　　गुरु के प्रसाद को प्रकाश उर छायो है।

ॐ गुरु कूटस्थ स्वामी । गुणातीत चेतन अज,
ॐ गुणातीत चेतन अज ॥ श्रीनित्यानन्द ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ ४ ॥

भावार्थ :—हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आप त्रैलोक्याधिपति अज्ञानान्धकार के दूर करने वाले, निर्विकार सर्वाधीश हैं ! निश्चय करके हे गुरुदेव ! आप निर्विकार सर्वाधीश हैं ! आप सत्-रज तम तीनों गुणों से अतीत चैतन्यस्वरूप, अजन्मा सकल वैभव सम्पन्न नित्य आनन्द स्वरूप हैं । कृपा कर मुझे निर्मल कीजिये, हे प्रणव रूप गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥ ४ ॥

दोहा—चार वेद सन्तत करें, श्री गुरु का गुण-गान ।
अधिष्ठान द्रष्टा अचल, नर-नारायण जान ॥१॥

भावार्थ :—हे गुरुदेव ! आप के गुणों का गान निरन्तर चारों वेद करते रहते हैं आप सब ब्रह्माण्ड के अधिष्ठान-(आश्रय) द्रष्टा-(साक्षी) और अचल-(सत्यस्वरूप) मनुष्य रूप में आप स्वयं नारायण हैं ॥१॥

गुरु के प्रसाद शुद्ध आनन्द स्वरूप होत
गुरु के प्रसाद शिव काल कूट खायो है ॥
गुरु के प्रसाद वाल्मीकि व्यास सिद्ध भये
गुरु के प्रसाद ही से राम गुण गायो है ।
गुरु ही की कृपा ते आनन्द होत शालिग्राम,

गुरुपद की कृपा से पूर्ण पद पायो है ॥ १ ॥

(ब) गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं,
गुरु बिन आतम विचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहिं, गुरु बिन नेम नहिं,
गुरु बिन शीलहु सन्तोष न गहतु है।
गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकाश नहिं,
भ्रमहू को नाश नहिं संशय रहतु है।
गुरु बिन पार नहिं, कौडी बिन हाट नहिं,
सुन्दर प्रकट लोक वेद यूं कहत है ॥

(स) तीन लोक नौ खंड में, गुरु से बड़ा न कोइ।
करता करे न करि सकै, गुरु करै सो होइ ॥ (कबीर)
गुरु को शिर पर राखिके, चले जो आज्ञा मांहिं।
कहे वेद पुराण तिहुं, तीन लोक डर नाहिं ॥१॥
यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान ॥२॥
सच ही ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे को ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥३॥

(गुरु महिमा)

श्रवण।

श्रवण—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" —(बृहदारण्यक उपनिषद्)

अर्थः—अरे! आत्मा का देखना, सुनना मनन करना और निदिध्यासन करना चाहिये।

—हे कहान! स्वप्रकाश सुखरूप ब्रह्म की प्राप्ति की जिसको इच्छा होती है, तथा शास्त्र के पदार्थ का तथा वाक्य के अर्थ का जिसको ज्ञान होता है, ऐसा मनुष्य साधन सम्पन्न पुरुष मुमुक्षु होता है। प्रथम गुरुमुख से वेदान्त वाक्य को श्रवण कर उन वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में निश्चय करना—इसका नाम श्रवण है —(योगी याज्ञवल्क्य)

दोहा—जो सुनने में आवता, सबही श्रवण जान।
अधिकारी के भेद से, जुदा जुदा पहिचान॥ १॥
जो अधिकारी ज्ञान का, गुरु से पूछे तत्त्व।
महावाक्य के अर्थ का श्रवण करना नित्त॥ २॥

अर्थ यह है कि जो कुछ सुनने में आता है सो सभी श्रवण कहा जाता है, यह श्रवण का साधारण स्वरूप है। जैसे ईश्वर, ईश्वर की इच्छा ईश्वर का प्रयत्न, और ज्ञान वैसे ही दया,

काल, अदृष्ट, प्रागभाव और प्रतिबन्धाभाव ये नौ, सर्व कार्य के कारण होने से साधारण कारण कहे जाते हैं। और जो एक ही कारण हो वह असाधारण कारण होता है। जैसे रसना इन्द्रिय से एक रस का ही ज्ञान होता है, सुगन्ध आदि का नहीं होता है तैसे ही जो श्रवण किसी एक ही के वास्ते हो वह श्रवण असाधारण स्वरूप कहलाता है। जैसे महावाक्य का श्रवण, एक ज्ञान की इच्छा वाले के ही वास्ते है। इससे महावाक्य के श्रवण को असाधारण श्रवण कहते हैं। जो पुरुष आत्मज्ञान की इच्छा वाला है सो सत्वस्तु को ही गुरु से पूछता है, और महावाक्य के अर्थ को ही बार २ श्रवण करता है। क्यों कि हर वक्त वेदान्त का चिन्तन करने से संशय की निवृत्ति होजाती है। संशय ही पदार्थ के ज्ञान में प्रतिबन्ध होता है, इसी को असभावना कहते है। यह भी दो प्रकार की होती है। एक तो प्रमाणगत, दूसरी प्रमेयगत कहलाती है। प्रमेयगत को आगे कहेंगे, यहां प्रमाणगत का विवेचन करते है। प्रमाण कहिये शास्त्रगत, अर्थात्—उसमे असंभावना या संशय यह है कि वेदान्त के वचन स्वर्ग या मोक्ष का कथन करते हैं। इसमें जो संशय है, उसको प्रमाणगत असंभावना कहते है। वेदान्त शास्त्र के वारम्वार श्रवण करने से ऐसी प्रमाणगत असम्भावना की निवृत्ति हो के निस्संशय हो जावेगा। जैसे रत्न के परखने वाले जौहरी होते हैं, जो नाना प्रकार की युक्ति सुना के उस रत्नवाले को निस्संशय कर देते हैं, तैसे ही यह जो श्रवण है उसमें अनेक प्रकार के जो संशय हैं, जैसे—वेदान्तशास्त्र के सुनने का हमारे को अधिकार है

या नहीं है ? अब इस प्रकार श्रवण करने से कौन फल होता है ? स्वर्ग प्राप्त होता है कि मोक्ष ? अथवा—इसका सुनना निष्फल ही होता है ? इस रीति से अनेक प्रकार के संशय होते हैं। उन सर्व संशयों का औषधी की नाईं जो गुरु हैं सो अनेक प्रकार की युक्ति सुना के शिष्य को निस्संशय कर देते हैं। आत्मा सर्व में होने से आत्मजिज्ञासा सब को ही होती है। इससे श्रवण का सभी को अधिकार है। और स्वर्ग को तो वेदान्त ने बारंबार अनित्य कहा है। अतः नित्य जो मोक्ष है उसके प्रतिपादन करने से वेदान्त की सफलता है। इसी से वेदान्त में अपूर्वता है। इस प्रकार की युक्ति रूपी बाघिनी को देख व्याल रूपी संशय भाग जाता है। इस रीति से श्रवण-रूपी रत्न में जो नाना प्रकार के संशय हैं उनसे जिज्ञासु को निस्संशय होकर श्रवण करना चाहिये। इसी से उसको रत्न कहा है, और जिज्ञासा ही श्रवण का कारण है, पूर्व जो साधारण और असाधारण दो प्रकार का श्रवण कहा, सो ही इसका स्वरूप है, और असंभावना की निवृत्ति इसका फल है, मनन करने की सामर्थ्य नहीं हो, तब तक श्रवण करते रहना यही इसकी अवधि है।   —(विद्वद् रत्न गुणसागर)।

—जिस प्रकार वीणासहित गायन को सुनकर उसके हिरण सब सुधि को बिसार कर केवल गायन सुनने में निमग्न होते हैं उसी प्रकार गुरु मुख से निकले हुए तात्पर्य सहित वेदान्त वाक्य का श्रवण करें।

—(पंची करण)

श्रीसद्गुरुदेव महाप्रभु श्री नित्यानन्द जी महाराज की

आरती नं० ३

[शिव भाव]

ॐ विमलं गुरु देवं ।

ॐ[१] विमलं गुरुदेवं, अखिल सच्चिदानन्दं,
अखिल सच्चिदानन्दं, श्री नित्यानन्दं ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ टेक ॥

भावार्थ —हे शिष्य ! 'आ' अर्थात्–मेरे निकट आकर बैठ, और जो कुछ कहता हूँ उसमें 'रति' अर्थात् भाव कर, श्रद्धा कर, तेरा कल्याण होगा ।

प्रणव रूप परमात्मा माया मल से रहित, सत्चित् आनन्द-स्वरूप, परिपूर्ण है। निश्चय करके परिपूर्ण है। वह

१ (अ) ॐ—"भूत भवद्भविष्यति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव"। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं—
—(माण्डूक्य)

सकल विभूति सम्पन्न नित्य आनन्द-स्वरुप है। वही तेरा आत्मा है, वही तू है।

हे प्रसन्न रूप आत्मप्रिय! तू मुक्त (मुक्त) है इसलिये स्वस्वरूप का साक्षात्कार करके-मुक्त हो! मुक्त हो! (टेक)

अर्थात्:—एक नित्य वस्तु ओ३म् ही है जो कुछ जगत् दृष्टि पड़ता है सब इसका प्रकाश करने वाला ही है। भूत वर्तमान भविष्यत् सब ओंकार ही है। तीनों कालों से परे जो ब्रह्म, अथवा प्रकृति अथवा जीव जो सत् स्वरूप है वह भी सब ओंकार ही है। क्यों कि शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं ('अधिष्ठान से भिन्न नहिं' विचार सागर) होती। इसी प्रकार प्रकृति और जीव परमात्मा की शक्ति कहने से परमात्मा के साथ ही आजाते हैं। परमात्मा एक ही है, अतः परमात्मा की प्रजा जीवात्मा और इसकी सम्पत्ति नित्य मिलकर ओ३म बना है। इसी प्रकार तीन वस्तुओं से परमात्मा ओंकार कहलाता है। यदि व्याप्य प्रकृति न हो तो परमात्मा को व्यापक अर्थात् आत्मा नहीं कह सकते। यदि शरीर में व्यापक जीवात्मा न हो तो भी परमात्मा नहीं कह सकते। इसलिये ओंकार में ही सब आजाता है। सब ओंकार की ही व्याख्या है। जैसे राजा की प्रजा और सम्पत्ति राजा की महिमा बताने वाली होती है, इसी प्रकार जीव और प्रकृतिसे परमात्माके गुणोंका ही प्रकाश होता है। जो कुछ बीत चुका है, इसकी उत्पत्ति स्थिति प्रलय और मृत्यु परमात्मा की सत्ता का प्रकाश करती है। जो कुछ

विद्यमान है, उसकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश परमात्मा की सत्ता का प्रकाश कर रही है। जो आगे होगा, वह भी इसी काम को करेगा। निदान कार्य, कारण, प्रकृति और जीव से ॐ ही का प्रकाश होता है। इसलिये सब ॐ ही की महिमा समझनी चाहिये।

(ब) सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपा०ंसि सर्वाणि च यद्वदंति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं०संग्रहेण ब्रवीम्यो-
मित्येतत्॥
(कठ० १५-४४)

भावार्थ.—यमाचार्य कहते हैं-हे नचिकेता! जिस शब्दका सब वेद परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधन बताने के लिये बार बार कहते हैं, जिसके प्राप्ति करने के लिये वेदों ने हर प्रकार के तप और साधन बतलाये हैं,-अर्थात् पहले पढ़न मे जितना कष्ट होता है, फिर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये अनेकों प्रकार के व्रत करने मे और यज्ञ आदि की सामग्री के एकत्रित करने और निष्काम परोपकार करके, अन्तःकरण को ठीक करके, इसको एक ओर लगाने के लिये अभ्यास और वैराग्य के साधनों को ठीक करने में जिस प्रकार के तप बताये हैं, जिसकी इच्छा करते हुये ब्रह्मचर्याश्रम धारण किया जाता है, अर्थात्-समस्त इन्द्रियों को रोक कर ब्रह्म अर्थात् वेद के नियम की पूरी-पूरी आज्ञा पालन करते हुये वेदों की शिक्षा पाते है, जिससे वह अंधेरे की बाधा जिसके कारण से

अपने में व्यापक परमात्मा को भी जान नहीं सकते, जिस प्रकार दर्पण से ही आप और आँख का अक्स दृष्टि पड़ता है, इसी प्रकार मनरूपी दर्पण से ही जीवात्मा का ज्ञान होसकता है। बिना मन के शुद्ध हुए उसको देख नहीं सकते। परन्तु-अँधेरी रात में कुछ दृष्टि नहीं आता, इस कारण चाहे आँख का अक्स या-आँख से किसी दूसरी वस्तु देखना हो तो प्रकाश की दशा की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान के वास्ते जिस प्रकार की विद्या की आवश्यकता है वह वेद विद्या है, जिसके यथावत् प्राप्त करने का साधन ब्रह्मचर्याश्रम है, बिना ब्रह्मचर्याश्रम के वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः-जिस पद अर्थात्-शब्द के जानने के वास्ते उपयुक्त साधन किये जाते हैं, उस साधन को संक्षेप से तुझे बताता हूँ, "वह पद केवल ओ३म् है" अर्थात्-अकार से व्यापक होने का उकार से प्रकाशक होने का प्रमाण और मकार से बुद्धिमत्ता और प्रकाश स्वरूप तथा इसके अतिरिक्त अन्य सब कामों का पता ॐ से लग जाता है।

मंत्रः—एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(१६-७४)

भावार्थः—हे नचिकेता! 'ॐ' अक्षर है, यही सबसे बड़ा और नाश रहित ब्रह्म है और यही मनुष्य जीवन का नियत

मार्ग, या सबसे बढ़ कर जानने योग्य पदार्थ और ज्ञान की अन्तिम सीमा है, सारे साधन इसके ज्ञानके लिये ही आवश्य-कीय हैं। जिस प्रकार मार्ग की कुल सामग्री नियत स्थान पर पहुचने के लिये ही होती है, ऐसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सब पदार्थ 'ॐ' को जानने के लिये ही हैं जिस प्रकार समस्त रसोई की सामग्री का आशय केवल पेट भरना ही होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण साधनों की प्राप्ति केवल परमात्मा के जानने के लिये है, और जो मनुष्य उस अक्षर को जान जाता है, अर्थात्–जिसको परमात्मा का ज्ञान होजाता है, उसकी जो कुछ इच्छा होती है वह सब पूर्ण होजाती है। प्रथम तो ॐ को जानने के पश्चात् किसी इच्छा का होना ही कठिन है, क्योंकि–नियत मार्ग पर पहुंचने से प्रथम मार्ग की सामग्री दृष्टिगोचर होती है, कोई ऐसा नहीं होता जिसकी इच्छा शेष है। उसी 'ॐ' को आदि जगत् से मनुष्य सब से उत्तम नाम कहते चले आये है। इस नाम के ज्ञान से हर प्रकार का कष्ट स्वय दूर होजाता है। सम्पूर्ण सुखों का श्रोत यही मुख्य नाम है। जो लोग 'ॐ' के उपासक हैं उनको हर्ष शोक भयादि से कोई सम्बन्ध ही नहीं। जिस स्थान में सूर्य का प्रकाश हो, वहा किसी प्रकार का अंधेरा हो ही नहीं सकता। ऐसे ही जिस किसी ने 'ॐ' को जान लिया है उसको अविद्या हो नहीं सकती। जहा अविद्या नहीं है वहां दुःख किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि अविद्या से राग द्वेष मे प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति अर्थात्–बुरे, भले कामों के करने से

पाप पुण्य होते हैं और पाप-पुण्य से जन्म मरण होते हैं, जिस से दुःख होता है। जहाँ अविद्या नहीं वहाँ राग द्वेष हो ही नहीं सकता जहाँ राग द्वेष नहीं वहाँ दुःख किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होते। अत-एक 'ॐ' के स्वरूप का ज्ञान होना ही सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त होजाना है।

मंत्रः—एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
　　एतदालम्बनं ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके महीयते॥ १७।४९॥

भावार्थः—'ॐ' की उपासना सर्वश्रेष्ठ मुक्ति का साधन है, और यह साधनों में परम साधन है परन्तु 'ॐ' की उपासना के योग्य बनने के वास्ते ज्ञान की आवश्यकता है। किंतु इस लिये कि उपासना के योग्य बन जावें, अर्थात् अविद्या जो उपासना के मार्ग में बाधा डालनेवाली है दूर होजाय इसके लिये कर्म की आवश्यकता है। इसके लिये हमारा मन जो मैला है लग नहीं सकता और कर्म में लगाने के लिये शुद्ध मनकी ज़रूरत है। परन्तु-बिना निष्काम कर्म के मन शुद्ध हो नहीं सकता। और बिना मन की शुद्धि के 'ॐ' की उपासना सम्भव ही नहीं अतः—जितने साधन हैं, यह सब इससे पहले ही होते हैं। ब्रह्म के जानने के लिये यह सब से पर का साधन है जिसने इस साधन का ज्ञान लिया है वह ब्रह्मलोक के सुख अर्थात् ब्रह्मरस व आनन्द को प्राप्त होता है।

ॐ के इन नामों का अर्थः

हे प्रिय! ॐकार का उच्चारण करने के समय प्राण ऊपर को खींचकर चढ़ते हैं इस लिये आप ॐकार कहे जाते हैं।

आपको प्रणव कहने का कारण यह है कि इस प्रणव का उच्चारण करते समय ऋक, यजु, साम, अथर्व–अङ्गिरस और वसा ब्राह्मण को नमस्कार करने आते हैं आपको सर्वव्यापी कहने का कारण यह है कि इस नाम के उच्चारण करने के समय जैसे–तिलों में तेल काला रहता है ठीक वैसे–ही आप सब लोकों में ओत प्रोत हैं आपको अनन्त कहने का हेतु यह है कि इस को उच्चारण करते समय ऊपर नीचे और तिर्यक कहीं भी आपका अन्त देखने में नहीं आता।

हे शम्भो! आपको तारक कहने का कारण यह है कि इस नामका उच्चारण करने के समय आप गर्भ जन्म व्याधि जरा और मरण वाले संसार के महा भयसे तारने वाले हैं। शुक्ल कहने का हेतु यह है कि इस नाम का उच्चारण करने में क्लेद श्रम होता है। आपको सूक्ष्म इस लिये कहा जाता है कि इस शब्द का उच्चारण करने मे आप सूक्ष्मरूप वाले होकर स्थावरादि सब शरीरों पर अधिकार करते हैं। आपको सूक्ष्म वैद्युत कहने का यही हेतु है कि इसके उच्चारण के साथ ही स्थूल महाव अंधकार में भी सारे शरीर प्रकाश को प्राप्त होते हैं। हे महादेव! आपको 'ब्रह्म' कहने का कारण यह है कि आप पर अपर और परायण का बडी वीणा से ज्ञान कराते हैं। आपको एक इस लिये कहते हैं कि आप सब प्राणों का भक्षण करके अजरूप होकर उत्पत्ति और संहार करते हैं।

कोई–पुण्य–तीर्थ में जाते हैं, कितने ही दक्षिण पश्चिम उत्तर और पूर्व दिशा में तीर्थाटन करते हैं उन सबकी सद्-

गति यहीं है। आप सभी प्राणियों के साथ होकर एकरूप से रहते हैं इस लिये आपको एक कहते हैं।

हे शिव आपको रुद्र क्यों कहते हैं ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि आपका स्वरूप ऋषियों को प्राप्त हो सकता है सामान्य भक्तों को आपका तात्त्विक स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये आपको रुद्र कहते हैं। आपको 'ईशान' कहने का कारण यह है–कि सब देवताओं का ईशानी और जननी नाम की परम शक्तियों से आप नियमन करते हैं।

हे रुद्र जैसे-वृष के लिये गौ को रिझाते हैं ठीक वैसे-ही राम की स्तुति करते हैं।

हे रुद्र आपही इस वर्तमान जगत के ईश और दिव्य दृष्टि वाले हो इसलिये आपको ईशान कहते हैं।

हे महेश आपको भगवान् परमेश्वर कहने का कारण यह है कि आपका जो भक्त ज्ञान के लिये भजते हैं उनके ऊपर आप अनुग्रह करते हैं और उनके लिये वाणी का प्रादुर्भाव करते हैं तथा सब भावों को त्याग कर आप आत्मज्ञान से योग के ऐश्वर्य से अपनी महिमा में विराजते हैं इस लिये आपको भगवान्महेश्वर कहते हैं। —(अथर्व शिरोप०)

रूपधगत्वर :—

श्लोक—सर्वतः पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

ॐ सत्य त्रिकालाबाध, चित्त अलुप्त प्रकाशं
ॐ चित्त अलुप्त प्रकाशं, आनंदघन निजआतम,
ॐ आनँदघन[२] निज आतम, श्रीनित्यानन्दम् ॥
ॐ जय जय जय गुरु देव ॥ १ ॥

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व सर्वमावृत्य तिष्ठिति ॥
—(गीता १३-१६ ।)

अर्थात्‌:—उस परमात्मा के सब जगह हाथ पांव और नेत्र हैं सब जगह उसके समसा तथा मुख है, सब जगह कान है वह जगत में सबको घेरे हुये है स्थिति है ।

श्लोकः—सर्वानन शिरो ग्रीव. सर्वभूत गुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

अर्थात्‌:—सर्व प्राणियों के मुख मस्तक और गर्दन उस (ब्रह्म) ही के है यह सर्व भूतों की हृदय गुफामें रहा हुआ है और वह भगवान् सर्वभूतों को घेर कर रहा हुआ है इस लिये वह सर्वत्र शिव है ।

२—चिद्रूप मात्रं ब्रह्मैव सच्चिदानन्दमद्वयम् । आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ —(तेजोविन्दु उपनिषद्)

आदि मध्यान्त हीनोऽहमाकाश सदृशोऽस्म्यहम् । आत्म-चैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः ॥ —(ब्रह्मविद्या उप०)

भावार्थः—प्रणव रूप परमात्मा ही सत्य है वह चिदाभास-भाव है निश्चय करके चिदाभासाभाव है। जिसका चित्त प्रसुप्त अर्थात् चिन्मय होगया है, उसे ही (उसके) प्रकाश के दर्शन होते हैं। निश्चय करके उसे ही उसके प्रकाश के दर्शन होते हैं। तब उसे ज्ञान होता है कि-मेरा आत्मा आनन्दघन है निश्चय करके मेरा आत्मा आनन्दघन है, (और) सकल वैभव पूर्ण नित्यानन्द स्वरूप है।

हे प्रणव रूप! आत्मप्रिय [गुरुदेव-ब्रह्म] की तरह तू मुक्त है इसलिये स्वस्वरूप का साक्षात्कार करके-मुक्त हो! मुक्त हो!

> ॐ अखंड एक रस आप, निकट नहीं दूर।
> ॐ निकट नहीं दूर, रूप चराचर विभुवर,
> ॐ रूप चराचर विभुवर, श्री नित्यानन्द ॥
> ओं जय जय जय गुरुदेव ॥२॥

भावार्थः—हे आत्मप्रिय! प्रणव रूप परमात्मा तू है, अखंड है, एक रस है और ॐ अर्थात् परमात्मा से न तू दूर है न निकट है। निश्चय करके न दूर है न निकट है। अर्थात् 'तू' 'मैं' और 'ब्रह्म' एक ही हैं [इतना ही नहीं वरन्] यह जो कुछ रूप अर्थात् दृश्य है सब चराचर रूप और परमात्मा सकल वैभव पूर्ण नित्य, आनन्द स्वरूप हैं। हे प्रणवरूप आत्म प्रिय! स्व-स्वरूप जानकर मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! ॥२॥

ॐ गुरु-दर्शन गुरु-भक्त, अनायास करता ।
ॐ अनायास करता, जय विश्वनाथ अविनाशी,
ॐ जय विश्वनाथ अविनाशी, श्री नित्यानन्दं ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥३॥

भावार्थः—ऐसा जो गुरु-भक्त (अर्थात्-गुरुमे एक रूप हुआ-अधिकारी) ॐ गुरु=प्रणवरूप परमात्मा का दर्शन अनायास-सहज मे कर लेता है, निश्चय करके विना कष्ट के कर लेता है, यही उसकी जय है, जिस करके नाश रहित विश्व का नाथ हो जाता है, (क्योंकि-) प्रणवरूप परमात्मा निश्चय करके अविनाशी विश्वनाथ है, जो सकल वैभवपूर्ण, नित्य-आनन्द-स्वरूप है—वही तू है, इसलिये—

हे प्रणवरूप आत्मप्रिय ! स्वस्वरूप प्राप्तकर-मुक्त हो !
मुक्त हो ! मुक्त हो !

---

३ दोहा—गुरु आगम उपदेश तैं, पूर्व दूर निज रूप ।
सो अब निकट प्रकट पुन, तनु में आप अनूप ॥१॥
—(वा० वो० उ० १–१८)

दोहा—द्रष्टा साक्षी सर्व को, सत्चित आनन्द रूप ।
ध्यान जास योगी धरे, तेरो सोई स्वरूप ॥
—(वा० वो०)

दोहा—

चार* वेद सन्तत करें, श्री गुरु का गुण–गान ।
अधिष्ठान द्रष्टा अचल, नर–नारायण मान ॥१॥

भावार्थ—चारों वेद सतत ऐसे ही श्री गुरु के गुणों का गान करते रहते हैं कि–जिनकी कृपा से मनुष्य अपने को

०भावार्थ—जो जन्म, वृद्धि, परिणति, अपक्षय, व्याधि, और नाश-शरीर के इन छहों विकारों से रहित है तथा विश्व की सृष्टि और विनाश का कारण है, वह ब्रह्म तुम ही हो–ऐसा अपने मनमें जानो ।

१ श्लोक—यत्र कारणपरं परात्परं,
प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम् ।
सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

भावार्थ—जो परे से भी परे है जिससे परे और कोई भी नहीं है प्रत्यक् एक रस और सबका अन्तरात्मा है तथा सच्चिदानन्द स्वरूप-नित्यानन्द स्वरूप-अनन्त और अव्यय है वह ब्रह्म तुम ही हो–ऐसी अपने अन्तःकरण में भावना करो ।
— श्रीशंकराचार्य)

७ (अ) श्लोक–एतत्त्रितयं दृष्टं सम्यग्ब्रह्मस्वरूपविज्ञानात् ।
तस्मादब्रह्म सतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ॥

विश्वमात्र का अधिष्ठान, साक्षी, अचल होने का ज्ञान प्राप्त कर अनुभवानन्द ले कि केवल नारायण–नित्य आनन्द ही है ॥१॥

'भावार्थ'—रज्जु मे भ्रमके कारण सर्प की प्रतीति होती है, और उस मिथ्या प्रतीति से ही भय, कम्प आदि दुःखों की प्राप्ति होती है–किन्तु दीपक आदि द्वारा जिस प्रकार रज्जु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होते ही [रज्जु का अज्ञान (आवरण), अज्ञानजन्य सर्प (मल) और सर्प-प्रतीत से होने वाले भय कम्प आदि (विक्षेप)] ये तीनों एक साथ निवृत होते देखे जाते हैं, [उसी प्रकार आत्म स्वरूप का ज्ञान होने पर आत्मा का अज्ञान, अज्ञान जन्य प्रपञ्च की प्रतीति और उससे होने वाले दुःखों की एक साथ ही निवृति होजाती है] इसलिये ससार बन्धन से छूटने के लिये विद्वान् को आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । —(श्रीशंकराचार्य)

(घ) गोविन्द के किये जीव जात हैं रसातल कों,
गुरु उपदेश सो तो छूटे जम फद तें।
गोविन्द के किये जीव वश परे कर्मन के,
गुरु के निवारे सु फिरत हैं स्वच्छन्द ते ॥
गोविन्द के किये जीव डूबत भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वन्द ते।
सुन्दर और कहा कहूँ वेद हू कहत यही,
"गुरु की तो महिमा अधिक है गोविन्द तें"॥

श्लोकः—स्वयं ब्रह्मा, स्वयं विष्णुः, स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥

अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयञ्च,
स्वयं पुरस्तात्स्वयमेव पश्चात् ।
स्वयंह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां
तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ॥

तरङ्गफेनभ्रमबुद्बुदादि,
सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा ।
चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत्—
त्सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम् ॥

भावार्थः—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र शिव और यह सारा विश्व अपना आपही है अपने से भिन्न और कुछ भी नहीं है।

आप ही भीतर हैं आप ही बाहर हैं आगे हैं आप ही पीछे हैं, आप ही दायें हैं आप ही बांये हैं और आप ही ऊपर हैं, आप ही नीचे हैं।

जैसे तरंग फेन भँवर और बुदबुद आदि स्वरूप से जल ही है, वैसे ही देह से लेकर अहङ्कार-पर्यन्त यह सारा विश्व भी अखण्ड शुद्ध चैतन्य आत्मा ही है।

—(विवेक चूडामणि ३८९–९०–९१)

ॐ त्रीलोकी के नाथ, गुरु कुटस्थ स्वामी ।
ॐ गुरु कुटस्थ स्वामी, गुणातीत चेतन अज[४],
ॐ गुणा[४]तीत चेतन [५]अज, श्री नित्यानन्दं ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥४॥

भावार्थ—जो प्रवणरूप परमात्मा त्रैलोक्यनाथ है, वही गुरु कूटस्थ स्वामी है, निश्चय करके वही ॐ ब्रह्म गुरु का कुटस्थ स्वामी है, और वही गुणों से अतीत, चैतन्य और अजन्मा है—(वही तेरा स्वरूप है,) निश्चय करके (वही तू) गुणों से-अतीत, चैतन्य, अजन्मा है, और सकल वैभव सम्पन्न, नित्य आनन्द स्वरूप है, इसलिये-हे आत्म प्रिय प्रणव रूप ! मुक्त गुरुदेव की भांति स्व-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, मुक्त हो ! मुक्त हो ! मुक्त हो !

४—यत्परं सकलवागगोचरं, गोचरं विमलवोधचक्षुषः ।
शुद्धचिद्घनमनादि वस्तुयद्-ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि॥

भावार्थः—जो प्रकृति से परे और वाणी का अविषय है, (निर्मल ज्ञान चक्षु का विषय है) तथा-शुद्ध चिद्-घन अनादि वस्तु है। तुम वही ब्रह्म हो-ऐसी भावना करो।

५—जन्मवृद्धिपरिणत्यपक्षयव्याधिनाशन विहीनमव्ययम् ।
विश्वसृष्ट्यवनघातकारणं, ब्रह्मतत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

दोहाः—

चार* वेद सन्तत करें, श्री गुरु का गुण-गान ।
अधिष्ठान द्रष्टा अचल, नर-नारायण मान ॥१॥

भावार्थः—चारों वेद सतत ऐसे ही श्री गुरु के गुणों का गान करते रहते हैं कि—जिसकी कृपा से मनुष्य अपने को

०भावार्थः—जो जन्म, वृद्धि, परिणति, अपक्षय, व्याधि और नाश-शरीर के इन छहों विकारों से रहित है तथा विश्व की सृष्टि और विनाश का कारण है वह ब्रह्म तुम ही हो—ऐसा अपने मनमें जानो।

६ श्लोकः—यत्परं कारणपरं परात्परं,
प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम् ।
सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

भावार्थः—जो परे से भी परे है जिससे परे और कोई भी नहीं है प्रत्यक् एक रस और सबका अन्तरात्मा है तथा सच्चिदानन्द स्वरूप-नित्यानन्द स्वरूप-अनन्त और अव्यय है, वह ब्रह्म तुम ही हो—ऐसी अपने अन्तःकरण मे भावना करो।
— श्रीशंकराचार्य)

७ (अ) श्लोकः—एतन्निखिलं दृश्यं सम्यग्ब्रह्मस्वरूपविज्ञानात् ।
तस्माद्वस्तु सतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ॥

विश्वमात्र का अधिष्ठान, साक्षी, अचल होने का ज्ञान प्राप्त कर अनुभवानन्द ले कि केवल नारायण-नित्य आनन्द ही है ॥१॥

भावार्थः—रज्जु में भ्रमके कारण सर्प की प्रतीति होती है; और उस मिथ्या प्रतीति से ही भय, कम्प आदि दुःखों की प्राप्ति होती है-किन्तु दीपक आदि द्वारा जिस प्रकार रज्जु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होते ही [रज्जु का अज्ञान (आवरण), अज्ञानजन्य सर्प (मल) और सर्प-प्रतीत से होने वाले भय कम्प आदि (विक्षेप)] ये तीनों एक साथ निवृत होते देखे जाते हैं, [उसी प्रकार आत्म स्वरूप का ज्ञान होने पर आत्मा का अज्ञान, अज्ञान जन्य प्रपञ्च की प्रतीति और उससे होने वाले दुःखों की एक साथ ही निवृति होजाती है] इसलिये ससार बन्धन से छूटने के लिये विद्वान् को आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । —(श्रीशंकराचार्य)

(घ) गोविन्द के किये जीव जात हैं रसातल कों,
गुरु उपदेश सो तो छूटे जम फंद तें ।
गोविन्द के किये जीव वश परे कर्मन के ,
गुरु के निवारे सु फिरत हैं स्वच्छन्द ते ॥
गोविन्द के किये जीव डूबत भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वन्द ते ।
सुन्दर और कहा कहूँ वेद हू कहत यही,
"गुरु की तो महिमा अधिक है गोविन्द तें"॥

दोहा—

(ख) सोना काई नहिं लगे, लोहा घुन नहिं खाय।
बुरा भला जो गुरु भगत कबहुँ नर्क न जाय ॥१॥
हरि सम जग कछु वस्तु नहिं, प्रेम पंथ सम पंथ।
सद्गुरु सम सज्जन नहीं गीता सम नहिं ग्रन्थ ॥२॥
माता तात भ्राता सुहृद इष्टदेव नृप प्राण।
जगनाथ सुगुरु सबसे अधिक, यह जान सिज्ञान ॥३॥
तरल सद्गुरु माया लगी मोह नींद सोवंत।
अम्या ज्ञान लोचन खुल्यो, सुपनो भ्रम बिसरंत ॥४॥
गुरु बिन भ्रम जग भूलियो मत लहे बिन ज्ञान।
कहरि बपु नाहिं गिरयो परयो कूप अज्ञान ॥५॥
सूप बस आवरण ज्यों होत अग्नि उद्योत।
तैसे गुरु प्रसाद ते, अनुभव निर्मल होत ॥६॥
—(ज्ञानमाला)

दोहा—ज्ञान बिना मुक्ति नहीं जग बहु बिना नम होय।
सद्गुरु बिन ब्यापे नहीं कोटि कल्प सुधि जोय ॥१॥
—(प्रकीर्ण।)

(ग) उपाधि के त्याग से जीवात्मा ही परमात्मा है, इसकी पुष्टि के लिए चारों वेदों का प्रमाण उल्लेख किया जाता है:-

१—ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक का महावाक्य है 'प्रज्ञानं ब्रह्म' अर्थात् प्रज्ञान ही ब्रह्म है। जिसके द्वारा देखता सुनता

सूंघने, बोलने व स्वाद लेने का ज्ञान होता है उसे 'प्रज्ञान' कहते हैं। यह प्रज्ञान रूप चैतन्य देव मनुष्य और पशुओं में एक ही है।

२—यजुर्वेद के बृहदारण्यक का महावाक्य है—'अहं ब्रह्मास्मि', मैं स्वयं ब्रह्म हूँ। यह मनुष्य देह ब्रह्मज्ञान की अधिकारिणी है, इसमे सर्वत्र परमात्मा व्याप्त है, परमात्मा ही बुद्धि का साक्षी होकर इस देह मे स्थित है। उसको 'अहं—मैं' कहते हैं। देश काल वस्तु से जिसका भेद न हो व आपही सर्वत्र अखण्ड रूप से परिपूर्ण हो उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। 'अस्मि=हूँ' यह शब्द एकता का ही बोध कराता है।

३—सामवेद का महावाक्य है-'तत्त्वमसि', तू वह है। नाम रूप से रहित, एक, अद्वितीय, सत्यात्मा जो कि सृष्टि से पहिले था और अब भी वैसा ही है इसी को 'तत्=वह' कहते हैं। महावाक्य के सुनने वाले शिष्य में देह, इन्द्रिय, आदि से परे जो सत्यात्मा है उसी को गुरुद्वारा 'त्वं'=तू कहा गया है। 'असि=है' यह शब्द तू और वह को एक ही बतलाया है।

४—अथर्वण वेद का महावाक्य है-'अयमात्मा ब्रह्म', यह आत्मा ही ब्रह्म है। जो वस्तु अपने ही प्रकाश से अपरोक्ष हो उसे 'अयं=यह' कहते हैं। देह, इन्द्रिय, मन, प्राण के समुदाय का आदि अहंकार है और अन्तिम देह है। इन दोनों से न्यारा जो कि सबके साक्षी रूपसे इनमें व्याप्त है उसे 'आत्मा' कहते हैं।

—(पं० द०)

(अ) नारायण के ११ अर्थ :—

१—अपनी समीपता मात्र से जो चेतन सब पदार्थों को अपने २ कार्य में प्रवृत्त करता है, उस चेतन का नाम नर है, इस चेतन आत्मा रूप नर की माया दृश्य रूप से सम्बन्धी होने से माया को नारा कहते हैं तथा सूक्ष्म प्रपंच माया का कार्य होने से उसे नार कहने में आती है। माया रूप नारा में तथा सूक्ष्म प्रपंच रूप नार में परमात्मा प्रतिबिम्बित हो रहता है, इससे माया विशिष्ट परमात्मा को तथा सूक्ष्म प्रपंच विशिष्ट हिरण्यगर्भ को श्रुति नारायण कहती है।

२—परमात्मा रूप नर के उत्पन्न किये जल को नार कहते हैं यह नार रूप जल विराट्‌रूप परमात्मा का आधार होने से श्रुति ने परमात्मा को नारायण कहा है।

३—जिस प्रकार प्रसिद्ध नदियों का जल नौका का आधार है वैसे ही भूमि रूप नौका का आधार जल, परमात्मा से उत्पन्न होता है इस नार को परमात्मा सूत्रात्मा प्राणरूप से धारणकर्ता होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

४—स्थूल प्रपंच रूप शरीरवाला विराट् तथा—सूक्ष्म प्रपंच रूप शरीरवाला हिरण्यगर्भ इन दोनों नररूप नरों की स्थिति परमात्मा रूप कारण में होने से श्रुति ने परमात्मा को नारायण कहा है।

५—परमात्मा के प्रतिबिम्बरूप जीवों को नर कहने से

आता है। इनका निरूपण चिद्रूप परमात्मदेव से होता है, इससे श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

६—जीव में स्वभाव सिद्ध काम क्रोधादि दोषों को आर कहने में आता है। इस दुःख रूप आर के आश्रय रूप अज्ञानादि जड प्रपंच को आरायण कहते है। यह जड प्रपंचरूप आरायण स्वयं, ज्योति, आनन्द-रूप, परमात्मा में न होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

७—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा-अभिनिवेष यह पाँच क्लेश, पुण्य पापरूप कर्म, सुखदुःखरूप फल तथा-उसकी वासना, यह सब अविद्यादिक संसार चक्र की 'अरा' हैं। क्लेशादिरूप अरा का माया परिणामी उपादान कारण होन से आरायण कहलाता है। इस माया रूप आरायण से कूटस्थ परमात्मा भिन्न होने से श्रुति ने उसे 'नारायण' कहा है।

८—कल्पित तादात्म्याध्यास-रूप सम्बन्ध से मायारूप नारी की स्थिति परमात्मा में होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

९—परमेश्वर रूप नर के साथ सम्बन्ध रखनेवाली लक्ष्मी का नाम नारी है, यह नारी सर्व देहधारी जीवों को प्रिय, अनेक कलावाली, अनेक रूपवाली, अत्यन्तमनोहर, पुण्यवान को सुख देनेवाली तथा-पापियों को दुःख देनेवाली है। ऐसी लक्ष्मी रूप नारी परमात्मा में निश्चल होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

(ख) नारायण के ११ अर्थ —

१—अपनी समीपता मात्र से जो चेतन सब पदार्थों को अपने २ कार्य में प्रवृत्त करता है, उस चेतन का नाम नर है, इस चेतन आत्मा रूप नर की माया दृश्य रूप से सम्बन्धी होने से माया को नारा कहते हैं तथा सूक्ष्म प्रपंच माया का कार्य होने से उसे नार कहने में आती है। माया रूप नारा में तथा सूक्ष्म प्रपंच रूप नार में परमात्मा प्रतिबिम्बित हो रहता है, इससे माया विशिष्ट परमात्मा को तथा सूक्ष्म प्रपंच विशिष्ट हिरण्यगर्भ को श्रुति नारायण कहती है।

२—परमात्मा रूप नर से उत्पन्न किये जल को नार कहते हैं, यह नार रूप जल विराट्रूप परमात्मा का आधार होने से श्रुति ने परमात्मा को नारायण कहा है।

३—जिस प्रकार प्रसिद्ध नदियों का जल नौका का आधार है वैसे ही भूमि रूप नौका का आधार जल, परमात्मा से उत्पन्न होता है इस नारा का परमात्मा, सूत्रात्मा प्राणरूप से धारणकर्ता होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

४—स्थूल प्रपंच रूप शरीरवाला विराट् तथा सूक्ष्म प्रपंच रूप शरीरवाला हिरण्यगर्भ इन दोनों नररूप नरों की स्थिति परमात्मा रूप कारण में होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

५—परमात्मा के प्रतिबिम्बरूप जीवों को नर कहने से

से मनुष्य सब दुःखों के पार होजाता है। इस प्रकार यहाँ स्तवन, अर्चन और जप इन तीनों का एक ही फल बतलाया गया है। सम्पूर्ण अर्थात् अध्यात्मिक आदि तीनों प्रकार के दु:खों को पारकर जाता है, यानी सर्व दुःखातीत हो जाता है।

ब्रह्मण्यं सर्व धर्मज्ञं, लोकानां कीर्तिवर्धनं।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूत भवाद्भवं॥

अर्थः—जो ब्राह्मण अर्थात् जगत् की रचना करने वाले ब्रह्म के तथा ब्राह्मण तप और श्रुति के हितकारी हैं सब धर्मों को जानते हैं लोकों के अर्थात् प्राणियों की कीर्ति यानी यशको उनमें अपनी शक्ति से प्रविष्ट होकर चढ़ाते हैं जो लोक नाथ अर्थात् लोकों से प्रार्थित अथवा लोकों को अनुतप्त या शासित करने वाले अथवा उनपर प्रभुत्व रखन वाले हैं जो अपने समस्त उत्कर्ष से वर्तमान होने के कारण महद् अर्थात् ब्रह्म तथा महद्भूत यानी परमार्थ सत्य है जिनकी सन्निधि मात्र से समस्त भूतों का उत्पति स्थान संसार उत्पन्न होता है इसलिये जो समस्त भूतों के उद्भव स्थान हैं उन परमेश्वर का स्तवन करने से मनुष्य सब दुःखों से छूट जाता है।

एव मे सर्वधर्माणा धर्मोऽधिक तमोमतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवरर्चेन्नर, सदा॥८॥

सम्पूर्ण विधिरूप धर्मों मे इसी-धर्मको सबसे बडा मानता हूं कि मनुष्य श्री पुण्डरीकाक्ष का अर्थात् अपने-हृदय कमल मे विराजमान भगवान् वासुदेव का भक्ति पूर्वक तत्परता

१०—आनन्द स्वरूप तथा आत्मा का अनेक प्रकार के पदार्थों को दिखलानेवाली, सर्व जीव की बुद्धि का नाम नारी है। इस नारी रूप जड़ बुद्धि का स्वयं ज्योति आत्मादेव प्रकाशकर्ता होने से श्रुति ने स्वयं ज्योति तथा, आत्मा को 'नारायण' कहा है।

११—परमात्मा स कोई भी वस्तु भिन्न न होने से श्रुति ने परमात्मा को नारायण कहा है नारायणदेव स्वयं-ज्योति रूप अक्षर रूप परमपदरूप सर्व विश्व स पर सर्वविश्व रूप तथा सनातन है। जो अधिकारी नारायण रूप परमात्मगुरुदेव का श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक स्मरण तथा-कीर्तन करता है उसके अविद्यादि पांच क्लेशों का तथा सर्व पापों का परमात्मा नाश करता है। —(नारायणोपनिषद्)

(ख) अनादि निधनं विष्णुं सर्वलोक महेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्व दुःखातिगो भवत्॥
—(वि० स० ६।)

अर्थः—अनादि निधन अर्थात् (होना जन्म लेना बढ़ना बदलाना क्षीण होना और नष्ट होना इन) छः भाव विकारों से रहित विष्णु अर्थात् व्यापक तथा संपूर्ण लोकों के महेश्वर जो दिखलाई है उस दृश्य-वर्ग का नाम लोक है उसके नियंता ब्रह्मादि के भी स्वामी होने से जो सर्वलोक महेश्वर और सारे दृश्य-वर्ग का अपने स्वाभाविक ज्ञान से साक्षात् देखने के कारण लोकाध्यक्ष है उस (देव) की निरन्तर स्तुति करते

से मनुष्य सब दुःखों के पार होजाता है। इस प्रकार यहाँ स्तवन, अर्चन और जप इन तीनों का एक ही फल बतलाया गया है। सम्पूर्ण अर्थात् अध्यात्मिक आदि तीनों प्रकार के दुःखों को पारकर जाता है, यानी सर्व दुःखातीत हो जाता है।

ब्रह्मएय सर्व धर्मज्ञं, लोकानां कीर्तिवर्धन।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूत भवाद्भवं॥

अर्थः—जा ब्राह्मण अर्थात् जगत् की रचना करने वाले ब्रह्म के तथा ब्राह्मण तप और श्रुति के हितकारी हैं सब धर्मों को जानते हैं लाकों के अर्थात् प्राणियों की कीर्ति यानी यशको उनमें अपनी शक्ति से प्रविष्ट हाकर चढ़ाते है जो लोक नाथ अर्थात् लाकों से प्रार्थित अथवा लाकों को अनुतप्त या शासित करने वाले अथवा उनपर प्रभुत्व रखन वाले हैं जो अपने समस्त उत्कर्ष से वर्तमान हाने के कारण महद् अर्थात् ब्रह्म तथा महद्भूत यानी परमार्थ सत्य है जिनकी सन्निधि मात्र से समस्त भूतों का उत्पति स्थान संसार उत्पन्न हाता है इसलिये जो समस्त भूतों के उद्भव स्थान हैं उन परमेश्वर का स्तवन करने से मनुष्य सब दुःखों से छूट जाता है।

एव मे सर्वधर्माणा धर्मोऽधिक तमोमतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवर्चेन्नरः सदा॥८॥

सम्पूर्ण विधिरूप धर्मों में इसी धर्मको सबसे बडा मानता हूं कि मनुष्य श्री पुण्डरीकाक्ष का अर्थात् अपने-हृदय कमल में विराजमान भगवान् वासुदेव का भक्ति पूर्वक तत्परता

सहित गुण संकीर्तन रूप स्तुतियों से तथा अर्चन करे यानी मनुष्य आदर पूर्वक पूजन करे—इस प्रकार जो यह धर्म है। यही मुझे सबसे अधिक मान्य है।

इस स्तुति रूप अर्चन की अधिक मान्यता का कारण क्या है सो बतलाते हैं।

हिंसादि-पाप-कर्म का अभाव तथा अन्य पुरुष एवं द्रव्य देश और कालादि के नियम की अनावश्यकता ही इसकी अधिक मान्यता का कारण है।

विष्णु पुराण में कहा है—सत् युगमें ध्यान से त्रेतामें यज्ञ अनुष्ठान से और द्वापर में पूजा करने से मनुष्य जो कुछ पाता है वह कलियुग में भगवान कृष्ण का नाम संकीर्तन करने से ही पा लेता है। —(वि० पु० ६।२।१७)

मनुजी का वचन है—इसमें सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण अन्य कर्म करे या न करे वह केवल जपसे ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है अतः ब्राह्मण 'मैत्र' (सबका मित्र) कहा जाता है। —(मनु० २।८८)

महाभारत में कहा है—सम्पूर्ण धर्मों में जप सर्व श्रेष्ठ धर्म कहा जाता है। क्योंकि जप यज्ञ प्राणियों की हिंसा किये बिना ही सम्पन्न हो जाता है।

भगवान् का भी वचन है कि यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि यज्ञों मे मैं जप यज्ञ हूं। —(गीता १० । २५)

इन सब बातों को सोच कर ही भीष्म जी ने यह कहा है कि मुझे समस्त धर्मों में यही धर्म सबसे अधिक मान्य है ॥८॥
—(श्रीशाङ्कर भाष्य)

(ब) कुमुदिनि प्रफुलित करत शशि, कमल विकासत भानु ।
बिन मागे धन देत जल, त्यौंही सन्त सुजान ॥ (भर्तृ०)

(स) उत्तम पर कारज करे, अपनो काज विसार ।
पूरे अन्न जहान को, ना पति भिक्षा धार ॥
भले बुरे छोटे बड़े, रहें बड़नि पै आय ।
मकर असुरसुर गिरिअनल, दधि मथि सकल बनाय ॥
बडे भार ले निर बहे, तजत न खेद विचारि ।
सेस भरा धरि धर धरे, अबलों देत न डारि ॥
सन्त कष्ट सह आपही, सुखी राखें जु समीप ।
आप जरै तह औरको, करै उजेरो दीप ॥
अमृत भरे तन मन बचन, निशिदिन-जग उपकार ।
परगुण मानत मेरु सम, विरले जन संसार ॥

आनन्द घन :—

आत्मा चिदानन्द मयोऽविकार वन्दे, न्हादि संघाद्व्यति राम ईश्वरः। निरंजनो मुक्त उपाधितः सदा ज्ञात्वैव-मात्मानमितो विमुच्यते ॥

सहित गुण संकीर्तन रूप स्तुतियों से सदा प्रणाम करे यानी मनुष्य आदर पूर्वक पूजन करे–इस प्रकार जो यह धर्म है। यही मुझे सबसे अधिक मान्य है।

इस स्तुति रूप अर्चन की अधिक मान्यता का कारण क्या है सो बतलाते हैं :

हिंसादि-पाप-कर्म का अभाव तथा अन्य पुरुष एवं द्रव्य तथा और कालादि के नियम की अनावश्यकता ही इसकी अधिक मान्यता का कारण है।

विष्णु पुराण मे कहा है–सत् युगमे ध्यान से त्रेतामें यज्ञ द्वारा से और द्वापर में पूजा करने से मनुष्य जो कुछ–पाता है वह कलियुग में भगवान् कृष्ण का नाम संकीर्तन करने से ही पा लेता है। —(वि० पु० ६।२।१७)

मनुजी का वचन है—इसमें सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण अन्य कर्म कर या–न कर वह केवल जपसे ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है अतः ब्राह्मण 'मैत्र' (सबका मित्र) कहा जाता है। —(मनु० २।८८)

महाभारत म कहा है–सम्पूर्ण धर्मों में जप सर्व श्रेष्ठ धम कहा जाता है। क्योंकि जप यज्ञ प्राणियों की हिंसा किये बिना ही सम्पन्न होजाता है।

भगवान् का भी वचन है कि यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूं। —(गीता १० । २५)

इन सब बातों को सोच कर ही भीष्म जी ने यह कहा है कि मुझे समस्त धर्मों में यही धर्म सबसे अधिक मान्य है ॥८॥
—(श्रीशाङ्कर भाष्य)

(ब) कुमुदिनि प्रफुलित करत शशि, कमल विकासत भानु ।
बिन मागे धन देत जल, त्योंही सन्त सुजान ॥ (भर्तृ०)

(स) उत्तम पर कारज करे, अपनो काज बिसार ।
पूरे अन्न जहान को, ता पति भिक्षा धार ॥
भले बुरे छोटे बडे, रहें बड़नि पै आय ।
मकर असुरसुर गिरिअनल, दधि मधि सकल बनाय ॥
बडे भार ले निर बहें, तजत न खेद विचारि ।
सेस भरा धरि धर धरे, अबलों देत न डारि ॥
सन्त कष्ट सह आपही, सुखी राखें जु समीप ।
आप जरै तह औरका, करै उजेरो दीप ॥
अमृत भरे तन मन बचन, निशिदिन-जग उपकार ।
परगुण मानत मेरु सम, विरले जन संसार ॥

आनन्द घन :—

आत्मा चिदानन्द मयोऽविकार वन्दे, -हादि सधाढ्यति गम ईश्वर.। निरंजनो मुक्त उपाधितः सदा ज्ञात्वैव-मात्मानमितो विमुच्यते ॥

अर्थः—आत्मा चिदानन्द मय और अविकारी है इन्द्रियां तथा देह से अलग है ईश्वर स्वरूप है उपाधि से मुक्त है, निरञ्जन है इस प्रकार आत्मा को पहिचान कर इस संसार से मुक्त हुआ है। —(अध्यात्म रामायण)

> तदा चार्य प्रसादेन वाक्यार्थ ज्ञानतः क्षणात् ।
> देहेन्द्रियमनः प्राणाहं कृतिभ्यः पृथक् स्थितम् ॥
> स्वात्मानु भवतः सत्यमानंदात्मान मद्वयम् ।
> ज्ञात्वा सद्योभवेन्मुक्तः सत्यमेव मयोदितम् ॥२॥
>
> —(अ० रा०)

अर्थः—आचार्य की कृपा से जब वेदान्त वाक्यों का क्षण मात्र में ज्ञान प्राप्त होता है तब देह इन्द्रिय मन प्राण तथा अहंकार से पृथक् रहे।

अद्वय सत्स्वरूप तथा चिदानंद स्वरूप आत्मा का अनुभव होता है और इस प्रकार स्वात्मानुभव होने से तत्काल मोक्ष होता है इस प्रकार मैंने सत्य वस्तु का प्रकाश किया है।

आत्मबोधोपनिषद् में कहा है :—

सर्व भूतस्थ मेक नारायणं कारण पुरुषमकारणं परं ब्रह्म शोक मोह विनिर्मुक्तं विष्णुं ध्यायन्न सीदति। अर्थात् सर्वभूतों में स्थित एक एकाकार कारण रूप शोक मोहादि से रहित परब्रह्म नारायण विष्णु (गुरु) का ध्यान करने से (मनुष्य) दुःख नहीं पाता।

ऋषयः पितरोदेवा महा भूतानि धातनः ।
जङ्गमा जङ्गमं चेद जगन्नारायणोद्भयम् ॥
—(महाभारत)

अर्थः—ऋषि पितर देवता महाभूत धातुएँ और यह चराचर जगत नारायण से ही उत्पन्न हुआ है ।

योगो ज्ञान तथा सौख्यं विद्या शिल्पादी कर्मच ।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञान मेतत्सर्वं जनार्दनात् ॥
—(म० भा०)

अर्थः—योग ज्ञान तथा सांख्यादि विद्याएँ शिल्पादि कर्म एव वेद शास्त्र और विज्ञाम ये सब श्री जनार्दन से ही हुये हैं ।

एको विष्णु र्महद्भूत पृथग्मतान्य नेकश. ।
त्रींल्लोकान्व्यप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्यय. ॥

एकमात्र विष्णु भगवान् ही महत्स्वरूप हैं वह सर्व भूतात्मा विश्वभोक्ता अविनाशी प्रभु ही तीनों लोकों को व्याप्त कर नाना भूतों को तरह २ से भोगते हैं ।

आदरेण यथा स्तौति धनवन्त धनेच्छया ।
तथा चेद्विश्वकर्तारं को न-मुच्येत बधनात् ॥
—(गरुड पु० २३० । ५०)

अर्थ·—जिस प्रकार मनुष्य धन की इच्छा से धनवान की

अर्थः—आत्मा चिदानन्द मय और अविकारी है इन्द्रिया तथा देह से अलग है ईश्वर स्वरूप है उपाधि से मुक्त है, निर्मल है इस प्रकार आत्मा को पहिचान कर इस संसार से मुक्त हुआ है। —(अध्यात्म रामायण)

तदा चार्य प्रसादेन वाक्यार्थ ज्ञानतः क्षणात् ।
देहेन्द्रियमनः प्राणाहङ्कृतिभ्यः पृथक् स्थितम् ॥
स्वात्मानु भवतः सत्यमानन्दात्मान मद्वयम् ।
ज्ञात्वा सद्यो भवेन्मुक्तः सत्यमेव मयोदितम् ॥२॥
—(अ० रा०)

अर्थः—आचार्य की कृपा से जब वेदान्त वाक्यों का क्षण-मात्र में ज्ञान प्राप्त होता है तब वह इन्द्रिय मन प्राण तथा अहंकार से पृथक् रहे।

अद्वय सत्यस्वरूप तथा चिदानंद स्वरूप आत्मा का अनुभव होता है और इस प्रकार स्वात्मानुभव होने से तत्काल मोक्ष होता है इस प्रकार मैंने सत्य वस्तु का प्रकाश किया है।

आत्मबोधोपनिषद् में कहा है :—

सर्वे भूतस्थ मेकं नारायणं कारण पुरुषमकारणं परं ब्रह्म शोक मोह विनिर्मुक्तं विष्णुं ध्यायन्न सीदति। अर्थात् सब भूतों में स्थित एक एकाकार कारण रूप शोक मोहादि से रहित परब्रह्म नारायण विष्णु (गुरु) का ध्यान करने से (मनुष्य) दुख नहीं पाता।

हराम्यधं च स्मर्तॄणां हविर्भाग क्रतुष्वहम् ।
वर्णश्चमेहारे श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरिह स्मृतः ॥

अर्थ—मैं अपना स्मरण करनेवालों के पाप और यज्ञों मे हविर्भाग का हरण करता हूँ तथा मेरा अति सुन्दर हरित वर्ण है इसलिये मै हरी कहलाता हूँ ।

—(म० भा० ३४२ । ६८)

रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानंदे चिदात्मनि ।
इति राम पदे नैतत्पर ब्रह्माभिधीयते ॥

जिस नित्यानन्द स्वरूप चिदात्म में योगी जन रमण करता है वह परब्रह्म 'राम' इस पद से कहा जाता है ।

कृषि भूवाचकः शब्दोणश्च निवृ ति वाचकः ।
विष्णुस्तद्भाव योगश्च कृष्णो भवति शाश्वत ॥

—(महा उद्योग ७० । ५)

अर्थः—कृष शब्द सत्ता का वाचक है। और 'ण' आनन्द का श्री विष्णु में के दोनों भाव हैं, इसलिये वे सर्वदा कृष्ण कहलाते हैं, इस व्यास जी के वाक्यानुसार सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् ही कृष्ण हैं ।

शाठ्येनापि नमस्कारः प्रयुक्तश्चक्र पाणये !
संसार स्थूल वन्धाना मुद्वेजन करा हिसः ॥१॥

आदर पूर्वक स्तुति करता है उसी प्रकार यदि विश्वकर्ता की स्तुति करे तो कौन बन्धन से मुक्त नहीं हो जावेगा ?

सर्वे विद्या नामुपेद्रष्टस्यात्सर्वेषां जनकस्याद्गुरुः ।

सब विद्याओं के उपद्रष्टा होने से तथा सबके जन्म दाता होने से गुरु है ।

नारायण परं ज्योतिः——नारायण परम ज्योति है ।

—(ना० उ० १३।१)

लोक त्रयाधिपतिम प्रतिम प्रभाव मीषत प्रकम्प शिरसा प्रसविष्णु मीष्म । जन्मान्तर प्रलय कल्प सहस्र जात-माशु प्रयाश मुपयाति नरस्य पापम् ॥

—(महाभारत शान्तिपर्व ४७ । ७१)

तीनों लोकों के स्वामी अनुपम प्रभाव शाली तथा अनेक रूपम प्रकट होने वाले भगवान के शिर झुकाकर थोड़ासा प्रणाम करने से मनुष्य के हजारों महा कल्पों में जन्म जन्मान्तरों में किये हुये सम्पूर्ण पाप तुरन्त नष्ट होजाते हैं ।

हरिर्हिनिर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत ॥

—(महापुराण)

अर्थ—हरि साक्षात् निर्गुण पुरुष है प्रकृति से परे है तथा सर्व अंगों की द्रष्टिका उपद्रष्टा है इससे उनका भजन करने वाला भी निर्गुण होता है ।

हरामयध त्र स्मर्तॄणां हविर्भाग क्रतुष्वहम् ।
वर्णाश्चमेहारे श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः ॥

अर्थ.—मैं अपना स्मरण करनेवालों के पाप और यज्ञों में हविर्भाग का हरण करता हूँ तथा मेरा अति सुन्दर हरित वर्ण है इसलिये मैं हरी कहलाता हूँ ।

—(म० भा० ३४२ । ६८)

रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानंदे चिदात्मनि ।
इति राम पदे नैतत्परं ब्रह्माभिधीयते ॥

जिस नित्यानन्द स्वरूप चिदात्म में योगी जन रमण करता है वह परब्रह्म 'राम' इस पद से कहा जाता है ।

कृषि र्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृति वाचकः ।
विष्णुस्तद्भाव योगश्च कृष्णो भवति शाश्वत ॥

—(महा उद्योग ७० । ५)

अर्थ.—कृष शब्द सत्ता का वाचक है । और 'ण' आनन्द का श्री विष्णु में के दोनों भाव हैं, इसलिये वे सर्वदा कृष्ण कहलाते हैं, इस व्यास जी के वाक्यानुसार सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् ही कृष्ण है ।

शास्येनापि नमस्कारः प्रयुक्तश्चक्र पाणये !
संसार स्थूल बन्धाना मुद्वेजन करोहिस. ॥१॥

अर्थः—भगवान् चक्रपाणि को जो शठता (दम्भ) से भी किया हुआ नमस्कार है वह भी निःसन्देह संसार के स्थूल बन्धनों का काटने वाला होता है।

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च॥

अर्थः—एक देव ही जो सब प्राणियों में छिपा हुआ है सर्वत्र व्याप्त है सब जीवों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अध्यक्ष (कर्म फल का विभाग करने वाला) है सब भूतों का अधिष्ठान है तथा सब का साक्षी सबको चेतना देने वाला एक मात्र और निर्गुण है।

जो सब से पहले ब्रह्मा को रचता है और फिर उसे वेद प्रदान करता है आत्मा और बुद्धि के प्रकाश स्वरूप उस देव की मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ। ऐसा श्वेताश्वतर शाखा के मन्त्रोपनिषद् में कहा है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है 'उस पूर्वोक्त देवता ने ईक्षण किया'। 'वह एक ही अद्वितीय था'।

प्र०:—जीवात्मा और परमात्मा में तो भेद है फिर एक ही देव कैसे हो सकता है?

उ०:—ऐसा मत कहो, क्योंकि 'उसे रच कर उसी में प्रविष्ट होगया'। 'वह इस [शरीर] में नख से लेकर [शिखा पर्यंत] अनुप्रविष्ट है इत्यादि श्रुतियों से अविकारी परमात्मा का ही बुद्धि तथा उस की वृत्तियों के साक्षीरूप में प्रवेश कहा

जाने के कारण उनमें अभेद है। यदि कहो कि प्रविष्ट हुओं का तो परस्पर भेद होता है, फिर जीव और परमात्मा की एकता कैसे हो सकती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'एक ही देव अनेक प्रकार से स्थित है' एक होने पर भी अनेक प्रकार से विचार किया जाता है तुम एक ही अनेकों मे अनुप्रविष्ट हो इत्यादि श्रुतियों से एक का ही अनेक प्रकार प्रवेश कहा जाता है। इसलिये प्रविष्ट हुओं मे भेद नही है।

इसी विषय में 'हिरण्यगर्भः' आदि आठ मन्त्र है 'कस्मै-देवाय' इस तैत्तरीयक श्रुति मे भी एकार का लोप हुआ है, अतः यह मत्र भी एक देव का प्रतिपादक है।

कठोपनिषद् में कहा है:—जिस प्रकार संसार में व्याप्त हुआ एक ही अग्नि पृथक्-पृथक् आकारों के सयोग से भिन्न २ रूप वाला होता है उसी प्रकार समस्त प्राणियों का एक ही अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न रूपों के अनुरूप और उनके बाहर भी स्थित है जैसे एक ही विश्वव्यापी वायु भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार तद्रूप होगया है उसी प्रकार समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न रूपों के संयोग से उनके अनुरूप है और उनसे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत का नेत्र सूर्य्य दर्शनजन्य बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार समस्त प्राणियों का एक अन्तरात्मा परमेश्वर उन सब के दुखों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वास्तव में वह शरीर से भिन्न है। समस्त भूतों का एक ही अन्तरात्मा है। जो सब को वश में करने वाला है और अपने एक ही रूप

अर्थः—भगवान् चक्रपाणि का जो शठता (दम्भ) से भी किया हुआ नमस्कार है वह भी निःसन्देह संसार के स्थूल बन्धनों का काटने वाला होता है ।

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च ॥

अर्थः—एक देव है जो सब प्राणियों में छिपा हुआ है सर्वत्र व्याप्त है सब जीवों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अध्यक्ष (कर्म फल का विभाग करने वाला) है सब भूतों का अधिष्ठान है तथा सब का साक्षी, सबको चेतना देने वाला, एक मात्र और निर्गुण है ।

जो सब से पहले ब्रह्मा को रचता है और फिर उसे वेद प्रदान करता है आत्मा और बुद्धि के प्रकाश स्वरूप उस देव की मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ । ऐसा श्वेताश्वतर शाखा के मन्त्रोपनिषद् में कहा है । छान्दोग्योपनिषद् में कहा है इस पूर्वोक्त वचना में इसका किया' । 'वह एक ही अद्वितीय था' ।

प्र०—जीवात्मा और परमात्मा में तो भेद है फिर एक हो वह कैसे हो सकता है ?

उ०—ऐसा मत कहो, क्योंकि 'उसे रच कर उसी में प्रविष्ट होगया' 'वह इस [शरीर] में मख से लेकर [शिखा पर्यन्त] अनुप्रविष्ट है इत्यादि श्रुतियों से अविकारी परमात्मा का ही बुद्धि तथा उस की वृत्तियों के साक्षीरूप से प्रवेश कह

होकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझ परमात्मा को भजता है वह योगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ ही मे वर्तता है। परिडत-जन विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण मे, गौ मे, हाथी मे, कुत्ते में और चाण्डाल में भी समान दृष्टि रखने वाले होते हैं।' 'हे अर्जुन! मैं सम्पूर्ण भूतों के अन्तःकरणों में स्थित उन का आत्मा हूं तथा मैं ही समस्त प्राणियों का आदि, मध्य और अन्तभी हूं।' जिस समय पृथक पृथक भावको एक (परमात्मा के सकल्प) मे ही स्थित देखता है और उसी से सब भूतों का विस्तार हुआ जानता है उस समय ब्रह्म को प्राप्त होजाता है। हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। इसलिये सर्व धर्मों को त्याग कर केवल एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर। हे विप्रगण! आप लोगों को सत्त्वगुण में स्थित होकर सर्वदा एक मात्र श्री हरि का ही ध्यान करना चाहिये। आप सदा ओंकार का जप और श्री केशव का ध्यान करें। हे पुरुषोत्तम! निश्चय ही सम्पूर्ण देवताओं मे एक आप ही आश्चर्य रूप और धन्य है। हे महा-बाहो! संसार में (आपके समान) और कोई भी नहीं है। इस प्रकार हरिवंश में कहा है। 'जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधि रूप है यह श्रुति मनु का महात्म्य बतलाने वाली है। और मनु जी कहते हैं—समस्त भूतों में स्थित अपने आत्मा को और समस्त भूतों को अपने आत्मा में देखता हुआ आत्मयज्ञ करने वाला पुरुष स्वराज्य लाभ करता है।'

को नाना प्रकार के कर देता है। अपने अन्तःकरण में स्थित उस देव को जो धीर पुरुष देखते हैं उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है औरों को नहीं। जो नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है तथा जो अकेला ही अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करता है उसे जो धीर पुरुष अपने अन्तःकरण में स्थित देखते हैं उन्हें ही नित्य शान्ति प्राप्त होती है। औरों को नहीं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है:—'प्रथम एकमात्र यह ब्रह्म ही था अकेला होने से उसे अपने ऐश्वर्य से तृप्ति न हुई इसके अतिरिक्त और कोई दृष्टा नहीं है इत्यादि।

ईशावास्य में कहा है:—वह एक है चलता नहीं है [तथापि] मन से भी अधिक वेग वाला है। 'एकत्व देखने वाले को फिर क्या शोक और क्या मोह ?' [श्रुति कहती है] पहले यह एक आत्मा ही था और कुछभी नहीं था। 'समस्त प्राणियों के भीतर जो पुरुष है वह मेरा आत्मा है—ऐसा जान। ऋग्वेद कामी कथनहै—'उस एक आत्मा कोही ब्राह्मणलोग नाना प्रकार से कहते हैं। उस एक की ही नाना प्रकार से कल्पना करते हैं। 'यह एक ही देव पृथ्वी और स्वर्ग को रचता हुआ' 'वह अकेला ही सम्पूर्ण लोकों को धारण किये हुए है। 'अनेक प्रकार से बढ़ाया हुआ अग्नि एक ही है। छान्दोग्य में भी कहा है—हे सौम्य! पहिले यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।

श्री गीतोपनिषद् में कहा है:—जो पुरुष एकत्व में स्थित

होकर सम्पूर्ण भूतों मे स्थित मुझ परमात्मा को भजता है वह योगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ ही में वर्तता है। पण्डित-जन विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण मे, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल मे भी समान दृष्टि रखने वाले होते हैं।' 'हे अर्जुन ! मैं सम्पूर्ण भूतों के अन्तःकरणों में स्थित उन का आत्मा हू तथा मैं ही समस्त प्राणियों का आदि, मध्य और अन्तभी हूं।' जिस समय पृथक पृथक भावको एक (परमात्मा के सकल्प) में ही स्थित देखता है और उसी से सब भूतों का विस्तार हुआ जानता है उस समय ब्रह्म को प्राप्त होजाता है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। इसलिये सर्व धर्मों को त्याग कर केवल एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूगा, तू शोक मत कर। हे विप्रगण ! आप लोगों को सत्त्वगुण में स्थित होकर सर्वदा एकमात्र श्री हरि का ही ध्यान करना चाहिये। आप सदा ओंकार का जप और श्री केशव का ध्यान करें। हे पुरुषोत्तम ! निश्चय ही सम्पूर्ण देवताओं में एक आप ही आश्चर्य रूप और धन्य हैं। हे महा-बाहो ! संसार मे (आपके समान) और कोई भी नहीं है। इस प्रकार हरिवंश में कहा है। 'जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधि रूप है यह श्रुति मनु का महात्म्य बतलाने वाली है। और मनु जी कहते हैं—समस्त भूतों में स्थित अपने आत्मा को और समस्त भूतों को अपने आत्मा मे देखता हुआ आत्मयज्ञ करने वाला पुरुष स्वराज्य लाभ करता है।'

'वह एक ही जनार्दन भगवान् संसार की रचना, स्थिति और संहार करने वाली ब्रह्मा विष्णु और शिव रूप तीन संज्ञाओं को प्राप्त होता है।'

'इस लिए हे द्विज ! विज्ञान के सिवा और कोई वस्तु कुछ भी नहीं है यह एक विज्ञान ही अपने-अपने कर्मों के भेद से विभिन्न चित्त वालों को भिन्न भिन्न प्रकार का प्रतीत हो रहा है। यह ज्ञान शुद्ध निर्मल शोकहीन और लोभादि सम्पूर्ण सङ्गों से रहित है। वही एक सत् श्रेष्ठ और परमेश्वर है तथा वही सर्वत्र व्याप्त है—उस से पृथक् और कुछ नहीं है।

जब कि समस्त देह में एक ही पुरुष व्याप्त है तब 'आप कौन हैं ? मैं अमुक हूँ !' कहना व्यर्थ है।

जिस प्रकार [दृष्टि-दोष से] एक ही आकाश श्वेत, नील आदि अनेकों भेद वाला दीख पड़ता है उसी प्रकार भ्रान्त-दृष्टि पुरुषों को एक ही आत्मा अलग २ दिखाई देता है। यहाँ जो कुछ है वह एक अच्युत भगवान् ही है उनसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वही मैं वही तू ही है और यह आत्म स्वरूप ही सब कुछ है, भेद दृष्टिरूप मोह को छोड़। उन (जड़ भरत) के इस प्रकार कहने पर उस परमार्थ दृष्टि वाले नृप श्रेष्ठ (रहूगण) ने भेद भाव का त्याग किया।

—(विष्णु २। १६। २२-२४)

यमराज ने [अपने दूतों से] कहा था—यह सम्पूर्ण संसार और मैं एकमात्र परम पुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं—

जिनकी हृदयस्थ अनन्त भगवान् मे ऐसी दृढ़ भावना होगई है उन्हें तुम दूर से ही छोड कर निकल जाया करो।

हे देवगण! पृथवी ने जो कुछ कहा है वह ठीक ही है; मैं महादेव जी और आप सब भी नारायण स्वरूप ही है जो उसकी विभूतियां है उन्हीं की न्यूनता तथा अधिकता परस्पर बाध्य-बाधक रूप से रहती है।

[भगवान् कृष्ण बलराम से कहते है] 'हे विश्वात्मन्! आप और मै दोनों इस ससार के एक ही कारण हैं। इस ससार के लिये ही हम दोनों भिन्न रूप से स्थित है।'

[श्री कृष्णचन्द्र जी महादेव जी से कहते है] जो अभय आप ने दिया है वह सब मेरा ही दिया हुआ है। हे शकर! आप अपने को मुझ से पृथक न देखें। जो मै हूँ वही आप और देवता, असुर तथा मनुष्यों के सहित यह सारा ससार है। जिन पुरुषों का चित्त अविद्या से मोहित होरहा है वे ही भेद भाव देखने वाले होते है।

इस प्रकार विष्णु पुराण में कहा है। भविष्योत्तर पुराण में श्री महादेव जी का वचन है–'जो मनुष्य मुझे अथवा ब्रह्मा जी को विष्णु से अलग देखते हैं, वे कुतर्क बुद्धि मूढ जन नीचे नरक में गिरकर दुःख भोगते हैं। तथा जो दुष्ट बुद्धि मूढ लोग मुझे और ब्रह्मा जी को विष्णु से पृथक देखते हैं उन्हें उससे ब्रह्म-हत्या के समान पाप लगता है।'

'यह एक ही जनार्दन भगवान् संसार की रचना, स्थिति और संहार करने वाली ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप तीन संज्ञाओं को प्राप्त होता है।

'इस लिये हे द्विज! विज्ञान के सिवा और कोई वस्तु कुछ भी नहीं है यह एक विज्ञान ही अपने-अपने कर्मों के भेद से विभिन्न चित्त वालों को भिन्न भिन्न प्रकार का प्रतीत हो रहा है। यह ज्ञान शुद्ध निर्मल शोकहीन और लोभादि सम्पूर्ण दोषों से रहित है। वही एक सत् श्रेष्ठ और परमेश्वर है तथा वही सर्वत्र व्याप्त है उस से पृथक् और कुछ नहीं है।

जब कि समस्त देह में एक ही पुरुष व्याप्त है तब 'आप कौन हैं? मैं अमुक हूँ' कहना व्यर्थ है।

जिस प्रकार [दृष्टि-भेद से] एक ही आकाश श्वेत नील आदि अनेकों भेद वाला दीख पड़ता है उसी प्रकार भ्रान्त दृष्टि पुरुषों को एक ही आत्मा अलग २ दिखाई देता है। यहां जो कुछ है वह एक अच्युत भगवान् ही है उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वही मैं, वही तू है और यह आत्म स्वरूप ही सब कुछ है, भेद दृष्टिरूप मोह को छोड़। उन (जड़ भरत) के इस प्रकार कहने पर उस परमार्थ दृष्टि पाकर भूप श्रेष्ठ (रहूगण) ने भेद भाव का त्याग किया।

—(विष्णु० २।१६।२२-२४)

यमराज ने [अपने दूतों से] कहा था—यह समस्त संसार भर में एकमात्र परम पुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं—

ही है, 'तब उस ने अपने ही को जाना कि मैं ब्रह्म हूं' 'वह सब ब्रह्म अपूर्व, अनन्य, अनन्तर, और अबाह्य है, यह आत्मा ही ब्रह्म है, 'वह यह महान् अजन्मा आत्मा जरा, मरण, मृत्यु और भय से रहित ब्रह्म ही है, इत्यादि ब्रह्मको आत्म स्वरूप से स्वीकार करान वाले और भी बहुत से दृष्टान्त ध्यान मे रखने योग्य हैं। इन के सिवा 'यह तेरा अन्तर्यामी अमर आत्मा है, जो मन से मनन नहीं किया जाता बल्कि जिनके कारण मन का मनन करना कहा जाता है, तू उसी को ब्रह्म जान, यह लोग जिसकी उपासना करते है वह ब्रह्म नहीं है, 'वह सत्य है' वही आत्मा है और वही तू है' इत्यादि अन्य वेदान्त वाक्य भी ईश्वर का आत्मभाव से ग्रहण और बोध कराते हैं।

प्र० —प्रतिमा मे विष्णु दृष्टि करने के समान यह प्रतीक-दर्शन ही होगा।

उ०:—ऐसा कहना ठीक नहीं, इससे (परमात्मा में) गौणता आ जायेगी और वाक्य का रूप भी बदल जायगा। जहां प्रतीक दृष्टि अभीष्ट होती है वहा केवल एक बार ही कहा जाता है, जैसे—'मन ब्रह्म है' 'आदित्य ब्रह्म है, इत्यादि। किन्तु यहा तू मैं हूं और मैं ही तू है' इस प्रकार (परस्पर अभेद करके) कहा है अतः प्रतीक श्रुति से विरुपता होने के कारण अभेद की ही प्राप्ति होनी है। इस के सिवा भेद दृष्टि की निन्दा करने से भी यही सिद्ध होता है जैसा कि अन्य देवता को यह समझ कर उपासना करता है कि यह अन्य है और मैं अन्य हूं वह नहीं जानता अत. वह (देवताओं के)

इसी प्रकार हरिवंश में कैलाश यात्रा के प्रसंग में महेश्वर का कथन है।

समस्त भावों के आदि, मध्य और अन्त आप ही हैं। यह सम्पूर्ण त्रिलोकी में हम दोनों का शब्द से या अर्थ से किसी प्रकार भी भेद नहीं है। हे गोविन्द ! संसार में जो-जो आप के महान् नाम हैं वे ही मेरे भी हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है। हे गोपेश ! हे जगन्नाथ ! जो आप की उपासना है वही मेरी हो। हे देव ! जो आप से द्वेष करता है इसमें सन्देह नहीं वह मुझ से भी द्वेष करता है। हे देव ! क्योंकि मैं भूपति भी आप ही का विस्तार हूं इसलिये हे सर्व व्यापक देव ! ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आप से रहित हो। जो कुछ था जो कुछ है और जो भी कुछ होगा हे जगत्पते ! हे देवेश्वर ! वह सब आप ही हैं आप से अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यह सब वाक्य एकत्व का प्रतिपादन करने वाले हैं।

और भी (परमात्मा को) आत्मा स्वरूप से ही प्राप्त होते हैं। और (आत्म स्वरूप से ही) ग्रहण कराते हैं इस सूत्र में 'आत्मा' ऐसा कह कर शास्त्रोक्त लक्षण विशिष्ट परमात्मा का ही प्रतिपादन करना अभीष्ट है। तथा जाबाल शाखा वाले भी परमात्म प्रक्रिया में 'हे भगवन् ! हे देव ! तू ही मैं हूं और मैं ही तू है ऐसा कह कर उसको आत्मस्वरूप से स्वीकार करते हैं। तथा जो यहां है वही अन्यत्र है जो अन्यत्र है वही यहां है जो यह इस पुरुष में है और जो आदित्य में है वह एक

से स्थित जानता है उस ज्ञानको सात्विक जानो। इस प्रकार भगवान ने भी 'अद्वैत आत्म दर्शन ही सम्यग्दर्शन है' ऐसा कहा है। अतः आत्म स्वरूप ईश्वर मे ही मन को स्थिर करना चाहिये।

इस के सिवा आप भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा, 'आत्मा और परमात्मा है, इस प्रकार आप अकेले ही पांच प्रकार से स्थित हैं'। तथा, अथवा हे अर्जुन! इन सबको बहुत जानने से तुम्हें क्या प्रयोजन है? मैं अपन एक अंश से ही इस सम्पूर्ण जगत् में प्रविष्ट होकर स्थित हू।' इत्यादि (स्मृतिया भी यही बतलाती हैं)

अविद्यारूप उपाधि के सम्बन्ध में भी यह प्रमाणवाद है। —एक ही महान् आत्मा है, वही अहंकार कहा जाता है और उसे ही तत्त्वज्ञानी लोग जीव या अन्तरात्मा कह कर वर्णन करते हैं।

तथा विष्णुपुराण मे कहा है:—

'विभेद जनक अज्ञान के आत्यन्तिक नाश को प्राप्त होजाने पर आत्मा और ब्रह्म का भेद, जो सर्वथा असत्य है, कौन करेगा?'

'हे राजन्! आत्मा और परमात्मा का विभाग अज्ञान कल्पित ही है उस अज्ञान) के नष्ट हो जाने पर जीव और ब्रह्म का विभाग अभाग रूप ही है।'

पशु के समान है 'जो इस लोक में अनेकवत् देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है', 'जिस प्रकार पर्वत शिखर पर बरसा हुआ जल पर्वतों में (पर्वतों के निम्न भागों में) फैल जाता है उसी प्रकार आत्मा धर्मों (देहधारी जीवों) को विभिन्न देख कर उन (उपाधियों) ही का अनुगमन करता है 'दूसरे से निश्चय ही भय होता है' 'जिस समय यह इस (आत्मा) में थोड़ा सा भी अन्तर करता है तभी इसे भय होता है। ऐसा मानने वाले विद्वान को भी वह (भेद ज्ञान) भयरूप ही है 'जो सब को आत्मा से भिन्न देखता है उसका सब तिरस्कार कर देते हैं' इत्यादि। इसी प्रकार की अनेकों श्रुतियां भेद बुद्धि की निन्दा करती हैं।

तथा यह सब आत्मा ही है 'आत्मा को जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है 'यह जो कुछ है सब आत्मा ही है' 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि श्रुतियां (अभेद का प्रतिपादन करती हैं)।

स्मृति भी कहती है—'हे पाण्डव! जिसे जान कर फिर तू इस मोह को प्राप्त नहीं होगा और जिसके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को अपने आत्मा में और मुझको भी देखेगा। अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ईश्वर की सम्पूर्ण उपाधियों में प्रसिद्ध एकता देखेगा।

जिसके द्वारा सम्पूर्ण भूतों में एक अविनाशी भाव देखता है और उस (आत्म तत्त्व) को विभिन्न भूतों में अभिन्न रूप

से स्थित जानता है उस ज्ञानको सात्विक जानो। इस प्रकार भगवान ने भी 'अद्वैत आत्म दर्शन ही सम्यग्दर्शन है' ऐसा कहा है। अतः आत्म स्वरूप ईश्वर मे ही मन को स्थिर करना चाहिये।

इस के सिवा आप भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा, 'आत्मा और परमात्मा है, इस प्रकार आप अकेले ही पांच प्रकार से स्थित हैं'। तथा, अथवा हे अर्जुन! इन सबको बहुत जानने से तुम्हें क्या प्रयोजन है? मैं अपने एक अंश से ही इस सम्पूर्ण जगत् में प्रविष्ट होकर स्थित हू।' इत्यादि (स्मृतिया भी यही बतलाती है)

अविद्यारूप उपाधि के सम्बन्ध में भी यह प्रमाणवाद है। —एक ही महान् आत्मा है, वही अहंकार कहा जाता है और उसे ही तत्त्वज्ञानी लोग जीव या अन्तरात्मा कह कर वर्णन करते हैं।

तथा विष्णुपुराण में कहा है:—

'विभेद जनक अज्ञान के आत्यन्तिक नाश को प्राप्त होजाने पर आत्मा और ब्रह्म का भेद, जो सर्वथा असत्य है, कौन करेगा?'

'हे राजन्! आत्मा और परमात्मा का विभाग अज्ञान कल्पित ही है उस अज्ञान) के नष्ट हो जाने पर जीव और ब्रह्म का विभाग अभाग रूप ही है।'

विष्णु धर्म में कहा है:—'जिस प्रकार एक घटाकाश के धूलि या धूएँ से व्याप्त होने पर उससे दूरवर्ती अन्य घटाकाश कहीं किसी समय मलिन नहीं होते, उसी प्रकार अनेकों कर्मों से एक जीव के मलिन हो जाने पर अन्य जीव कभी मलिन नहीं हो सकते।

ब्रह्म याज्ञवल्क्य म कहा है:—जिस प्रकार एक ही आकाश घट आदि उपाधियों म पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है उसी प्रकार जल के पात्रों में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान एक ही आत्मा अनेक उपाधियों म अनेक सा जान पड़ता है।

श्वेताश्वतर म कहा है:—क्षर (जड़वर्ग) और आत्मा (चेतन) इन दोनों का एक ही देव शासन करता है। 'छान्दोग्योपनिषद् का कथन है' वह एक ही प्रकार है इत्यादि श्रुति कहती है वह वहाँ सब और व्याप्त है, 'वह इन दिव्य नेत्रों से मन ही के द्वारा इन भोगों को देखता हुआ रमण करता है' 'अधिकारी परमात्मा ही यह अपना आत्मा रूप जीव है' तथा 'वही यह इसमे अनुप्रविष्ट है' ऐसी बृहदारण्यक श्रुति भी है इसके सिवा 'वह आत्मा है इस प्रकार ही उपासना करे' 'वह यह ब्रह्म अपूर्व है' [इस आत्मा के सिवा] कोई अन्य द्रष्टा या अन्य विज्ञाता नहीं है 'यह जो विज्ञानमय है वही महान् अज आत्मा है' 'तथा जो अन्य देवता की उपासना करता है यह सब इसी का रूप है इत्यादि और श्रुतियां भी है।

योगी याज्ञवल्क्य का वचन है:— जिस प्रकार तपाये हुए

लोहे से चिनगारियाँ निकलती है, उसी प्रकार आत्मा से अनेकों जगत प्रगट होते हैं।'

ब्रह्म पुराण मे कहा है वह अजन्मा ही शरीर ग्रहण करने के कारण जात (जन्मा हुआ) कहा जाता है।

[इस के सिवा] 'जिस प्रकार रात्रि के समय घर मे पडा हुआ रस्सी का टुकडा सर्प के समान प्रतीत होता है तथा तिमिर रोग से पीड़ित नेत्रों वाले को आकाश मे एक ही चन्द्रमा दो-जैसा जान पड़ता है उसी प्रकार एक ही नित्योदित स्वय ज्योति सर्वगामी परम पुरुष परमात्मा समस्त उपाधियों में उपस्थित होकर भास रहा है वह अहंकार रूप अविवेक के कारण ही मैं कर्ता हूँ ऐसा मानता है। तथा इसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा के साथ मिलकर और हे सोम्य! उस समय वह सत् से मुक्त हो जाता है इत्यादि एवं 'श्रीहरि अपनी माया अपने को मोहित कर द्वैत रूप माया के कारण अपने को गुणयुक्त अनुभव करते हैं।' 'तथा क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान' 'उठते अथवा स्थित होते हुए' 'ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है' 'अव्यक्त से विशेष (पञ्चभूत) पर्यन्त सब अविद्या रूप ही माना गया है, 'यह सब अन्धकार मय था' 'वाणी का विलास मात्र है' जहाँ द्वैत के समान होता है वही अन्य, अन्य को देखता है, जहां इसके लिये सब आत्म स्वरूप ही हो गया वहाँ किससे किसको देखे और किससे किसको सूँघे? 'जिस अवस्था में सब भूत आत्म स्वरूप ही हो जाते हैं वहाँ एकत्व देखने वाले उस ज्ञानी को क्या मोह और क्या शोक हो सकता

है ? 'जहाँ अन्य कुछ नहीं देखता और न अन्य कुछ जानता ही है 'यह भेद अज्ञान ही के कारण है, यहाँ नाना कुछ भी नहीं है इस लोक मे जो अनेकवत् देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, सब और बाधु धाला है 'जो योनि (मूल) म स्थित है वह एक ही सम्पूर्ण रूप और योनियाँ हैं' 'अपने ही समान बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित श्वेत और कृष्ण वर्ण प्रजा को सेवन करने वाला एक अज उस का अनुगमन करता है और दूसरा उसे भोग कर त्याग देता है 'देखनेरूप शक्ति को धारण किया [सुषुप्ति मे] उससे दूसरा (बुद्धि रूप प्रमाता) अन्य (इन्द्रिय रूप कारण) अथवा पृथक् (विषय) कोई नहीं है जिसे वह देखे 'एक ही अज था दूसरा कोई नहीं' इत्यादि ।

तथा गौडपादकारिका में भी कहा है यह जो कुछ चराचर द्वैत है सब मन का ही दृश्य है मन का अमनी भाव होजाने पर द्वैत उपलब्ध ही नहीं होता । 'इसमें सन्देह नहीं प्रपञ्च यदि होता तो अवश्य निवृत्ति हो सकता था, किन्तु द्वैत केवल माया मात्र है परमार्थतः तो अद्वैत ही है । 'जिस प्रकार स्वप्न में मन माया से ही द्वैत का स्फुरण करता है उसी प्रकार माया वश मन ही जाग्रति मे द्वैत का स्फुरण करता है' इत्यादि ।

तथा स्वप्नादि विषयों के समान सम्पूर्ण भूत दृश्य रूप है, इसलिये तर्क से भी प्रपञ्च की मनो मात्रता ही जानो । 'दूसरे से निश्चय ही भय होता है' आत्मा को जान लेने पर यह

आत्मा की कार्य कारणता नहीं रहती' 'एक ही देव सम्पूर्ण भूतों मे छिपा हुआ है' 'यह पुरुप असग ही है' आदि।

विष्णुपुराण में भी कहा है.—यह सम्पूर्ण जगत सर्व भूत विष्णु का ही विस्तार है। अतः विलक्षण पुरुषों को इसे आत्मा के समान अभेद रूप से देखना चाहिये। हे दैत्य गण! तुम सर्वत्र समता को प्राप्त हो क्योंकि समता ही श्री अच्युत की आराधना है। हे तात सर्व भूतमय विश्वरूप परमात्मा जगदीश्वर श्री गोविन्द में शत्रु मित्र की बात ही कहाँ है?

'तथा तू वह है मै ब्रह्म हूँ यह जो कुछ है सब आत्मा है' 'यह आत्मा ब्रह्म है' 'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है एव 'एकत्व देखने वाले को क्या मोह और क्या शोक?' इत्यादि श्रुति, स्मृति, इतिहास और लोकोक्तियों से भी (यही बात सिद्ध होती है) सिद्ध अर्थ (ब्रह्म) में भी वेद का प्रमाण मानना चाहिये, यथा.—

यदि स्वपंथ और साधनों से (प्रभाकर मतावलम्बी) अर्थ समूह को अकार्य (क्रिया के अयोग्य) बतलाता है तो दूसरे लोग श्रुति को परमात्मा का ज्ञान कराने वाली क्यों न मानें? ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों का कथन है।

पदों का सामर्थ्य अन्यान्वितस्वार्थ (अन्य पद से युक्त अपने अर्थ) में है, कार्यान्वितस्वार्थ (कार्य से युक्त अपने अर्थ) मे नहीं यदि ऐसा होतो अर्थवादों (प्रशंसा वाक्यों) का

अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि उनकी अन्वय बुद्धि स्तुतिरूप ही है। जैसे धन की इच्छा वाला वायु सम्बन्धी श्वेत पशु का आलम्भन करे। वायु निश्चय ही शीघ्र फल देने वाला देवता है इस वाक्य में (कामना का बाध) नहीं होता इस प्रकार (स्वर्गादिक विषयक) राग ही (यागादि मे) प्रवर्तक होता है, अन्य नहीं।

श्रुति भी कहती है—'कहा भी है यह पुरुष कामनामय है यह जैसी कामना वाला होता है वैसा ही संकल्प करता है वैसा ही कर्म करता है उसी को प्राप्त हो जाता है।

तथा स्मृति भी कहती है—इस लोक में बिना कामना के किसी का कर्म नहीं देखा जाता जो-जो भी कर्म किया जाता है सब कामना ही की चेष्टा होती है। तथा यह काम है क्रोध है इत्यादि। अतः अन्य विषय सम्बन्धी मन्त्र और अर्थवादों को भी प्रामाणिकता स्वीकार करनी चाहिये क्योंकि उन्हें अप्रामाणिक कहने से नहुष सर्प योनि को प्राप्त हुआ था जो किस प्रकार (सुनिये) दुरात्मा नहुष द्वारा शिबिका उठाने में नियुक्त किये हुए निर्मल-स्वभाव महाभाग ऋषि, ब्रह्मर्षि और देवर्षियों ने थक जाने पर पापी नहुष से यह शङ्का की 'हे इन्द्र ! ब्रह्मा जी ने गौओं का प्रक्षोक्षण करने के लिये जो मन्त्र कहे हैं आप उन्हें प्रामाणिक मानते हैं या नहीं ? मूढ़ बुद्धि नहुष उन से सहसा कह उठा 'नहीं'।

ऋषियों ने कहा—तू अधर्म में प्रवृत्त होरहा है और धर्म

को त्यागना चाहता है। पूर्वकाल में महर्षियों ने हमें वे मन्त्र प्रामाणिक बतलाये हैं।

अगस्त्य जी बोले तब राजा नहुष ने ऋषियों के साथ विवाद करते हुए अधर्मातुर हो मेरे शिर का पांव से स्पर्श किया। हे इन्द्र इससे वह नष्ट बुद्धि और श्रीहीन होगया। उस समय मैंने भयातुर और उद्विग्न चित्त नहुष से कहा—'रे मूढ तूने पूर्वकाल में महर्षियों द्वारा बनाये और पालन किये निर्दोष मार्ग को दूषित किया है, मेरे शिर को पैर लगाया है और जिनका मिलना अत्यन्त कठिन है उन ब्रह्मतुल्य महर्षियों को वाहक बना कर अपनी शिबिका वहन कराई है इस लिये हे राजन्! इस अपराध के कारण तू निस्तेज होकर सर्परूप धारण कर दश सहस्र वर्ष तक पृथिवी पर विचरेगा और फिर शाप मुक्त होकर पुन स्वर्ग प्राप्त करेगा। ऐसा महाभारत में कहा है।

अतः आत्मज्ञान में श्रद्धा करनी चाहिये। श्री भगवान का भी कथन है। 'हे शत्रु-दमन! इस धर्म में अश्रद्धा करने वाले पुरुष मुझे न पाकर मृत्युरूप ससार-मार्ग मे लौट आते हैं। ऐतरेयक श्रुति मे भी कहा है यही मार्ग है, यही कर्म है, यही ब्रह्म है, यही सत्य है, अत. इससे प्रमाद न करे, इसका त्याग न करे जिन्होंने पहले इसका त्याग किया था वे पराभाव को प्राप्त हुए।'

वेद मन्त्र भी कहता है:—'तीन प्रसिद्ध प्रजाओं ने धर्म का

त्याग किया था अन्य प्रजा सब प्रकार अर्क (अर्चनीय अग्नि) की उपासना में तत्पर हुई कुछ सकल भुवनों में महान् सूर्य की उपासना करने लगी। जगत् का पवित्र करने वाला वायु सब दिशाओं में प्रविष्ट हुआ (कुछ उसकी उपासना करने लगी) तीन प्रसिद्ध प्रजाओं ने धर्म त्याग किया जिन तीन प्रजाओं ने धर्म का त्याग किया था वे पक्षी, वङ्ग, वगध और इरपाद हैं ऐसी श्रुति है। वङ्ग वन के वृक्ष हैं, वगध औषधियां हैं और इरपाद उर (हृदय) ही जिनके पाद हैं सर्पादि हैं।

तथा ईशावास्योपनिषद् में अविद्वान् की निन्दा विषयक यह मन्त्र है वे असुर्य नाम के लोक घोर अंधकार से व्याप्त हैं, जो कोई आत्मघाती पुरुष होते हैं वे मरने पर उन्हीं को प्राप्त होते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् में कहा है—ब्रह्म असत्य है, यदि ऐसा जानता है तो वह (जानने वाला) असत् ही होजाता है' तथा शकुन्तलोपाख्यान का वचन है—'जो अन्य प्रकार से स्थित अपने आत्मा को अन्य प्रकार जानता है उस आत्म घाती चोर ने कौन पाप नहीं किया ? अस्तु ! अब अधिक प्रसङ्ग बढ़ाने की आवश्यकता नहीं।

अब सहस्रनाम जप के अनुरूप मानसस्नान का वर्णन किया जाता है। 'जिस में देवता और ब्रह्म पूर्ण एकता को प्राप्त होगये हैं उस परम पवित्र मानस-तीर्थ को जाय और उसमें स्नान कर अमर होजाय या मनुष्य मानस-तीर्थ में स्नान कर,घर के भीतर राग-द्वेष रूप मल को दूर करने वाले ध्यान

रूप जल में स्नान करता है वह परमगति प्राप्त करता है। सरस्वती रजोमयी हैं, यमुना तमोमयी और गङ्गा जी सत्त्व स्वरूपा हैं, अतः वे निर्गुण ब्रह्म तक नहीं जा सकतीं। आत्मा नदी है वह संयम रूप जल से भरी हुई है सत्य उसका ह्रद (जल प्रवाह), शील तट है और दया तरङ्ग है हे पाण्डुपुत्र! उसमें स्नान करो, जल से अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता। ऐसा महाभारत मे कहा है।

स्मृति का कथन है:—'श्री विष्णु भगवान् का चिन्तन मानसिक स्नान है।'

मनुजी कहते हैं:—'इसमे सन्देह नहीं ब्राह्मण कोई और कर्म करे या न करे, केवल जप से ही शुद्ध होजाता है, अतः ब्राह्मण 'मैत्र' (सबका मित्र) कहा जाता है।'

(इसके सिवा) 'जप सम्पूर्ण धर्मों मे श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि जप-यज्ञ प्राणियों की हिंसा के विना सम्पन्न होजाता है।' इत्यादि तथा गीता के यज्ञों मे मैं जप-यज्ञ हूँ आदि एवं अपवित्र हो अथवा पवित्र सभी अवस्थायों मे स्थित हुआ भी जो श्री कमल नयन भगवान् का स्मरण करता है वह बाहर-भीतर से पवित्र होजाता है इत्यादि (वचन भी जप यज्ञ का महत्त्व बतलाते हैं) ॥

आतमान विष्णुं ध्यात्वाऽर्चनस्तुति नमस्कारादि कर्तव्यम्।
—(जगद्गुरु शंकराचार्य)

अर्थात्—ये पूजा स्तुति और नमस्कारादि विष्णु भगवान् को आत्मरूप से चिन्तन करके करने चाहियें।

महाभारत-धर्म-काण्ड में कहा है:—

"ना विष्णुः कीर्तयेद्विष्णुं ना विष्णुर्विष्णुमर्चयेत् ।
ना विष्णुः संस्मरेद्विष्णुं ना विष्णुर्विष्णुमाप्नुयात् ॥

अर्थात्—'बिना विष्णुरूप हुए विष्णु का कीर्तन न करे, बिना विष्णु हुए विष्णु का पूजन न करे बिना विष्णु हुए विष्णु का स्मरण न करे और न बिना विष्णु हुए विष्णु को प्राप्त हो।'

विष्णु धर्म में कहा है—'हे अनघ ! ये सब नाम परब्रह्म के ही हैं। (३।१२१।११) भक्त जिस २ वस्तु की इच्छा करता है निस्सन्देह उसी को प्राप्त कर लेता है। उस जगद्गुरु की आराधना करने से सब इच्छायें पूर्ण होजाती हैं। हे वात्स्य ! मनुष्य गोविन्द को तन्मयता से ही प्राप्त कर सकता है जो पुरुष तन्मय होजाता है वह अपनी इच्छित वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है इसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है।

श्री भगवद्गीता (६।३१) में कहा है:—'जो पुरुष एकत्व में स्थित होकर समस्त भूतों में स्थित मुझ परमात्मा का भजन करता है वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझ ही में बर्तता है।

विष्णु पुराण का कथन हैः—मैं श्रीहरि हूँ, यह समस्त संसार जनार्दन ही है, उस (परमात्मा) से अतिरिक्त और कोई कार्य कारणादि नहीं है–जिसका ऐसा चित्त है उसे फिर जन्मादि से होने वाली द्वन्दरूप व्याधियाँ नहीं होतीं।'

—(विष्णु पुराण १ । २२ । ८७)

स्मृति कहती हैः—जहां गुरु का अपवाद या निन्दा होती हो वहां कान मूँद लेने चाहिये अथवा वहां से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिये। —(३ । २३३ । ६२)

"तस्माद् ब्रह्मैवाचार्य स्वरूपेणाव तिष्ठते।"

भाव यह है किः अतः ब्रह्म ही आचार्य रूपमे स्थित है।

अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला के भीतर रहना अच्छा है, किंतु श्रीहरि चिन्तन विमुख लोगों के साथ रहने का दुःख अच्छा नहीं, कात्यायन जी के इस वाक्य से भी यही तात्पर्य निकलता है कि जहाँ श्री वासुदेव की निन्दा होती हो वहाँ नहीं रहना चाहिये।

जिसकी भगवान् में अत्यन्त भक्ति है और भगवान् के समान ही गुरु में भी है उस महात्मा को ही इन ऊपर कहे हुए अर्थों का प्रकाश होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस (६ । २३) मंत्र से भी यही सिद्ध होता है कि श्रीहरि और गुरु में परा भक्ति करनी चाहिये। —(आचार्यभाष्य।)

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥"

—(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

अर्थः—"जो एकबार भी मेरी शरण आकर "मैं तुम्हारा हूँ" ऐसा कहकर माँगता है उसे मैं सब प्राणियों से अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है ।"

(ख) "वेदान्तगो ब्राह्मणः"   —(शि० स०)

इत्यादि श्लोक पर श्रीआचार्य भगवान् ने जो भाष्य किया है उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है:—

जो वेदान्तों—उपनिषदों के अर्थ ब्रह्मको जानता है उसे वेदान्तग कहते हैं ।

'जिसका जप करने से जीव जन्म मरणरूप संसार से मुक्त हो सकता है' इस कथन के अनुसार जप रूप कर्म से साक्षात् मोक्ष होने की शंका होने पर 'कर्मों की मोक्ष में साक्षात् कारणता नहीं है मोक्ष ज्ञान से ही होता है ।'

यह दिखलाने के लिये 'ब्राह्मण वेदान्त का ज्ञाता होजाता है' ऐसा कहा है । कर्म तो अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ही मोक्ष के हेतु होते हैं ।

वासनाओं का पचना ही कर्म है और ज्ञान परम गति

है। कर्म के द्वारा वासनाओं के जीर्ण होजाने पर फिर ज्ञान होता है।'

'नित्यज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य बन्धन मुक्त होजाता है।'

'धर्म से सुख और ज्ञान होता है तथा ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।'

'योगी जन आसक्ति त्यागकर चित्त शुद्धि के लिये कर्म किया करते हैं।' —(गीता ५ । ११)

'जीव कर्म से बंधता है और विद्या से ही मुक्त होजाता है, इसलिये पारदर्शी यतिजन कर्म नहीं करते।'

—(ब्रह्म० १२६ । ७)

'श्रेष्ठ ब्राह्मण को उचित है कि विहित कर्मों को भी त्याग कर आत्म ज्ञान, शम और वेदाभ्यास में यत्न शील हो।'

—(मनु० १२ । ६२)

'[मनुष्य] तप से पाप नष्ट करता है और विद्या से अमृत प्राप्त करता है।'

'पाप कर्म के क्षीण होजाने पर पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय वह स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान अपने आत्मा में आत्मा को देखता है।' (गरुड़ १ । २३७ । ६) इत्यादि स्मृतियों से तथा 'इस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदानु

वचन से, यज्ञ से, दान से, तप से और अनशन से जानने की इच्छा करते हैं। —(बृ० उ० ४४ । २२)

और मनुष्य जिस किसी भी वस्तु से अथवा दर्वि होम से यजन करे, किन्तु इससे उसका मन ही शुद्ध होता है। इत्यादि श्रुतियों से भी–कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के ही हेतु सिद्ध होते हैं।

मोक्ष तो ज्ञान से ही होता है, 'ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त होता है उससे मुक्त होजाता है'।

'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' —(तै० उ० २ । १)

'तरति शोकमात्मवित्' —(छा० उ० ७ । १ । ३)

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' —(मु० उ० ३ । २ । ९)

'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्यति' —(बृ० उ० ४ । ४ । ६)

'ब्रह्म को जानने वाला परमपद को प्राप्त कर लेता है।'

'आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है।

'जो ब्रह्मको जानता है ब्रह्म ही हो जाता है।

'ब्रह्म हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त होता है।

'उसे जानकर ही मृत्यु का पार करता है मोक्ष के लिये

कोई और मार्ग नहीं है।' —(श्वे० उ० ६ । १५)

'ब्रह्मानन्द को जानने वाला किसी से भी भय नहीं मानता ।' —(तै० उ० २ । ४)

'यदि उसे यहाँ जान लिया तब तो ठीक है और यदि नहीं जाना तो बहुत बड़ी हानि है।' —(के० उ० २ । ५)

'जब मनुष्य आकाश को चमडे के समान लपेटलेंगे तब देवको विना जाने भी दुःख का अन्त हो जायगा।'
—(श्वे० उ० ६ । २०)

'अमृतत्व कर्म से, प्रजा से या धन से प्राप्त नहीं होता, वह तो एक त्याग से ही प्राप्त होता है।'
—(कै० उ० १ । ३)

'वेदान्त=विज्ञान से जिन्होंने अर्थ का निश्चय कर लिया है तथा जो सन्यास योग से शुद्ध चित्त हो गये हैं वे सभी यति जन प्रलय के समय ब्रह्मलोक में परम अमृत होकर मुक्त हो जाते हैं।' (के० उ० १ । ४) इत्यादि श्रुतियों से यही बात सिद्ध होती है।

पचम मे यज्ञ से, दान से, तप से और अनशन से जानने की इच्छा करते हैं। —(बृ० उ० ४४।२२)

और मनुष्य जिस किसी भी वस्तु से अथवा हवि होम से यजन करे, किन्तु इससे उसका मन ही शुद्ध होता है। इत्यादि श्रुतियों से भी—कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के ही हेतु सिद्ध होते हैं।

मोक्ष तो ज्ञान से ही होता है, 'ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त होता है' उससे मुक्त होजाता है।

'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' —(तै० उ० २।१)

'तरति शोकमात्मवित्' —(छा० उ० ७।१।३)

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' —(मु० उ० ३।२।९)

'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' —(बृ० उ० ४।४।६)

'ब्रह्म को जानने वाला परमपद को प्राप्त कर लेता है।'

'आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है।'

जो ब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही हो जाता है।

'ब्रह्म हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त होता है।

'उसे जानकर ही मृत्यु को पार करता है मोक्ष के लिये

प्रसन्नता द्वारा उपदेश रूप दृष्ट (प्रत्यक्ष) फल की प्राप्ति होती है। सो सेवा–तन, मन, वाणी और–धन के अर्पण से होती है। गुरु की आज्ञा का पालन तन अर्पण है, गुरु विषे ईश्वर भाव और उनकी मूर्ति का ध्यान मन अर्पण है। गुरुदेव की स्तुति करना, और निन्दा न करना, सो वाणी अर्पण है, गृहस्थ गुरु को समग्र धन का अर्पण वा–त्यागी गुरु की प्राप्ति के निमित्त सर्व का त्याग धन अर्पण है। कोई दयालु गुरु उक्त सेवा से विना ही प्रसन्न होकर उपदेश कर देवे–शरण मे अङ्गीकार कर लेवे–तो भी शुद्ध चित्त वाले अधिकारी का कल्याण होवे है इसमें तन, धन और वाणी के अर्पण द्वारा जो गुरु सेवा है, तिससे 'मल दोष' की निवृत्ति होती है। और मन अर्पण कर जो सेवा है–उससे 'विक्षेप दोष' की निवृत्ति होती है।

—(वेदान्त बाल बोधनी)



* ॐ *

विक्षेप।

'विक्षेप' नाम चित्त की चंचलता का है। जिसका चित्त वेदान्त श्रवण आदिक किये, किंवा—महा वाक्य के अर्थ रूप स्वस्वरूप विषे स्थिर नहीं होता किन्तु—अन्य विषयों में भ्रमता रहता है उसका चित्त चंचल है इसीसे वह पुरुष विक्षेप दोष से युक्त है, यह जान लेना।

१—इससे उसको ईश्वर नाम का, वा—प्रणव मंत्र का उच्चारण और ईश्वर-गुरु मूर्ति का ध्यान किंवा—निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन, इससे आदि लेके उपासना कर्तव्य है, क्योंकि उपासना से चित्त की एकाग्रता होकर विक्षेप दोष की निवृत्ति होती है।

२—अथवा—शरीर वाणी मन और धन द्वारा जो ईश्वर बुद्धि से अर्न्तगत गुरु की सेवा है, उस सेवा के प्रताप से कर्म उपासना बिना ही चित्त की शुद्धि और एकाग्रता होती है। इसका यह रहस्य है कि—ईश्वर की सेवा से पुण्य की उत्पत्ति द्वारा अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है, और ईश्वर बुद्धि से करी जो गुरु सेवा उससे उस अदृष्ट फल की प्राप्ति और गुरु की

प्रसन्नता द्वारा उपदेश रूप दृष्ट (प्रत्यक्ष) फल की प्राप्ति होती है। सो सेवा–तन, मन, वाणी और–धन के अर्पण से होती है। गुरु की आज्ञा का पालन तन अर्पण है, गुरु विषे ईश्वर भाव और उनकी मूर्ति का ध्यान मन अर्पण है। गुरुदेव की स्तुति करना, और निन्दा न करना, सो वाणी अर्पण है, गृहस्थ गुरु को समग्र धन का अर्पण वा–त्यागी गुरु की प्राप्ति के निमित्त सर्व का त्याग धन अर्पण है। कोई दयालु गुरु उक्त सेवा से विना ही प्रसन्न होकर उपदेश कर देवे–शरण मे अङ्गीकार कर लेवे–तो भी शुद्ध चित्त वाले अधिकारी का कल्याण होवे है इसमें तन, धन और वाणी के अर्पण द्वारा जो गुरु सेवा है, तिससे 'मल दोष' की निवृत्ति होती है। और मन अर्पण कर जो सेवा है–उससे 'विक्षेप दोष' की निवृत्ती होती है।

—(वेदान्त बाल बोधनी)



ॐ

आरती नं० ४

[जीव भाव]

ॐ अचल गुरुदेवं ।

ॐ अचल गुरुदेवं, गुप्त प्रगट परिपूरण[1] ।

गुप्त प्रगट परिपूरण, श्री नित्यानन्दं ॥

ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ टेक ॥

भावार्थ—हे अचल-परमात्मा-स्वरूप गुरुदेव ! आप अचल हैं। हे गुरुदेव ! निश्चय करके आप अचल हैं ! आप अन्तर बाहिर परिपूर्ण हैं ! निश्चय करके आप सर्वत्र परिपूर्ण हैं ! सर्व सिद्धि सम्पन्न, नित्य-आनन्द-स्वरूप हैं ! [मुझे कृपा करके अचल बनाइये-विक्षेप रहित कीजिये]

हे गुरुदेव ! आप की जय हो ! जय हो ! जय हो ! (टेक)

---

१ (अ) ॐ—प्रणवोह्यपरब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यो, ऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥
—(श्रुति)

अर्थात्:—प्रणव ही परब्रह्म, प्रणव ही परम जाप्य, अपूर्व, सर्वत्र परिपूर्ण और अविनाशी है।

(ब) प्रणवो वाचकस्तस्य, शिवस्य परमात्मनः।
शिवरुद्रादिशब्दानां, प्रणवो हि परः स्मृतः॥
—(शिवपुराण)

अर्थात्:—परम कल्याण रूप परमात्मा का वाचक ॐ ही है, और यह ओंकार शिव रुद्र इत्यादि सारे नामों से श्रेष्ठ है। योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि महाराज ने लिखा है 'तस्य वाचकः प्रणवः' अर्थात्—उस परम ब्रह्म का नाम ॐ ही है। इसी भांति योगी याज्ञवल्क्य जी याज्ञवल्क्यसंहिता मे लिखते हैं:—"तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति" अर्थात्–ओंकार नाम से स्मरण करने पर भगवान् प्रसन्न होते हैं।

ॐकार की उपासना:—

ओमिति ब्रह्म, ओमितीद ꣳ सर्वम, ओमित्येतदनु कृतिर्हस्म वा अप्यो श्रावयत्याश्रावयन्ति ओमिति सामानि गायन्ति। ओं ꣳ शोमिति शास्त्राणि श ꣳ सन्ति ओमित्यध्वर्युः प्रति गृणाति। ओमिति ब्रह्मस्मीति। ओमित्यग्निहोत्र मनु जानाति। ओमिति ब्राह्मण प्रयक्ष्यन्नाह ब्रह्मो यामद्यानीति प्रस्नैवोयाप्नोति।
—(तैतिरीय ८–१)

शब्दार्थ:—ॐकार यह ब्रह्म रूप है ॐकार यह सर्व रूप है ॐकार यह वास्तव में अनुज्ञा रूप है अग्निध्र! बलि-दान देने

ॐ

आरती नं० ४

[जीव भाव]

ॐ अचल गुरुदेवं ।

ॐ अचल गुरुदेवं, गुप्त प्रगट परिपूरण[1] ।
गुप्त प्रगट परिपूरण, श्री नित्यानन्दं ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ टेक ॥

भावार्थ—हे अचल-परमात्मा-स्वरूप गुरुदेव ! आप अचल हैं । हे गुरुदेव ! निश्चय करके आप अचल हैं ! आप अन्दर बाहिर परिपूर्ण हैं ! निश्चय करके आप सर्वत्र परिपूर्ण हैं ! सर्व सिद्धि सम्पन्न नित्य-आनन्द-स्वरूप हैं ! [मुझे कृपा करके अचल बनाइये-विक्षेप रहित कीजिये]

हे गुरुदेव ! आप की जय हो ! जय हो ! जय हो ! (टेक)

---

१ (अ) ॐ प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यो ह्येष परः प्रणवोऽव्ययः ॥
—(श्रुतिः)

प्रणव का उच्चारण कैसे करना इसके सम्बन्ध में भगवान् वसिष्ठ कहते हैं कि—

ॐ कारमकरो तार स्वरमूर्ध्वगत ध्वनिम् ।
सम्यगाद तलांगूलं घण्टा कुण्ड मिवारवम् ॥

अर्थात्ः—जैसे घण्टा के आनन्द के लम्बक को रस्सी बांधकर हिलाने से गूंजने की आवाज होती है वैसे ही ॐ का उच्चारण परा से करके मुख में अर्थात्- वैखरी में उसका गुंजारव करके ॐकार का रटन करना चाहिये ।

ॐकार-स्वरूप वर्णन तथा महत्व-शिवजी कहते हैं धर्म से विलक्षण अधर्म से विलक्षण कार्य और कारण से भी परे भूत और भविष्य काल से भी परे जिसको मैं कहता हूँ सो तू सुन ॥९॥ जिस वस्तु को वेद और सब शास्त्र वर्णन करते हैं, जो सम्पूर्ण उपनिषदों मे सार ग्रहण किया है जैसे दही में-से घृत ॥१०॥ जिसकी इच्छा करके मुनि जन ब्रह्मचर्य धारण करते हैं वह अकार उकार मकारात्मक हमारा पद है। सो हे रामचन्द्र ! मै तुम से संक्षेप से वर्णन करता हूँ ॥११॥ यही अक्षर परब्रह्म और सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है, इसी अक्षर ब्रह्म के जानने से ब्रह्मलोक प्राप्त होकर मुक्त होजाता है ॥१२॥ यही उत्तम आधार है, यही उत्तम तारक है इसको जान कर ब्रह्मलोक मे पूजित होता है ॥१३॥ जो वेद रूपी धेनुओं में श्रेष्ठ है, ऐसा वेदान्त प्रतिपादन करता है यही मोक्ष का धारण करने वाला तथा संसार-सागर का सेतु है ॥१४॥ वह वस्तु

समय देवों को ॐकार सुनाता तब यज्ञ में रहते हुये दूसरे ऋत्विज ॐकार देवों को प्रसन्न कराते हैं। ॐकार ऐसा कह कर सामवेद के सूक्तों का गान किया जाता है ॐकार शोम् (सुख) ऐसा कह कर स्तुति वाले मन्त्र रूपी शास्त्र अर्थात् गीति रहित ऋचाएं कहने में आती हैं, ॐकार की सहायता से अध्वर्यु होता के प्रति प्रति गहने कहता है भक्ता है ॐकार से ब्रह्म आज्ञा करता है ॐकार द्वारा यजमान देवों को हवि होमने के लिये ऋत्विजों को प्रसन्नतादि आज्ञा देता है, ब्राह्मण जब वेद का अध्ययन करते हैं तब प्रथम ॐकार से शुरू करते हैं ब्रह्म का परमात्मा को मैं प्राप्त होऊं ऐसी इच्छावाला ब्रह्म को प्राप्त होता है।

(स) अदृष्ट विग्रहा देवो भावग्राह्यो मनो यमः तस्योंकार स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति।

अर्थात्—ईश्वर अदृष्ट विग्रह—निराकार है और भावग्राह्य मनो यम है। इस लिये उसका ॐकार नाम है उससे उसका स्मरण करने से वह प्रसन्न होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य जैसे ही भगवान् वसिष्ठ का कहना है कि:—

ॐ मुच्चारण समिति यहनाश्च प्रपश्यति
यत्करोति मनोराज्य भवन्त्यासततम्यतात्मो ॥

अर्थात्—ॐ के उच्चारण समिति समय से जो कुछ मनोराज्य विचार भरी होती है उसमें तन्मयता होजाती है—

प्रणव का उच्चारण कैसे करना इसके सम्बन्ध में भगवान् वसिष्ठ कहते हैं कि—

ॐ कारमकरो तार स्वरमूर्ध्वगत ध्वनिम् ।
सन्त्यगाद तलांगूलं घण्टा कुण्ड मिवारवम् ॥

अर्थात्ः—जैसे घण्टा के आनन्द के लम्बक को रस्सी बांधकर हिलाने से गूँजने की आवाज होती है वैसे ही ॐ का उच्चारण परा से करके मुख में अर्थात्- वैखरी में उसका गुंजारव करके ॐकार का रटन करना चाहिये ।

ॐकार-स्वरूप वर्णन तथा महत्व-शिवजी कहते हैं धर्म से विलक्षण अधर्म से विलक्षण कार्य और कारण से भी परे भूत और भविष्य काल से भी परे जिसको मैं कहता हूँ सो तू सुन ॥९॥ जिस वस्तु को वेद और सब शास्त्र वर्णन करते हैं, जो सम्पूर्ण उपनिषदों में सार ग्रहण किया है जैसे दही में से घृत ॥१०॥ जिसकी इच्छा करके मुनि जन ब्रह्मचर्य धारण करते हैं वह अकार उकार मकारात्मक हमारा पद है। सो हे रामचन्द्र ! मै तुम से संक्षेप-से वर्णन करता हूँ ॥११॥ यही अक्षर परब्रह्म और सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है, इसी अक्षर ब्रह्म के जानने से ब्रह्मलोक प्राप्त होकर मुक्त होजाता है ॥१२॥ यही उत्तम आधार है, यही उत्तम तारक है इसको जान कर ब्रह्मलोक मे पूजित होता है ॥१३॥ जो वेद रूपी धेनुओं मे श्रेष्ठ है, ऐसा वेदान्त प्रतिपादन करता है यही मोक्ष का धारण करने वाला तथा संसार-सागर का सेतु है ॥१४॥ वह वस्तु

क्या है–अब उसका वर्णन करते हैं–यह मेरु से आच्छादित हुए कोश अर्थात् हृदयाकाश में जो ब्रह्म है उसे ओंकार कहते हैं वही पर परम मंत्र है और इसी में सब लोक निवास करते हैं उसकी चार मात्रा हैं–अकार उकार, मकार और अंत की कारण रूप आधी मात्रा है, पहिली अकार रूप मात्रा में भू लोक ऋग्वेद, ब्रह्मदेव आठ वसु गार्हपत्य अग्नि, गायत्री छन्द, प्रातःसवन ये आठ देव निवास करते हैं ॥१५॥१६॥ दूसरी उकार मात्रा में भुवर्लोक विष्णु रुद्र अनुष्टुप छन्द यजुर्वेदः यमुना नदी दक्षिणाग्नि माध्यन्दिन सवन ये देवता निवास करते हैं ॥१७॥ तीसरी मकार मात्रा में स्वर्ग लोक सामवेदः आदित्य, महेश्वर आहवनीयाग्नि जगती छंद और सरस्वती नदी और अथर्ववेद तृतीय सवन में निवास करते हैं और जो चौथी मात्रा है वह सोम लोकगाः अथर्वांगिरस गाता संवर्तक अग्नि महर्लोक विराट् सम्य और आवसथ्य अग्नि-शुतुद्री नदी और यह पुष्प ये देवता निवास करते हैं। "अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत-एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद" अर्थात्—जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्था से परे अमात्रिक तुरीया अवस्था रूप आत्मा ही है, यह वाचक वाच्य रूप वाणी का मूल अज्ञान है दूर करने से व्यवहार के अयोग्य है तथा प्रपञ्च रहित शिव स्वरूप और अद्वैत है इस प्रकार किया हुआ ॐ आत्मा ही है, ऐसा जो जानता है वह अपने आत्मा से परमात्म रूप आत्मा में प्रवेश करता है और जन्म के कारणों का लय कर फिर उत्पन्न नहीं होता है ॥१८॥१९॥२०॥

ॐ मुनि वसिष्ठ सनकादिक, याज्ञवलक आदि,
ॐ याज्ञवलक आदि। श्रेय पद लख निज गूढ़,
ॐ श्रेय पद लख निज गूढ़, शिरोमणि हुए ज्ञानी ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥१॥

भावार्थः—हे सद्गुरु देव ! मुनि वसिष्ठ जी, सनक (सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार) तथा-याज्ञवल्क्य आदि मुनिगण आपके गहन रहस्यमय श्रेय पद को देख (जानकर) ज्ञानियों में शिरोमणि हुये हैं, निश्चय करके शिरोमणि हुये हैं।
हे प्रणवरूप गुरुदेव ! आप की जय हो ! जय हो ! जय हो !

पहली मात्रा रक्त वर्ण दूसरी भास्कर प्रकाश युक्त वर्ण तीसरी विजली के वर्ण की तथा चौथी मात्रा शुभ्रवर्ण है ॥२१॥ जंगमात्मक अनेक प्रकारक यह जगत ॐकार में ही प्रतिष्ठित है ॥२२॥ भूत भविष्य रूप यह संसार रुद्र रूप ही है और रुद्र में प्राण और उसमें भी ॐकार स्थित है तात्पर्य यह है शिव और ओङ्कार एक स्वरूप हैं ॥२३॥ वह शिवरूप सनातन ब्रह्म ॐकार मे ही वर्तमान है इस कारण ॐकार का जपने हारा निस्सन्देह मुक्त होजाता है ॥२४॥ —(शिव गीता)

२—श्रीगुरु तुम पूरण सकल, अद्वय आतम राम।
आदि अन्त मध एक हो, स्वयं ब्रह्म सुख धाम ॥१॥
—(प्रकीर्ण)

ॐ गुरु, से बढ़कर शिष्य, नहीं कोई जग मांही,
ॐ नहिं कोई जग मांही। गुरु बिन मोक्ष न होय,
ॐ गुरु बिन मोक्ष न होय। निगमागम मांई॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥२॥

भावार्थ—हे गुरुदेव ! संसार में (मुझ) शिष्य के लिये [आप] गुरु से बढ़कर कोई नहीं है। निश्चय करके आप गुरुदेव से बढ़कर कोई नहीं है। वेद शास्त्र सब यही कहते हैं कि-गुरु के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती—निश्चय करके गुरु के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ॥ २ ॥
हे ब्रह्मस्वरूप गुरुदेव ! आप की जय हो ! जय हो ! जय हो !

ॐकार ब्रह्म मूलः मन्त्र पत्र सहित
स्कन्ध विस्तीर्ण शाखो।
कर्म पत्र ज्ञानपुष्पा सत्कर्म्यपि फलो
धर्म गन्ध सुधान्न ॥
पक्षच्छाया समेतो द्विज मधुप यतीः
सम्यमानः प्रभाते।
मध्ये साय विकासे सु चरितः
पातु मां पद वृक्षः ॥१॥

(२) गुरु :—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने बालसखा प्यारे सुदामा जी से कहते हैं कि-हे ब्राह्मण ! हम तुम जब गुरु के घर में जाकर रहे थे, तब की भी कुछ याद है कि नहीं ! जिस

गुरु से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जानने योग्य आत्मा का स्वरूप जानकर मनुष्य संसार से छूट जाता है ॥३१॥ इस संसार मे तीन गुरु है, एक-जन्मदाता पिता, दूसरा-यज्ञोपवीत कर वेद पढ़ाने, तथा-सन्ध्या गायत्री आदि सुन्दर कर्म सिखानेवाला, और तीसरा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी इन चारों आश्रमों को ज्ञान देने वाला गुरु है। इनमें से प्रथम गुरु पूज्य है, दूसरा मेरे बराबर पूज्य है और तीसरा गुरु साक्षात् मेरा ही स्वरूप है ॥ ३२ ॥ जो पुरुष मनुष्य रूप धारण करके गुरु रूप मेरे उपदेश से संसाररूपी समुद्र के पार लगते है, हे ब्राह्मण ! वह पुरुष चारों वर्णों और चारों आश्रमों में चतुर है ॥ ३३ ॥ ज्ञान के देने वाले गुरु से अधिक सेवा-योग्य और कोई नहीं है। इसलिये उन गुरु के भजन से अधिक और कोई धर्म नहीं है। सब प्राणियों का आत्मा मैं, जैसा गुरु की सेवा से प्रसन्न होता हूँ, ऐसा ब्रह्मचर्य, यज्ञ, वानप्रस्थ, गृहस्थ और सन्यास धर्म से भी प्रसन्न नहीं होता।

चौ०.—वे गुरुदेव परम सुखदाई ।
जिनकी महिमा कही न जाई ॥
उनकी कृपा कहू कहँ ताईं ।
कुशल क्षेम से है तेहि ठांईं ॥
इक अक्षर पढ़िये जेहि पाहीं ।
तेहिते उऋण हूजिये नाहीं ॥
हम ता विद्या सब पढ़ लीन्ही ।
गुरु की टहल कछू नहिं कीन्ही ॥

ॐ गुरु-से बढ़कर शिष्य, नहीं कोई जग माँहीं,
ॐ नहिं कोई जग माँहीं। गुरु बिन मोक्ष न होय[1],
ॐ गुरु बिन मोक्ष न होय। निगमागम गाई॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥२॥

भावार्थः—हे गुरुदेव! संसार में (मुझ) शिष्य के लिए [आप] गुरु से बढ़कर कोई नहीं है। निश्चय करके आप गुरुदेव से बढ़कर कोई नहीं है। वेद शास्त्र सब यही कहते हैं कि—गुरु के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती—निश्चय करके गुरु के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती॥२॥
हे मङ्गलरूप गुरुदेव! आप की जय हो! जय हो! जय हो!

ॐकार महा मूलः क्रम पद सहित
　　　　स्कन्ध विस्तीर्ण शाखा।
ऋक् पत्र सामपुष्पा यजुरधिफलो
　　　　थर्व गन्ध दधानः॥
यज्ञच्छाया समेता द्विज मधुप गणैः
　　　　सम्पूमानः प्रभाते।
मध्ये सायं त्रिकाले सु चरितः
　　　　पातु मा वेद वृक्षः॥१॥

(१) गुरुः—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने बालसखा प्यारे सुदामा जी से कहते हैं कि—हे ब्राह्मण! हम तुम जब गुरु के घर में जाकर रहे थे, तब की भी कुछ याद है कि नहीं! जिस

गुरु से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जानने योग्य आत्मा का स्वरूप जानकर मनुष्य संसार से छूट जाता है ॥३१॥ इस संसार में तीन गुरु हैं, एक—जन्मदाता पिता, दूसरा—यज्ञोपवीत कर वेद पढ़ाने, तथा—संध्या गायत्री आदि सुन्दर कर्म सिखानेवाला, और तीसरा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी इन चारों आश्रमों को ज्ञान देने वाला गुरु है। इनमें से प्रथम गुरु पूज्य है, दूसरा मेरे बराबर पूज्य है और तीसरा गुरु साक्षात् मेरा ही स्वरूप है ॥ ३२ ॥ जो पुरुष मनुष्य रूप धारण करके गुरु रूप मेरे उपदेश से ससाररूपी समुद्र के पार लगते हैं, हे ब्राह्मण ! वह पुरुष चारों वर्णों और चारों आश्रमों में चतुर हैं ॥ ३३ ॥ ज्ञान के देने वाले गुरु से अधिक सेवा—योग्य और कोई नहीं है। इसलिये उन गुरु के भजन से अधिक और कोई धर्म नहीं है। सब प्राणियों का आत्मा मैं, जैसा गुरु की सेवा से प्रसन्न होता हूँ, ऐसा ब्रह्मचर्य, यज्ञ, वानप्रस्थ, गृहस्थ और सन्यास धर्म से भी प्रसन्न नहीं होता।

चौ०.—वे गुरुदेव परम सुखदाई ।
जिनकी महिमा कही न जाई ॥
उनकी कृपा कहूं कहँ तांई ।
कुशल क्षेम से हैं तेहि ठांई ॥
इक अक्षर पढ़िये जेहि पाहीं ।
तेहिते उऋण हूजिये नाहीं ॥
हम ता विद्या सब पढ़ लीन्ही ।
गुरु की टहल कछू नहिं कीन्ही ॥

दोहा—गुरु सेवा सुखम महा, चित दे करे जु कोय।
जो मन में इच्छा करे, सो सब पूरण होय॥

सोरठा—गुरु बिन मिलहि न ज्ञान, ज्ञान बिना नहिं मोक्ष है।
याते गुरु समान, और वस्तु नहिं जगत में॥

चौ०—जो गुरु सेवा में मन लावे,
सो मोको चित न नित भावे।
जे नर धर्म कर्म नहिं जानें,
गुरु गोविन्द एक कर मानें।

* * * *

गुरु की सेवा की तुम जैसी, जग में कौन करत है ऐसी।
हम नित मति यह धरहिं मनीषा, तुम पर कृपा करें जगदीशा॥
सुभग भाग जगमें नर सोई, जा पर कृपावन्त गुरु होई।
गुरु-प्रसाद है अति सुखदाई, जाते सकल भक्ति हम पाई॥

गुरु की कृपा से ही मनुष्य पूर्ण मनोरथ होकर शान्ति को प्राप्त होता है ॥४३॥ तब सुदामा बोले— हे कृष्ण चन्द्र! हे जगत् के गुरु! सत्य संकल्प! तुम्हारे संग हमारा गुरु के पास वास हुआ था फिर हमको कौन वस्तु की प्राप्ति न हुई! अर्थात्—सब वस्तु पा चुके हैं ॥४४॥ हे समर्थ! सम्पूर्ण कल्याण दायक ब्रह्मोमय-वेद आपकी मूर्ति है ऐसे आपने गुरु के यहाँ वास किया! यह तो लीला मात्र है—(केवल जगत् को मार्ग दिखलाने के लिए ही ऐसा है) ॥ ४५ ॥

—(श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० ८० श्लोक ४३–४५)

(च) परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणोनिर्वेद मायान्नास्त्य-कृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ —(श्रुतिः)

भावार्थः—तमाम कर्मों द्वारा मिलने वाले लोक विनाशी हैं, ऐसा विश्वास कर ब्राह्मण (मुमुक्षु) को वैराग्य युक्त होना चाहिये। नित्य वस्तु की प्राप्ति कदापि अनित्य के द्वारा नहीं हो सकती, उस 'नित्य' को जानने के लिये समिध हाथ में लेकर (अर्थात् शिष्य भाव से), वेदपारंगत, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में ही जाना चाहिये, क्योंकि–बिना ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा के 'नित्य वस्तु' की प्राप्ति नहीं होती।

(स) चौ०:—गुरु बिन भव निधि तरै न कोई।
जो बिरंचि शंकर सम होई ॥१॥
—(रामायण तुलसीकृत उ० का०)

गुरु महिमा :—

शत्रु हुन मित्र कोऊ जाके सब है समान;
देह को ममत्व छाडि, आत्मा ही राम है ?
और हुं उपाधि जाके कबहुन देखियत;
सुखके समुद्र मे रहत आठो जाम हैं ॥
रिद्धि अरु सिद्धि जाके हाथ जोरि आगे खड़ा;
सुन्दर कहत ताके सब ही गुलाम हैं।
अधिक प्रशंसा हम कैसे करि कहि सकैं ॥१॥

दोहा—गुरु सेवा दुर्लभ महा, चित दे करे जु कोय ।
जो मन में इच्छा करे, सो सब पूरण होय ॥

सोरठा—गुरु बिन मिलहिं न ज्ञान, ज्ञान बिना नहिं मोक्ष है ।
याते गुरु समान, और वस्तु नहिं जगत में ॥

चौ०—जो गुरु सेवा में मन लावे,
सो मोको चित मे नित भावे ।
जे नर धर्म कर्म नहिं जानें,
गुरु गोविन्द एक कर मानें ।

* * * *

गुरु की सेवा की तुम जैसी जग में कौन करत है ऐसी ।
हम नित प्रति यह देहिं असीसा । तुम पर कृपा करें जगदीशा ॥
सुमग भाग जगमें नर सोई, जा पर कृपावन्त गुरु होई ।
गुरु-प्रसाद है अति सुखदाई, जाते सकल भक्ति हम पाई ॥

गुरु की कृपा से ही मनुष्य पूर्ण मनोरथ होकर शान्ति को प्राप्त होता है ॥४३॥ तब सुदामा बोले– हे देव देव ! हे जगत् के गुरु ! सत्य संकल्प ! तुम्हारे संग हमारा गुरु के पास वास हुआ था, फिर हमको कौन वस्तु की प्राप्ति न हुई ? अर्थात्– सब वस्तु पा चुके हैं ॥४४॥ हे समर्थ ! सम्पूर्ण कल्याण दायक, कल्याणमय-वेद आपकी मूर्ति है ऐसे आपने गुरु के यहाँ वास किया ! यह तो लीला मात्र है–(केवल जगत् को मार्ग दिखलाने के लिये ही ऐसा है) ॥ ४५ ॥

—(श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० ८० श्लोक ४३–४५)

(ब) परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्रह्मणोनिर्वेद मायान्नास्त्य-कृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ —(श्रुतिः)

भावार्थः—तमाम कर्मों द्वारा मिलने वाले लोक विनाशी हैं, ऐसा विश्वास कर ब्राह्मण (मुमुक्षु) को वैराग्य युक्त होना चाहिये। नित्य वस्तु की प्राप्ति कदापि अनित्य के द्वारा नहीं हो सकती, उस 'नित्य' को जानने के लिये समिध हाथ में लेकर (अर्थात् शिष्य भाव से), वेदपारंगत, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में ही जाना चाहिये, क्योंकि–बिना ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा के 'नित्य वस्तु' की प्राप्ति नहीं होती।

(स) चौ०:—गुरु बिन भव निधि तरै न कोई।
जो बिरंचि शंकर सम होई ॥१॥
—(रामायण तुलसीकृत उ० कां०)

गुरु महिमा :—

शत्रु हुन मित्र कोऊ जाके सब है समान;
देह को ममत्व छांडि, आत्मा ही राम है ?
और हुं उपाधि जाके कबहुन देखियत,
सुखके समुद्र में रहत आठो जाम है ॥
रिद्धि अरु सिद्धि जाके हाथ जोरि आगे खड़ा;
सुन्दर कहत ताके सब ही गुलाम हैं।
अधिक प्रशंसा हम कैसे करि कहि सकैं ॥१॥

ज्ञानको प्रकाश जाके अन्धकार भयो नाश,
शुद्ध अभिमान भिन तज्यो आन छार सी ।
सोई सुख सागर उजागर वैराग जु,
जाके बैन सुनत विस्मय है विकार सो ।
अगम अगाध अति कोऊ नहिं जान गति,
आतमा को अनुभव अधिक अपार सी ।
ऐसे गुरु देव वह नीक मिलै लोक माँहीं,
सुन्दर बिराजमान शोभत उदार सी ॥८॥

गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा को गहै,
गुरु के प्रसाद भव दुःख बिसराइये ।
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीति हूँ अधिक बाढ़ै,
गुरु के प्रसाद राम नाम गुन गाइये ।
गुरु के प्रसाद सब योग की युगति जानै,
गुरु के प्रसाद शून्य में समाधि लाइये ।
सुन्दर कहत गुरुदेव जु कृपालु होय
तिनके प्रसाद तत्त्व ज्ञान पुनि पाइये ॥९॥

श्लोक—तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥

माता पिता और आचार्य (गुरु) का हमेशा प्रिय साधन करना इन तीनों को सन्तुष्ट रखकर प्रसन्न रखने से समस्त तपका समापन हो जाता है ।

श्लोकः—इम लोकं मातृ भक्त्या पितृ भक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरु शुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते— ॥

माता की भक्ति से इस लोक का पिता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक का और गुरु की से ब्रह्मलोक का सुख प्राप्त होता है ।

श्लोकः—सर्वे तस्याहृता धर्मायस्यैते भय आरताः ।
अनादृतास्तु यस्यै ते सर्वास्तस्याऽफला क्रिया ॥

जो ऊपर बताये हुए तीनों माता पिता और गुरु का यथा शास्त्र विधि आदर सत्कार करना है वह सर्व धर्मों का आदर करता है ऐसा जानना और जो इन तीनों का अनादर करता है, उसकी सब क्रियायें निष्फल जाती हैं ।

श्लोकः—यथा खनन्खनित्रेणनशे वार्यथिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रुषु रधिगच्छति ॥

जिस प्रकार कुदाल से जमीन खोदते खोदते मनुष्य जल प्राप्त करलेता है। उसी प्रकार गुरु की सेवा करते २ गुरु मे रही विद्या को प्राप्त की जा सकती है ।

श्लोक —असमाप्ते शरीरस्य यस्तु शुश्रूयते गुरुम् ।
सासगच्छत्यजस्त विप्रो ब्राह्मण सदम् शाश्वतम् ॥

जो शिष्य गुरु की देहान्त पर्यन्त उनकी सेवा करता है वह अनायास ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ।

—(मनुस्मृति २)

ॐ गुरु कीरति ⁴अपरास, मुमुक्षु मन करता,
ॐ मुमुक्षु मन करता, नुगरा कुमत ⁵करके,
ॐ नुगरा कुमत करके, शून्य मोक्ष से होता ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥३॥

भावार्थः—हे प्रणव रूप गुरुदेव ! मुमुक्षु जन आपकी प्रशस्त कीर्ति (गुण-गान) करके मोक्ष प्राप्त करता है—निश्चय करके मोक्ष प्राप्त करता है, और नुगरा कुमत करके मोक्ष से निर्मल होता है—निश्चय करके विमुख होता है [हे शान्ति दाता गुरुदेव ! मुझे विशेष सहित कथा 'शान्त' बनाइए] हे प्रणवरूप गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥३॥

---

(४) श्लोक—सम्पन्न गुरवः पुरुषाः परास्त मित्रबान्धवाः ।
कर्मणिदास मृत्याश्च न च पुत्रा न च स्त्रियः ॥
—(सुभाषणी)

दोहा—

गुरु कीरति का अपरास कर यश बान्धव मित्र पसार की ।
भूल काम जमे सम्मान गई अबला सुन आप कभी न कई ॥१॥
कवियत्र—हरदयाल जी ।

५ (क) दुर्भगा विकला मूर्खा निर्विवेका नपुंसकः ।
मोक्षधर्मेण ना मीना, गुरुभक्तिपराङ्मुखाः ॥१॥
—(सुभाषणी)

अर्थात्:—मुग्ध नपुंसक, विकल मन, विन विवेक दुर्भाग।
नीच कर्म नीचहि करै, गुरु निन्दा मे राग ॥१॥
कविवर हरदयाल जी।

(ब) गुरुद्रव्यापहर्तॄणां, तेजोहानिर्दरिद्रता।
दुर्मृत्युश्च महारोगो, धनहानि: सदा भवेत् ॥
—(सूक्तावली)

अर्थात्:—जो गुरु के धन (कीर्ति को कुतर्कना द्वारा, निन्दा द्वारा) को हरण करेगा; वह तेज से हीन, विभूति से रहित हो दुखी होकर मरेगा—बुरी मौत मरेगा, सदा रोगी रहेगा, तथा—

"धर्मादि टरैं नरकै सुपरै। उपजे पुनि तै श्वपचादि घरै ॥"

धर्मादि पदार्थों से टल कर नर्क में पड़ेगा और—नर्क भुगतने पर जब जन्म होगा तो श्वपच भंगी या ऐसी ही जाति में जन्म पावेगा—मोक्ष की तो बात ही छोडो।

(स) सवैया:—

सन्त सुखी गुरु-भक्त सुखी, वह जीव दुखी गुरुद्रोहि जो होवे।
मान चहै गुरु देवन से, नहिं मान मिले तो कुछिद्रहि जोवे ॥
ठौर नहीं त्रय लोक विषे, तज दैव तिसे तब सिर धुनि रोवे।
नित्यानन्द कहै गुरुद्रोहि नहिं, सोई शिष्य सदा निचत से सोवे ॥

दोहा:—गुरु की नित पूजा करे, धरे प्रेम से ध्यान।
उनकी कृपा कटाक्ष से, होय ब्रह्म का ज्ञान ॥
—(नित्यानन्द विलास ५–१४)

ॐ गुरु कीरति [४]अपरोक्ष, मुमुक्षु जन करता,
ॐ मुमुक्षु जन करता, नुगरा कुमक [५]करके,
ॐ नुगरा कुमक करके, शुन्य मोक्ष से होता ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥४॥

भावार्थः—हे प्रसन्न रूप गुरुदेव ! मुमुक्षु जन आपकी प्रत्यक्ष कीर्ति (गुण-गान) करके मोक्ष प्राप्त करता है—निश्चय करके मोक्ष प्राप्त करता है, और नुगरा कुमक करके मोक्ष से निर्मुक्त होता है—निश्चय करके विमुख होता है [हे शान्ति दाता गुरुदेव ! मुझे विक्षेप रहित बना 'शान्त' बनाइये]
हे प्रसन्नरूप गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥४॥

---

(४) श्लोक—प्रत्यक्ष गुरवः स्तुत्याः परोक्ष मित्रबान्धवाः ।
कर्मान्तिदास भृत्याश्च न च पुत्रा न च स्त्रियः ॥
—(सूक्तावली)

दोहा—
गुरु कीरति का अपरोक्ष कर मित्र बान्धव मिल परोक्ष करै ।
भृत दास जमे कर्मान्त गहै अपना सुत मोष कबी न करै ॥१॥
कविवर-हरदयाल जी ।

(५) गुरुणा विप्लवा मूर्खा, निर्विवेका नपुंसकाः ।
नीचकर्मकरा नीचा गुरुदूषणकारकाः ॥१॥
—(गुणावली)

जिस साधु मे ये सब गुण वर्तमान हों उसे सद्गुरु जान कर उसी का समागम करना [कर बन्दगी विवेक की, वेश धरे सब कोय। वह बन्दगी वहि जान दे, जहँ शब्द विवेक न होय।]

शिष्यः—हे स्वामिन् ! आपने सद्गुरु के लक्षणों में श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ ऐसे दो विशेषण बतलाये, यदि—इन दो मे से किसी एक ही विशेषण वाला कोई गुरु होय, तो क्या उससे कल्याण नही हो सकता ?

गुरुः—हे शिष्य ! निःसन्देह एक विशेषण वाले गुरु से यथार्थ बोध प्राप्त नही होता। इसलिये दोनों विशेषणों युक्त गुरु की शरण में जाना उचित है। इस पर तुझे एक दृष्टान्त सुनाता हूँ सो ध्यान देकर सुनः -

अपने घर को जाने वाला कोई पुरुष मार्ग से जारहा था। चलते २ उसके रास्ते मे एक नदी आई। उस नदी को पार होने के लिये वह पथिक नदी किनारे के मनुष्यों से नदी पार होने की युक्ति पूछने लगा। उसकी बात को सुन कर एक पुरुष जो शरीर से हृष्ट पुष्ट और चलने में बलवान, किंतु आँख से अन्धा था, उसने कहा कि 'यदि तू मेरे कन्धे पर बैठे तो मैं तुझे उस नदी के पार पहुचादूं'। उस अन्धे की बात को सुन कर उपर्युक्त पथिक विचार करने लगा कि—जो स्वयं आंख से अन्धा है—जिसको नदी का दूसरा किनारा

ॐ गुरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, लक्षण श्रुति कहती,
ॐ लक्षण श्रुति कहती, अभय दान के दाता,
ॐ अभय दान के दाता, गुरु सम नहीं कोई ॥

ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥४॥

भावार्थः—हे ब्रह्म रूप गुरुदेव ! आप वेद प्रतिपादित ब्रह्मश्रोत्रिय तथा—ब्रह्मनिष्ठीय लक्षणों से सुशोभित हैं। निश्चय करके वेदोक्त (ब्रह्म श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ) लक्षणों से सुशोभित हैं आपके समान अभय दान का दाता दूसरा नहीं है—हे गुरुदेव ! आप के समान अभय दान का दाता दूसरा नहीं है—निश्चय दूसरा नहीं है [मुझे कृपा कर मल विक्षेपादि से अभय कीजिये] हे ब्रह्म रूप गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥४॥

---

(१) श्रीराम गुरु अपने वेदान्त ग्रन्थ पञ्चीकरण में आज्ञा करते हैं—

हे शिष्य ! साधु उसे कहते हैं जो स्वधर्म का त्याग नहीं करता, जिसमें समदृष्टि, वैराग्य शान्ति दान्ति धीरज दया, अदम्भ अमान अक्रोध क्षमा अक्षेप, शुचित्व आदि शुभ गुण स्वभाव से ही रहते हैं। जो श्रोत्रिय अर्थात्—वेद [ब्रह्मरूप आदि ब्रह्मवित् ताकी वाणी वेद। भाषा अथवा संस्कृत करन भेद भ्रम छेद।] को जानने वाला और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात्—ब्रह्म स्वरूप में सत्य निष्ठा रखने वाला होता है।

जिस साधु मे ये सब गुण वर्तमान हों उसे सद्गुरु जान कर उसी का समागम करना [कर बन्दगी विवेक की, वेश धरे सब कोय। वह बन्दगी वहि जान दे, जहँ शब्द विवेक न होय।]

शिष्यः—हे स्वामिन् ! आपने सद्गुरु के लक्षणों में श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ ऐसे दो विशेषण बतलाये, यदि–इन दो में से किसी एक ही विशेषण वाला कोई गुरु होय, तो क्या उससे कल्याण नही हो सकता ?

गुरुः—हे शिष्य ! निःसन्देह एक विशेषण वाले गुरु से यथार्थ बोध प्राप्त नहीं होता। इसलिये दोनों विशेषणों युक्त गुरु की शरण में जाना उचित है। इस पर तुझे एक दृष्टान्त सुनाता हूँ सो ध्यान देकर सुनः –

अपने घर को जाने वाला कोई पुरुष मार्ग से जारहा था। चलते २ उसके रास्ते में एक नदी आई। उस नदी को पार होने के लिये वह पथिक नदी किनारे के मनुष्यों से नदी पार होने की युक्ति पूछने लगा। उसकी बात को सुन कर एक पुरुष जो शरीर से हृष्ट पुष्ट और चलने मे बलवान, किंतु आँख से अन्धा था, उसने कहा कि 'यदि तू मेरे कन्धे पर बैठे तो मै तुझे उस नदी के पार पहुंचादूं'। उस अन्धे की बात को सुन कर उपर्युक्त पथिक विचार करने लगा कि–जो स्वय आंख से अन्धा है–जिसको नदी का दूसरा किनारा

देख भी नहीं सकता है, वह मुझे कैसे पार उतार सकेगा? इस लिये ऐसे पुरुष के विश्वास पर जाना भय जनक है। अपने हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारना है। यह विचार कर पथिक ने अंधे से कह दिया कि-'मैं तेरे साथ नदी पार उतरने नहीं जा सकता'। उसी समय उसी स्थान पर एक दूसरा पंगु पुरुष बैठा हुआ था। वह आंख से देख तो सकता था किन्तु पैर से चल नहीं सकता था। उसने पथिक से कहा कि 'भाई! तुम्हे दूसरे के साथ जाने की जरूरत नहीं है। नदी मे कहां कितना पानी है सो मैं खूब जानता हूं। इस लिये मेरे बताये मार्ग से जाओ तो सहज में ही पार उतर जावेगा'। इतना कह उस पंगु ने मार्ग का निदर्शन इस प्रकार किया कि, इस किनारे से जरा नीचे उतर कर बीस कदम सीधे चले जाना फिर दाहिनी ओर फिर कर चले जाना बस पार उतर जावोगे'। उस पंगु के वचन को सुन कर पथिक ने फिर विचार किया कि-'यह स्वयं पैर बिना है, यह किसी दिन नदी में क्या गया होगा? तब इसको पानी की गहिराई और उथलाई की खबर ही क्या! इस लिये यदि मैं इसके कहने पर नदी लांघने गया और नदी मे किसी जगह पानी अधिक आगया और उसमें डूबने लगा तब? उस समय यह पंगु मेरी क्या सहायता कर सकेगा?" इस प्रकार विचार कर उस पंगु की बात भी पथिक ने नहीं मानी। यद्यपि वह पंगु सत्य भी कहता होगा और पानी भी थोड़ा होगा तथापि-उस पथिक को पंगु के वचन पर विश्वास नहीं आया। इसलिये वह उस पार भी नहीं जा सका।

इतने ही में एक तीसरा मनुष्य दैवेच्छा से आ पहुँचा, जो आँखों से देख सकता था, और पैर से चल भी सकता था, तथा तैरने में भी समर्थ और नदी की गहराई उथलाई को जानने वाला था। पथिक की बात को सुनकर उसने कहा कि-'तू मेरे साथ आ, मैं तुझे पार लगा दूं।' पथिक को उस के वचन पर झट विश्वास आया और उसी आदमी के पीछे पीछे चलके सहज में ही नदी पार उतर कर स्वदेश को पहुंच गया।

उपर्युक्त दृष्टान्त का सिद्धान्त।

(१) ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होने की इच्छावाले मुमुक्षु को स्वदेश जाने वाला पथिक समझना चाहिये। (२) जन्म मरण रूपी प्रवाह करके युक्त संसार रूप नदी है, (३) नदी किनारे बैठा हुआ अन्धा श्रोत्रिय अर्थात्-केवल वेदशास्त्र जानने वाला पुरुष है, जिसको शास्त्र निरूपण रूपी पांव तो है, किन्तु-दूसरे किनारे रूपी ब्रह्म को देखने की शक्ति नहीं, इससे केवल श्रोत्रिय गुरु की सहायता से स्वस्वरूप की प्राप्ति होती नहीं है, (४) पंगु को केवल ब्रह्मनिष्ठ जानना जिसको गुरु प्रसाद से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञानरूपी नेत्र तो है जिससे संसाररूपी नदी के उस पार के किनारारूप परब्रह्म को देखता है किन्तु वेद-वाक्यों के प्रमाण पूर्वक युक्ति से उपदेश करने रूपी पग उसको नहीं है। इससे यदि वह जीव को ब्रह्मरूप की प्राप्ति के लिये उपदेश करता हुआ कहे कि "यह संसार रूपी नदी तुच्छ है, ईश्वर अनुग्रह से यह गोवत्स खुर के समान सहज में ही पार

देख भी नहीं पड़ता है यह मुझे कैसे पार उतार सकेगा ? इस लिये ऐसे पुरुष के विश्वास पर आगा गये समझ ! है अपने हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारना है । यह विचार कर पथिक ने अंध से कह दिया कि-'मैं तेरे साथ नदी पार उतरने नहीं आ सकता । उसी समय उसी स्थान पर एक दूसरा पंगु पुरुष बैठा हुआ था । वह आंख से देख तो सकता था किन्तु पैर से चल नहीं सकता था । उसने पथिक से कहा कि 'भाई ! तुझे दूसरे के साथ जाने की जरूरत नहीं है । नदी में कहां कितना पानी है सो मैं खूब जानता हूं । इस लिये मेरे बताये मार्ग से जा तो सहज में ही पार उतर जावेगा' । इतना कह उस पंगु ने मार्ग का निदर्शन इस प्रकार किया कि, इस किनारे से जरा नीचे उतर कर बीस कदम सीधे चले जाना फिर दाहिनी ओर फिर कर चले जाना बस पार उतर जावोगे' । उस पंगु के वचन को सुन कर पथिक ने फिर विचार किया कि-'यह स्वयं पैर बिना है, यह किसी दिन नदी में क्या गया होगा ? तब इसको पानी की गहिराई और उथलाई की खबर ही क्या ? इस लिये यदि मैं इसके कहने पर नदी लांघने गया और नदी में किसी जगह पानी अधिक आगया और उसमें डूबने लगा तब ! उस समय यह पंगु मेरी क्या सहायता कर सकेगा ?" इस प्रकार विचार कर, उस पंगु की बात भी पथिक ने नहीं मानी । यद्यपि यह पंगु सत्य भी कहता होगा और पानी भी थोड़ा होगा तथापि-उस पथिक को पंगु के वचन पर विश्वास नहीं आया । इसलिए वह उस पार भी नहीं जा सका ।

अर्थः—सद्गुरु को साष्टांग नमस्कार करके और बन्ध क्या ? मोक्ष क्या ? विद्या किसे कहते हैं ? अविद्या किसका नाम है ? आत्मा कौन है ? परमात्मा कौन ? तथा उनकी एकता किस प्रकार से जानी जाती है ? इत्यादि प्रश्नों तथा सेवा करके प्रसन्न हुये सद्गुरु के पास से परम श्रेष्ठ मोक्षका साधन, अद्वितीय परमात्मा का ज्ञान तू प्राप्त कर। ज्ञानी (श्रोत्रिय) तत्वदर्शी (ब्रह्मनिष्ठ) सद्गुरु तुझे उपदेश करेंगे।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के तीसरे अध्याय में प्रबुद्ध नामक योगीश्वर ने राजा जनक से कहा हैः—

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

अर्थात्—इस लोक के तथा परलोक के सर्व विषय भोग कर्म-जन्य होने से नाशवान् तथा दुःखदाई हैं। इसलिये उत्तम (नाश रहित परम सुखमय) श्रेय (मोक्ष) को जानने की इच्छा वाले मुमुक्षु पुरुष को वेद के सत्य अर्थ के जानने वाले श्रोत्रिय और परम ब्रह्म को अपरोक्ष अनुभव करके जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ तथा शान्तिवान् सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये।

७—सद्गुरु धोबी ज्ञान जल, साबू सिरजन हार ।
सुरत शिला पर धोय कर प्रगटे ज्योति अपार ॥
गुरु बिन ज्ञान न ऊपजे, गुरु बिन मिटे न भेद ।
गुरु बिन संशय ना मिटे, जय जय श्री गुरुदेव ॥२७॥

ॐ जयहरि

की साक्षी है, परमात्मा एक अद्वितीय, अनन्त, असंग अक्रिय, निर्विकार निराकार निर्गुण नित्य प्रत्यगात्मा, देहत्रय से विलक्षण अवस्था त्रय का साक्षी, पंचकोशातीत व्यापक ब्रह्म स्वयम् ज्योति सच्चिदानन्द रूप है। उसी के ज्ञान करके संसार नदी से सहज ही में पार हो जायगा।" यह सत्य उपदेश होने पर भी अन्य मुमुक्षुओं को उनके वचन पर विश्वास नहीं आता है। इसलिये उनके वाक्यों में भी सन्देह रहता है। इसलिये दृष्टान्त में जैसे—

(५) नेत्र और पग दोनों वाले पुरुष की सहायता से पथिक नदी पार हुआ उसी प्रकार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ इन दोनों विशेषणों से युक्त सद्गुरु द्वारा ही मुमुक्षु संसार नदी से पार हो सकता है। इसलिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही शरण में जाना उचित है।

अथर्वण वेद के मुण्डक उपनिषद् में जिज्ञासुओं को समित्पाणि मद हाथ में लेकर विनयपूर्वक परमतत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति के लिये श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ दोनों विशेषण वाले गुरु के शरण में जाने का निरूपण किया है। उसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र ने भगवद्गीता के चौथे अध्याय के ३४ वें श्लोक में भी कहा है:—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थः—सद्गुरु को साष्टांग नमस्कार करके और बन्ध क्या ? मोक्ष क्या ? विद्या किसे कहते हैं ? अविद्या किसका नाम है ? आत्मा कौन है ? परमात्मा कौन ? तथा उनकी एकता किस प्रकार से जानी जाती है ? इत्यादि प्रश्नों तथा सेवा करके प्रसन्न हुये सद्गुरु के पास से परम श्रेष्ठ मोक्षका साधन, अद्वितीय परमात्मा का ज्ञान तू प्राप्त कर। ज्ञानी (श्रोत्रिय) तत्वदर्शी (ब्रह्मनिष्ठ) सद्गुरु तुझे उपदेश करेंगे।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के तीसरे अध्याय मे प्रवुद्ध नामक योगीश्वर ने राजा जनक से कहा हैः—

तस्माद्गुरुं प्रपद्यते जिज्ञासु' श्रेय उत्तमम् ।
शब्दे परे च निष्णात ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

अर्थात्ः—इस लोक के तथा परलोक के सर्व विषय भोग कर्म-जन्म होने से नाशवान् तथा दुःखदाई हैं। इसलिये उत्तम (नाश रहित परम सुखमय) श्रेय (मोक्ष) को जानने की इच्छा वाले मुमुक्षु पुरुष को वेद के सत्य अर्थ के जानने वाले श्रोत्रिय और परम ह्म को अपरोक्ष अनुभव करके जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ तथा शान्तिवान् सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये।

७—सद्गुरु धोबी ज्ञान जल, साबू सिरजन हार।
सुरत शिला पर धोय कर प्रगटे ज्योति अपार॥
गुरु बिन ज्ञान न ऊपजे, गुरु बिन मिटे न भेद।
गुरु बिन सशय ना मिटे, जय जय श्री गुरुदेव ॥२७॥

ॐ जयहरि

की जाती है, परमात्मा एक अद्वितीय, अनन्त, असंग अक्रिय, निर्विकार निराकार निर्गुण नित्य, प्रत्यगात्मा देहत्रय से विलक्षण अवस्था त्रयका साक्षी, पञ्चकोशातीत व्यापक, शुद्ध, स्वयम् ज्योति सच्चिदानन्द रूप है। उसी के ज्ञान करके संसार नदी स सहज ही में पार हो जायगा।" यह सत्य उप देश होने पर भी अन्य मुमुक्षुओं को उसके वचन पर विश्वास नहीं आता है। इसलिये उनके वाक्यों में भी सन्देह रहता है। इसलिये दृष्टान्त में जैसे:—

(५) नेत्र और पग दोनों वाले पुरुषकी सहायता से पथिक नदी पार हुआ उसी प्रकार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ इन दोनों विशे षणों से युक्त सद्गुरु द्वारा ही मुमुक्षु संसार नदी स पार हो सकता है। इसलिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही शरण में जाना उचित है।

अथर्व वेद के मुण्डक उपनिषद् म जिज्ञासुओं को समि धादि भेंट हाथ म लेकर विनयपूर्वक परमतत्व के ज्ञान की प्राप्ति के लिये श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ दोनों विशेषण वाले गुरु के शरण म जाने का निरूपण किया है। उसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र ने भगवद्गीता के चौथे अध्याय के ३४ वें श्लोक म भी कहा है:—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अपना आश्चर्य दर्शन देकर दोनों भुजाओं से निवारण करते हुये कहा कि–भाई मैं तो जलमात्र के चढाने से ही प्रसन्न हो जाता हू तूने वृथा ही अपने शरीर को क्यों कष्ट दिया ?

तमाह चङ्कालमल वर्णाष्वमे यथामि काम वितरामी ते वरम् । प्रिययतो येन नृणां प्रपद्यात मोह त्वयात्मा भृशम-र्घते वृथा ॥ —(श्रीमद्भा० १० । ८८ । २०)

श्री शिवजी के उपर्युक्त वचनों से यह सहज ही प्रगट होता है कि भगवान् श्री शकर कितने महा कारुणिक है यह बात श्री शिव के हलाहल पान से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है इसकी सुन्दर कथा श्री मद्भागवत के अष्टम स्कन्ध मे है ।

एक समय देवता और असुरों ने मिलकर क्षीर सागर का मन्थन किया मन्थन होने पर सर्व प्रथम उसमें से महोल्वण हलाहल नामक विष निकला । अति वेग से दशों दिशाओं मे नीचे से उफन कर ऊपर आनवाले प्रतिकार रहित विषको देखकर देवता लोग विष्णु भगवान् से भी रक्षा न पाकर अत्यन्त भीत हो भूतनाथ श्री शकर जी की शरण में गये । उस समय देव देव महादेव कैलास पर जगदम्बा पार्वती के सहित विराजमान थे । सभी देवता समीप जा, प्रणाम कर उनको स्तुति करने लगे :—

देव देव ! महादेव ! भूतात्मन् ! भूतभावन ।
त्राहि नः शरणापन्नान्त्रैलोक्य दहनाद्विपात् ॥

आत्म-ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है इस आत्म ज्ञान की अप्राप्ति में गुरु पदवी के योग्य ब्राह्मण शिष्य भाव का पाता है, इस आत्म-ज्ञान की प्राप्ति से शिष्य पदवी के योग्य क्षत्रियादि भी गुरु भाव को प्राप्त हुये हैं। इसलिये आत्म-ज्ञान ही गुरुपने का सम्पादक है। आत्म-ज्ञान में जैसी महत्ता है, वैसी दूसरे किसी में नहीं। इसी कारण से छान्दोग्योपनिषद् में 'ज्ञान के समान दक्षिणा का अभाव' कहा है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कराने वाले गुरु को जो शिष्य समुद्र पर्यन्त पृथ्वी दक्षिणा रूप में देवे तो भी आत्म-ज्ञान के समान वह दक्षिणा नहीं। इस लिये आत्म-ज्ञान ही सबसे अधिक है। गुरु शब्द अधिक अर्थ का वाचक है। परन्तु इन सबसे अधिक अद्वितीय आत्मा है, इस अद्वितीय आत्मा को विषय करनेवाला आत्म-ज्ञान अधिक है। इससे सिद्ध होता है कि जिसे अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार हुआ है वह ही गुरु पदवी के योग्य है। परन्तु जिसे आत्म-साक्षात्कार हुआ नहीं वह सर्व प्रकार से शिष्य पदवी के योग्य है।

—(कौषीतकी उपनिषद्)

—— ० ——

अभयदान के दाता—गुरु।

वकासुर जब जगद्गुरु भोलानाथ शिवजी की सकाम आराधना में अपना शरीर काट २ कर हवन करने लगा तब महा कारुणिक श्री शङ्कर जी ने अग्नि कुण्ड से प्रगट हो उस

अपना आश्चर्य दर्शन देकर दोनों भुजाओं से निवारण करते हुये कहा कि-भाई मैं तो जलमात्र के चढाने से ही प्रसन्न हो जाता हूं तूने वृथा ही अपने शरीर को क्यों कष्ट दिया ?

नमाह चण्डालमल वर्णाश्रमे यथामि काम वितरामी ते वरम् । प्रिययनो येन नृणां प्रपढाता मोह त्वयात्मा भृशम-र्घते वृथा ॥ —(श्रीमद्भा० १० । ८८ । २०)

श्री शिवजी के उपर्युक्त वचनों से यह सहज ही प्रगट होता है कि भगवान् श्री शंकर कितने महा कारुणिक है यह बात श्री शिव के हलाहल पान से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है इसकी सुन्दर कथा श्री मद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में है ।

एक समय देवता और असुरो ने मिलकर क्षीर सागर का मन्थन किया मन्थन होने पर सर्व प्रथम उसमें से महोल्वण हलाहल नामक विष निकला । अति वेग से दशों दिशाओं मे नीचे से उफन कर ऊपर आनवाले प्रतिकार रहित विषको देखकर देवता लोग विष्णु भगवान् से भी रक्षा न पाकर अत्यन्त भीत हो भूतनाथ श्री शंकर जी की शरण में गये । उस समय देव देव महादेव कैलास पर जगदम्बा पार्वती के सहित विराजमान थे । सभी देवता समीप जा, प्रणाम कर उनको स्तुति करने लगे :—

देव देव ! महादेव ! भूतात्मन् ! भूतभावन ।
त्राहि नः शरणापन्नान्त्रैलोक्य दहनाद्विपात् ॥

आत्म-ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है इस आत्म ज्ञान की अप्राप्ति से गुरु पदवी के योग्य ब्राह्मण शिष्य भाव को पाता है, इस आत्म-ज्ञान की प्राप्ति से शिष्य पदवी के योग्य क्षत्रियादि भी गुरु भाव को प्राप्त हुए हैं। इसलिये आत्म ज्ञान ही गुरुपने का सम्पादक है। आत्म-ज्ञान में जैसी महत्ता है, वैसी दूसरे किसी में नहीं। इस कारण से छान्दोग्योपनिषद् में 'ज्ञान के समान दक्षिणा का अभाव' कहा है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कराने वाले गुरु को जो शिष्य समुद्र पर्यन्त पृथ्वी दक्षिणा रूप में देवे तो भी आत्म-ज्ञान के समान यह दक्षिणा नहीं। इस लिये आत्म-ज्ञान ही सबसे अधिक है। गुरु शब्द अधिक अर्थ का वाचक है। परन्तु इस सबसे अधिक अद्वितीय आत्मा है, इस अद्वितीय आत्मा को विषय करनेवाला आत्म-ज्ञान अधिक है। इससे सिद्ध होता है कि जिस अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, वह ही गुरु पदवी के योग्य है। परन्तु जिस आत्म-साक्षात्कार हुआ नहीं वह सर्व प्रकार से शिष्य पदवी के योग्य है।

—(कौषीतकी उपनिषद्)

—— o ——

अभयदान के दाता-गुरु।

पश्चात् जब जगद्गुरु भोलानाथ शिवजी की सकाम आराधना में अपना शरीर काट २ कर हवन करने लगा तब महा कारुणिक श्री शंकर जी ने अग्नि कुण्ड से प्रगट हो उस

करते समय शिवजी की हथेली से खिसक कर जो थोडा सा विप गिर गया था वह बिच्छू, साँप, विपमय औषधि तथा अन्य डसने वाले जहरीले जीवो ने ग्रहण किया था। इसी कारण यह सब उग्र हो गये। इन सबकी उग्रता को देखते हुए इसका विचार सहज किया जा सकता है कि वह हलाहल विप कितना उग्र रहा होगा ? उसे शिवके सिवा और कौन ग्रहण कर सकता था ?

इसी लिये कहा है :—

तप्यन्ते लोक तापेन सापयः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनंतद्धि पुरुपस्याखिलात्मन. ॥
—(श्रीमद्भा० ८ । ७ । ४४)

अर्थात्:—साधु पुरुष दूसरों के दुःखों से ही दुखी हुआ करते हैं। उनका दीन जनों पर दयार्द्र होकर प्रेम करना ही परमाराधन है । —(कल्याण)

डूबत भवसागर में–आइके वंधाये धीर,
पारहू लगाइ देत नायकू ज्यों खेय सो ।
पर उपकार सब, जीवन के सारे काज,
कबहु न आवे जाके गुन नीको होवे सो ॥
वचन सुनाइ भय भ्रम सब दूरि करैं,
सुन्दर दिखाइ देत, अलख अभेय सो ।
औरहू सनेही हम, नीके करि शोधि देखे,
जगमें न कोउ हित–कारी गुरुदेव सो ॥१॥

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥
—(श्रीमद्भा० ८।७।२१।२२)

इस प्रार्थना को सुनकर श्री शंकर जी प्रसन्न हो पार्वती जी से बोले कि हे प्रिये ! देखो क्षीर सागर से निकले हुए इस कालकूट से देवताओं को कितना कष्ट हो रहा है समस्त देवता प्राणों की रक्षा के लिये अत्यन्त व्याकुल हैं। अतः इन को अभय देना हमारा अनिवार्य कर्तव्य है क्योंकि दीन जनों का रक्षण करना-पालन करना ही सामर्थ्यवान् पुरुषों का धर्म है। इसलिये साधु पुरुष प्राणों को क्षणभंगुर समझ उनसे दूसरों की रक्षा करते हैं। इसलिये इस दुःखार्त देवगणों को बचाने के लिये मैं स्वयं विषपान करता हूँ। भगवती श्री पार्वती जी भी दयालु शंकर का विषपानार्थ प्रस्तुत देखकर अत्यन्त हर्षित हुईं वे भी महादेव जी का प्रभाव जानती थीं। तदनन्तर करुणा हेतु भूतभावन भगवान् श्री शंकर दिशाओं में व्याप्त उस हलाहल को हथेली पर रखकर चट कर गये। पान करते समय भी करुणामय भगवान् श्री शंकर ने दया को नहीं भुलाया। विषपान के द्वारा जो उन्होंने देवगणों पर दया की और हृदय स्थित ईश्वर को कहीं यह विष स्पर्श न हो जाय एतदर्थ उन्होंने विषको कण्ठ में ही रोक रखकर मानो ईश्वर पर भी दया की। हलाहल विष कण्ठ में नीलवर्ण धारण कर श्री शिव जी का भूषण स्वरूप हो गया। इसी कारण श्रीशंकर को "नीलकण्ठ" भी कहते हैं। कहा जाता है कि विषपान

करते समय शिवजी की हथेली से खिसक कर जो थोडा सा विष गिर गया था वह बिच्छू, साँप, विषमय औषधि तथा अन्य डसने वाले जहरीले जीवों ने ग्रहण किया था। इसी कारण यह सब उग्र हो गये। इन सबकी उग्रता को देखते हुए इसका विचार सहज किया जा सकता है कि वह हलाहल विष कितना उग्र रहा होगा ? उसे शिवके सिवा और कौन ग्रहण कर सकता था ?

इसी लिये कहा है :—

तप्यन्ते लोक तापेन साधयः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनंतद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥
—(श्रीमद्भा० ८ । ७ । ४४)

अर्थात्:—साधु पुरुष दूसरों के दुःखों से ही दुखी हुआ करते हैं। उनका दीन जनों पर दयार्द्र होकर प्रेम करना ही परमाराधन है । —(कल्याण)

डूबत भवसागर में–आइके बधाये धीर,
पारहू लगाइ देत नायकू ज्यों खेय सो ।
पर उपकार सब, जीवन के सारे काज,
कबहु न आवे जाके गुन नीको होवे सो ॥
बचन सुनाइ भय भ्रम सब दूरि करें,
सुन्दर दिखाइ देत, अलख अभेये सो ।
औरहू सनेही हम, नीके करि शोधि देखे,
जगमें न कोउ हित–कारी गुरुदेव सो ॥१॥

इंदव छन्द—

मनी कहैं गुरु जैन कहैं
गुरु सीवप गुरु जंगम मानै।
भक्त कहैं गुरु न्यासि कहैं
बन-वासी कहैं गुरु और बखानै॥
शेख कहैं गुरु सूफी कहैं गुरु
हित सुन्दर होत हिरानै।
दादू कहैं गुरु दादू कहैं गुरु
है गुरु सार सबै भ्रम भानै॥१०

सो गुरुदेव लिपैं न छिपैं कछु,
सत्व रज तम ताप निवारी।
इन्द्रिय देह मृषा करि जानत,
शीतलता समता उर धारी॥
व्यापक ब्रह्म विचार अखण्डित
द्वैत उपाधि सबै जिन टारी।
शब्द सुनाय सन्देह मिटावत
सुन्दर वा गुरु की बलिहारी॥२॥

पूरण ब्रह्म बताय दियो जिन
एक अखण्डित व्यापक सारे।
राग रु द्वेष करै अब कौन सु,
जो मरि मूल वही सब जारे॥
संशय शोक मिटयो मनका सब,

तत्त्व विचारि कह्यो निरधारे ।
सुन्दर शुध्ध कियो मल धोइ जू,
है गुरुको उर ध्यान हमारे ॥३॥

ज्यों कपडा दरजी गहि ब्यौंतत,
काष्ठहि को वह इक सियाने ।
कंचन कूं ज़ु सुनार कसै पुनि,
लोह को धार लुहार ही जाने ॥

वाहन कूं कसिलेत शिलावर,
पात्र कुम्मार के हीय निपाते ।
वैसे ही शिष्य कसै गुरुदेव जु,
सुन्दर दास तवै मन माने ॥४॥

—— o ——

❀ गुरु महिमा ❀

साखीः—

प्रथम नमुं गुरुदेव ने जेणे आप्यु निज ज्ञान ।
ज्ञाने गोविंद ओलख्या, टल्युं देहाभिमान ॥
तत्वसार त्रिलोकमां, गुरु गोविंदज रूप ।
आद्य अंत मध्य एह छे, हरि गुरु संत सरूप ॥

मोतीराम छंदः—

हरिगुरु संत सदा पद सेवुं,
जेनु नित्य नाम निरंतर लेवुं ।

गुरु गोविंद एक रूप माय
ज्यो बिम्बभास इव में भाय ॥१॥

गुरु गोविंद थकी छे अधिक,
जेनी परमात्म कारज शीख।
गोविन्दना सरज्या पड्या जीव आय
गुरु तेनी मुक्ति करे तत्काल ॥२॥

एवा गुरु पुरुष प्रेम दयाल
पोतानी आशीने करे प्रतिपाल।
गुरु तणु ज्ञान प्रभु शुकदेव
संसार समुद्र तर्या तत्खेव ॥३॥

मत्स्या गुरु नारद मे सुखराशि
तो टली तत्क्षण माया चौरासी।
गुरु बीना कोई न पावे पार
जेना जश गाय कमिया त्रिपुरार ॥४॥

जिनकी व्यास वेद गुरु रूप
न जाने महिमा प्राणी पापिष्ट,
मन गुरु झाही उत्तरी कहिये,
अस गुरु ज्ञान धर्यु नहि हैये ॥५॥

गुरु में आप बराबर जाण
तन अमृत पैतरणी मां ताण;
गुरु न गाल काढ ते पड़त
तन मुखर गुसे मन अमकूल ॥६॥

गुरुनी सेवा मां चूक पडावे,
तेने हरि चक्रनी धारे चढ़ावे,
गुरुनि नींदा सुणे निरधार,
सीसु गाली रडै श्रवण मोंझार ॥७॥

गुरुने चरणे न नमावे शीष,
तेने शत्रु रूपे जाणे जगदीश,
गुरुनी सेजे जे पग धारे,
तेने त्रीलोक मां कोण उगारे ॥८॥

गुरु मरिजाद न राखे कोय,
ते तो नर रणमां राक्षस होय,
गुरु बिना चाकर जेवो साप,
जेनु मुख दीठे चढ़े बहु पाप ॥९॥

गुरु बिना नुगरो फरे जन जेह,
मूआ पछी ठारे अवतरे तेह,
एकु गुरुगीता मां कहे शिवराय,
जेने वेद शास्त्र निरंतर गाय ॥१०॥

गुरु ब्रह्म केवल ज्ञान स्वरूप,
जेने रुदे आतम तत्त्व अनूपः
छे तत्त्वमसि मां अखंड आनंद,
त्रिगुणातीत टाले भव फंद ॥११॥

अवो गुरु प्रेमे करीजे पूजे,
तेना घट मांही त्रिभुवन सूझे

गुरु गोविंद एक रूप जाण,
एके मिथ्याभाव हृदे में आण ॥१॥

गुरु गोविंद थकी छे अधिक,
जेनी परमारथ कारण शीख।
गोविन्दमां सरज्या पछ्या जीव जाण
गुरु तेनी मुक्ति करे तत्काल ॥२॥

एवा गुरु पुरुष प्रेम दयाल
पोतानी जाणीने करे प्रतिपाल।
गुरु तणुं नाम प्रभु सुखरूप,
संसार समुद्र तर्या तत्खेव ॥३॥

मत्या गुरु नारद म सुखराशि
मा टली लख्यश माया चौरासी।
गुरु बीना कोई न पावे पार
जेमा जश गाय उमिया त्रिपुरार ॥४॥

विरची व्यास वेद गुरु एव
न जाण महिमा प्राणी पापिष्ठ।
तन गुरु ग्राही स्वामी कहिये,
जप गुरु नाम प्रभु महि ईम ॥५॥

गुरु ने बाप बराबर जाण
तन अमृत धेतरणी मां ताणे,
गुरु न मास काढ ते कपूत
तनु मुरख मले मन अमृत ॥६॥

रवि ने उगे रहे अंधकार,
न्यारे तेने शीद इच्छे संसार,
अमृत ने पीये जो रोग न जाय,
न्यारे शो अमृत नो महिमाय ॥१७॥

सुरतरु सेवे न भागे भूख,
न्यारे तेने कोण कहे सुरवृक्ष,
तीरथ ने नहाये जाय पाप,
न्यारे शो तीरथ नो परताप ॥१८॥

पारस ने परसे न होय हेम,
न्यारे तेने पारस कहिये केम,
सिंह ने शरणे जांबुक खाय,
न्यारे सिंह शयेणे गये शु थाय ॥१९॥

राम नाम लीधे दमे अज्ञान,
न्यारे कोण कहेशे भगवान,
काम क्रोध लोभ लुते ज्यारे चोर,
न्यारे शु नाथ तमारो जोर ॥२०॥

श्रणीमा ज्यारे मले नरिं ठंग,
तेनी त्रिया करे उघाडे अंग,
पतिवृता नांगी पति ने लाज,
जुओ मन मांही तमे महाराज ॥२१॥

पीडा पामे दास प्रभु ने खोट,
अमो पर काल चलावे चोट

गुरुना प्रेम परमामृत पीधु,
तेने त्रिलोक तु तीरथ कीधु ॥११॥
गामे प्रसाद गुरुनो प्रीते,
जाणे तेणे अम कर्यो लय जित्ये,
गुरुना प्रेमे संतोष पमाड्या,
जाणे तेणे सघळा लोक जमाड्या ॥१२॥
गुरु ने मळता करी लाग पाय,
तेणे सउ साधन सहजे थाय,
जेणे गुरु जाणीने झाल्या शरण,
निवार्या ताप जनम ने मरण ॥१३॥
धन्य धन्य गुरु पाम्या महाधुरन्धर,
हवे हरि थाशे अविचळ सुजाण,
पीडायो पार विना महाराज,
हवे हरि थाशे मारामी लाज ॥१४॥
आज अपराध अनाराध ईश,
त्यारे कांई वाल द्रु कम नगीश,
ज्यारे जिन माता बालक मार
त्यारे तम वांशु ने वाण उगार ॥१५॥
कमल पर विरह नमार्ग हाय
त्यारे शरण नम हाल नहि कोय,
गमागुण गाय जा कम न मार,
त्यारे वाल करण तमारा उगार ॥१६॥

रवि ने उगे रहे अंधकार,
न्यारे तेने शीद इच्छे संसार,
अमृत ने पीये जो रोग न जाय,
न्यारे शो अमृत नो महिमाय ॥१७॥

सुरतरु सेवे न भागे भूख,
न्यारे तेने कोण कहे सुरवृक्ष;
तीरथ ने नहाये जाय पाप,
न्यारे शो तीरथ नो परताप ॥१८॥

पारस ने परसे न होय हेम,
न्यारे तेने पारस कहिये केम;
सिंह ने शरणे जांबुक खाय,
न्यारे सिंह शयेणे गये शु थाय ॥१६॥

राम नाम लीधे दमे अज्ञान,
न्यारे कोण कहेशे भगवान,
काम क्रोध लोभ लुते ज्यारे चोर,
न्यारे शु नाथ तमारो जोर ॥२०॥

धणीमा ज्यारे मले नहिं ठग,
तेनी त्रिया करे उघाडे अंग,
पतिवृता नांगी पति ने लाज,
जुओ मन मांही तमे महाराज ॥२१॥

पीडा पामे दास प्रभु ने खोट,
अमो पर काल चलावे चोट

प्रभुनु भजन करे ते पीडाय
　　　तनो तमने बहु छे अनुराग ॥२२॥

आपो नित्य भक्ति संग वमगाव,
　　　एद जेतु उजड़ फेर बमाव;
वेसारोम वरस नाम तमारे
　　　तेथी कवि कागज थाय समारे ॥२३॥

त्यारे कवी नगर न छूटे कोय
　　　त्यारे गजवानु हरिनु हाथ;
आपी प्रभु करो हृदेमां वास
　　　त्यार सब थाय अविद्या नाश ॥२४॥

वरतावोने एक तमारी आण
　　　रूपाडोमे नाम रतननी खाण;
दीनपणु दुर करोने अनुनाथ
　　　हृद इत कवि हरि मस्तक हाथ ॥२५॥

बोलावी पासे वेसारो बाप
　　　पमाडो शीत हवे परिताप;
ममाबो शीत हवे भगवान
　　　दया करी दीजे अभय पद दान ॥२६॥

नाठे नहिं छुटा त्रिभुवन नाथ
　　　न मुकुं श्याम तमारो साथ;
वरी मेघ बिन्दु बराबर होय
　　　तमारो संग न मूकुं तोय ॥२७॥

मायाने वारो तमो रामराय,
नथी मुजने जपवा देती जराय,
करे छे सांधा बांधा बहु जोर,
अव्डें अन्डें कारमु काम कठोर ॥२८॥

हरि गुरु सन्तमां अंतर पाडे,
जीवने लालच लोभ देखाडे,
एने कोइ जोते महा शूरवीर,
डगे नहिं धर्म धुरंधर धीर ॥२९॥

सागर सान ते अजली नीर,
गोपद भूमि गगन समीर,
शून्यमां पुरण देखे सोइ,
मृत्यु तेने अमृतनुं फल होय ॥३०॥

जाणे कांई मागशे मारी पास,
एवु रखे राखता श्री अविनाश
रिध्धि सिध्धि मारे न जोइये मुक्ति,
न मागुं जोग सिध्धिनी युक्ति ॥३१॥

न मागु एक छत्र रामराज्य,
इन्द्र तणां आसननुं शुं काज,
इच्छु नहिं अज पदने कैलास,
न मागुं गौलोके वैकुंठ वास ॥३२॥

पद रज एक चढ़ावु शीश,
तमारी महरे मायाने अधीश;

इच्छु नहिं अन्य पदारथ कोई
राखो निज चरण कमलनी छांय ॥११॥

मागु प्रेम भक्ति संत संग सार
मागु जश गाया लीला अवतार,
नहे नहिं कोई मने संसार
रहुं निज नाम तणु आधार ॥१४॥

प्रीतम पतित उध्धारण नाम,
नार्यां केई काढी पाम्या निज धाम ॥१५॥

साखी—सत्य नाम प्रेम पन तणु, सत सत पुरुष विचार,
कहे प्रीतम शुध्ध भावसुं दीजे नित्य दरबार ॥१॥
गाय शिखे न सांभले धरे निरन्तर ध्यान,
कहे प्रीतम नर नारमां भक्ति को लेश समान ॥२॥

॰ ॐ तत्सत् ॰

भले बुरे गुरु जन वचन, तापत कबहुँ न पीर।
राम-काजको कौशिक चले विपिन रघुवीर॥
गुरु पद योग प्रयोगहु, करिये भ्रम बिसराय।
राम हते जमदग्नि कै, वचन सहोदर माय॥
वचन पाय सम भयप सुनु सहत भीम रिस त्याग।
सूरज पद-परिहार में पाहन उगलत आग॥ मत०

—— ० ——

था जगमें कोउ है नहीं, 'गुरु सम दीन दयाल ।
सरनागत कूं जानि के, भलैं करैं प्रतिपाल ॥
मनसा वाचा करि 'दया' गुरु चरनौं चित्त लाव ।
जगत समुद्र के तरन कुं नांहि न आज उपाव ॥
सतगुरु ब्रह्म सरूप हैं, मनुष भाव मन जानें ।
देह भाव मानै 'दया' ते हैं पशू समान ॥
निज प्रति वन्दन कीजिये, गुरु कू सीस नवाय ।
'दया' सुखी कर देत है, हरि सरूप दरसाय ॥

विद्या हवै ब्रह्मण मा जगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृनये शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती यथास्याम् ॥१॥

अर्थः—विद्या ब्राह्मण के पास आकर कहती है कि तू मेरा रक्षण कर मैं तुझे भंडार रूपमें प्राप्त होती हूँ। मुझे ईर्ष्या करने वाले कुटिल तथा शठ को न देना, जिससे मैं वीर्यवाली हो रह सकूं । — (श्रुतिः)

विद्ययैव समं कामं मर्तव्य ब्रह्म वादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां नत्वे नाभिरिणे वपेत् ॥ —श्रुति•

अर्थ•—ब्रह्मज्ञानी को विद्या के साथ मृत्यु पाना श्रेष्ठ है परन्तु-घोर आपत्ति आई हो तो भी नास्तिक को वह विद्या देना नहीं ।

अभिवादन—गुरु कीर्ति ।

श्लोकः— लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ —(मनु)

—जिसके पास से इस लोक संबन्धी वेद संबन्धी और अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया हो उस गुरु को प्रथम अभिवादन करना ।

श्लोकः— शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥

गुरु के बिस्तर अथवा आसन के ऊपर उनकी हाजरी या गैर हाजरी में कदापि बैठना नहीं, और अपने बिस्तर या आसन पर बैठे हुए हो उस समय गुरु आवें तो खड़े होकर उनको अभिवादन करना । —(मनु २-११९)

श्लोकः— प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥
—(मनु० २-१९५)

सोते २ बैठे रह कर खाते २ पीछे मुख करके खड़े रह कर गुरु की आज्ञा का उत्तर नहीं देना । इसी प्रकार बातचीत भी नहीं करना । (क्योंकि ऐसा करने से ना कदर्थ मालूम पड़ती है ।)

श्लोकः— दूरस्थो नार्चयेदेन न क्रुद्धो नान्ति के स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवै नम चरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

शिष्य को गुरु से दूर खडे रह कर अभिवादन नहीं करना उसी प्रकार क्रोधयुक्त होकर न करना, गुरु उनकी धर्मपत्नि के पास हों तब भी नहीं करना और कोई सवारी ऊपर बैठे हों तो वहां से उतर कर खडे होकर अभिवादन करना ।

श्लोकः— नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानु कुर्वीत गति भापित चेष्ठितम् ॥१९९॥

गुरु की गैर-हाजरी में उनका अकेला नाम नही बोलना । (नाम के पहिले श्री या नाम के अंत में 'जी' ऐसा सम्मान सूचक शब्द रख कर बोलना) उनकी चाल, उनकी बोली और उनकी अन्य चेष्टाओं की नकल नहीं करना ।

श्लोकः— गुरोर्यत्र परीवादो निंदा व्यापी प्रवर्त्तते ।
कर्णौ तत्रपिधातव्यौ गतव्यंततोऽन्यत. ॥२०३॥

जिस जगह गुरु के दोष बोलते हों, उनकी निंदा होती हो उस जगह अपने कान मूंद लेना चाहिये अथवा वहां से चल देना चाहिये ।

श्लोकः— प्रनिवातेऽनुवाते च नाशीत गुरुणासह ।
असश्रवेच्चैव गुरोर्नकिंञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥

गुरु की तरफ से हवा आती हो अथवा शिष्य की तरफ से हवा गुरु की तरफ जाती हो इस प्रकार नहीं बैठना। गुरु के सुनने में न आवे इस रीति से भी कोई अनुचित बात नहीं करना।

श्लोकः— गोऽश्वोष्ट्रयान प्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

बैल घोड़ा और ऊंट की सवारी में महलों की अटारियों में चटाइयों के बिछौने पर बड़े पत्थर की चट्टान पर और नाव वगैरा में गुरु के साथ बैठने में कुछ हर्ज नहीं।

"गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥२०५॥"

गुरु के गुरु पास में होवें तो उन्हें भी गुरु की भांति मान देना।

शब्दशास्त्र में 'गुरु' शब्द के प्रत्येक वर्ण का इस रीति से अर्थ किया है गकार का अर्थ सिद्धि दाता रेफ का अर्थ पाप नाशक और उकार का अर्थ शम्भु है। अर्थात् जो सिद्धि दे सकते हैं। पापों का विनाश करने की जिनमें क्षमता है और जो मंगल कर्त्ता हैं उन्हीं को गुरु कहते हैं।

अर्थात् गकार का अर्थ ज्ञान रेफ का अर्थ सत्य प्रकाशक और उकार का अर्थ शिवतादात्म्यमय है। अर्थात् जो तत्त्वज्ञान को प्रकट कर शिव स्वरूप करे वही गुरु है।

जिसको किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है, जो शुद्ध चतुर और उदासीन है जो दुःखों से मुक्त है और 'मैं करने वाला हूँ' इस अभिमान से किसी कार्य का आरंभ नहीं करता (सब कुछ भगवान का ही किया मानता है) वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जो न हर्षित होता है न द्वेष करता है न शोक करता है और न कुछ चाहता ही है, जो शुभ और अशुभ किसी भी कर्म को आसक्ति और फल की इच्छा से नहीं करता वह भक्तिमान पुरुष मुझको प्रिय है।

जो शत्रु मित्र में, मान अपमान मे और सर्दी गर्मी तथा सुख दु:खादि द्वन्दों में समान भाव रखता है, जिसकी (मुझ को छोड़ कर) किसी भी पदार्थ में आशक्ति नहीं है, जो निन्दा स्तुति को समान समझता है जो चित्त तथा वाणी से केवल मेरा ही मनन और कथन करता है और जो किसी भी प्रकार जीवन निर्वाह होने में सतोष रखता है जिसका अपना कोई घर नहीं है अर्थात् जो घर में ममत्व रहित है या जो घर द्वार सबको भगवान् के मान चुके हैं वह स्थिर बुद्धि भक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

जो श्रद्धावान् पुरुष मेरे ही परायण होकर उपरयुक्त धर्म मय अमृत का भली भांति सेवन करते हैं, वे भक्त ता मुझ को अत्यन्त ही प्रिय हैं। —(गीता अ १२। १३-२०)

——:o:——

यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी १ गुण माहात्म्यासक्ति २ रूपासक्ति ३ पूजासक्ति ४ स्मरणासक्ति ५ दास्यासक्ति ६ सख्यासक्ति ७ कान्तासक्ति ८ वात्सल्यासक्ति ९ आत्म निवेदनासक्ति १० तन्मयासक्ति और ११ परम विरहासक्ति-इस प्रकार से ११ प्रकार की होती है।

इन भिन्नाभिन्न आसक्तियों से भगवान् का भजन वाले असंख्य भक्त हो गये हैं। उदाहरण के लिये कुछ नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१—गुण माहात्म्यासक्त भक्त—देवर्षि नारद, महर्षि वेदव्यास शुकदेव, पाराशर, काकभुशुण्डि, शुक सन्त् शौनक शाण्डिल्य भीष्म अर्जुन परीक्षित, पृथु जनमेजय आदि।

२—रूपासक्त भक्त—मिथिला के नर-नारी, राजा जनक दण्ड कारण्य के ऋषि वृज नारियाँ आदि।

३—पूजासक्त भक्त—श्री लक्ष्मी जी, राजा पृथु अम्बरीष, श्री भरत जी आदि।

४—स्मरणासक्त भक्त—प्रह्लाद जी ध्रुव जी सनकादि।

५—दास्यासक्त भक्त—श्री हनुमान जी अक्रूर जी, विदुर जी आदि।

६—सख्यासक्त भक्त—अर्जुन उद्धव संजय श्रीदाम सुदामादि।

७—कान्तासक्त भक्त—ब्रज गोपियाँ आदि।

८–वात्सल्यासक्त भक्त—कश्यप, अदिति, सुतपा, प्रश्नि, मनु, शतरूपा, दशरथ कौशल्या, नंद यशोदा, वसुदेव देवकी आदि।

९–आत्मनिवेदनासक्त भक्त—श्री हनुमान जी, राजा अम्बरीष, राजा वलि, विभीषण जी, शिवि आदि।

१०–तन्मयासक्त भक्त—याज्ञवल्क्य, शुक, सनकादि ज्ञानी गण अथवा कौण्डिन्य, सुतीक्ष्ण आदि प्रेमी मुनिगण।

११–परम विरहासक्त भक्त—उद्धव, अर्जुन, व्रज के नरनारी।

श्री गोपीजनों में ग्यारहों प्रकार के प्रेम का विकास था, उपर्युक्त भक्तों मे एक एक प्रकार के ही प्रेम का विकास था सो बात नहीं है। जिस भाव की प्रधानता थी उसी में उनका नाम लिख दिया गया है।

—(नारद-भक्ति-सूत्र-प्रेमदर्शन)

प्रबुद्ध नामक योगीश्वर ने महाराज निमि से प्रेमरूपा भक्ति को प्राप्ति के साधन इस प्रकार वतलाये हैं—

जिसको अपना परम कल्याण जानने की इच्छा हो उसे वेद के ज्ञाता और परब्रह्म में स्थित शान्त स्वरूप गुरु की शरण जाना चाहिये। और गुरु को ही आत्मा एवम् इष्टदेव समझ कर निष्कपट भावसे उनकी सेवा करके उन भगवत धर्मों को सीखना चाहिये। जिनसे अपने आपको दे डालने वाले

परमात्मा हरि प्रसन्न हो जाते हैं। ममसे सब विषय-भोगों में वैराग्य साधु महात्माओं का संग सब प्राणियों के प्रति यथा-योग्य दीनों के प्रति दया समान अवस्था वालों से मित्रता और बड़ों के प्रति विनय का व्यवहार, तन मन, धन से पवित्र रहना कष्ट सहकर भी अपने वर्णाश्रम धर्म का पालनरूपी तप करना शीत उष्ण आदि को सहना व्यर्थ बातचीत का त्याग या भगवान् का मनन स्वाध्याय सरलता ब्रह्मचर्य अहिंसा, सुख दुःख आदि आदि द्वन्द्वों में समभाव। सर्वत्र सब जीवों में अपने आपका तथा ईश्वर दृष्टमा एकान्त म रहना घर आदि को भगवान् का मानना, भगवान् का गुण गान वाले शास्त्रों में श्रद्धा रखना, दूसरे शास्त्रों की निंदा नहीं करना मन वाणी और कर्मों का संयम, सत्य भाषण मन और इन्द्रियों का वश में रखना अद्भुत लीला करनेवाले श्रीहरि के जन्म कर्म और गुणों का श्रवण कीर्तन और ध्यान करना भगवान् के लिए ही सब विहित कर्म करना यज्ञ दान तप जप आदि सदाचार अपने प्रिय लगने वाले सब पदार्थ और स्त्री पुत्र घर तथा प्राणों को भी परमात्मा के अर्पण कर देना और इस प्रकार भगवान् ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं ऐसे भक्तों से मिलना रखना-करना जड़ चेतन जीवों की मनुष्यों की और उनमें भी साधु स्वभाव वाले महापुरुषों की विशेष रूपसे सेवा करना परस्पर में भगवान के पवित्र यश का कथन करना और इस भगवद् गुणगान के द्वारा ही परस्पर प्रीति, तुष्टि और दुःखों की निवृत्ति करना-ये सब साधन सद्गुरु के समीप रहकर सीखना चाहिये। इस प्रकार यथार्थ करने वाले

और पाप समूह के नाशक श्रीहरि का स्वय स्मरण करने वाले और दूसरों से कराने वाले भक्तों के हृदय मे इस साधन रूप भक्ति के द्वारा प्रेम लक्षणा भक्ति उत्पन्न हो जाती है। और उनका घमण्ड शरीर पुलकित हो जाता है। वह फिर प्रेम मग्न हो जाता है।

—(श्रीमद्भागवत ११ । ३ । २१–३१)

इसी प्रकार गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने अपने प्यारे भक्तों के लक्षण बतलाते हुए कहा है:—

जो किसी भी जीव से द्वेष नहीं करता जो सबका मित्र और दयालु है जो ममता और अहंकार से रहित सुखदु:खों की प्राप्ति में समभाव वाला और क्षमाशील है। जिसका चित्त निरन्तर मुझमें लगा है जो सदा संतुष्ट है, मन और इन्द्रियादि को जीते हुए है-मुझमें दृढ निश्चयी है और जिसने अपने मन बुद्धि को मुझे सौंप रक्खा है वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

जिससे किसी जीव को उद्वेग नहीं होता और जो स्वय किसी से उद्विग्न नहीं होता जो हर्ष अमर्ष भय और उद्वेगों से छूटा हुआ है वह भक्त मुझे प्रिय है।

ॐ—सद्गुरु अंग।

जो सद्गुरु नां से वे चरण, तेहे ना टले जन्म मरण,
महा पापक नु आपे ज्ञान, भुकावे देहनु अभिमान,
भूतरापी ने करे भगवन्त, कहे प्रीतम ते सद्गुरु संत ॥१॥

गुरु थी मारग नवी सुर शेष, न मीर ब्रह्मा विष्णु महेस,
गुरु सरखा मोटा ते गुरु, कहे प्रीतम बर्सन शुं करूं ॥२॥

मन धांरे पर्यंत नव थाय, जेहने नियम निरंतर गाय,
शास्त्र पुराण कहे छे सहु, गुरु नो महिमा बहु,
कहे प्रीतम जे को आचरो अखंड अभय पद पामशे ॥३॥

गुरु नां चरण से ये जे सदा, तेनी होय नथनी आपदा,
ऊ करोड़ तीरथ कहै वाप गुरु नमतां सघे पाप,
शीष चरणामृत लेहे प्रहे, कहे प्रीतम परम पद लहे ॥४॥

शीतलता सतसंग थाय जन्म मरण नुं सोसम जाय,
घटमा प्रगट ज्ञान प्रकाश कहे प्रीतम होय हरिना वास ॥५॥

गुरु संतोषी आपे सुख, नरक तणु नव पामे दुःख,
प्रेम प्रीतम सु पूजा कर, गर्भे वास न करन करे,
चम्नु बिना जेवो आंमनी कथ बिना जेहेवी मांमनी ॥६॥

लवण बिना अन्न जेहे कुरूपा तप बिना संन्यास सखायाः,
गुरु बिना नर पेहे ना आरत्म कहे प्रीतम ते सत्य प्रमारोप,
विश्वेश्वर ईश्वर गुरु आप परसे तेहे नां न रहे पाप ॥७॥

वंदे शिव विरची शेष हरी सु समरथ है पे हमेश
गंगा आवे तीरथ तेह, चरण कमल रज लेहे तेह,
बेद बेद जनी कीरती पवी प्रीतम मत ते शिरोमणी ॥८॥

हरिचंद मे सोम पवन हरि सिन्धु न संत प्रसंग,
पर उपगिरा परमारथी बंधन छोड़ संसार थी,
अमेहु वायम न बीधारता केहे प्रीतम कारज सारता ॥९॥

संत संग दुर्लभ संसार, नौका सत्त भव तारण हार,
चौरासी ना रावे फन्द, उपजावे उर अति आनन्द,
हरि नाम धन्य आपे सार, प्रीतम प्रगटे प्रेम अपार ॥१०॥

गुरु थी मारग मली सुर शेष, न मारे ब्रह्मा विष्णु महेस।
गुरु सरखा मोटा न गुरु, कहे प्रीतम वर्णन शुं करुं ॥२॥

मन वांछित फल थाय, जेहमे निगम निरंतर गाय।
शास्त्र पुराण कहे छे सहु, गुरु नो महिमा बहु।
कहे प्रीतम जे का आवेश, अखंड अभय पदवी माणशे ॥३॥

गुरु नां चरण सेवे जे सदा, तेनी टळे सघळी आपदा।
ऊ करोड़ तीरथ कहीं थाय गुरु सघळां सबे थाय;
शीष चरणामृत जाह ग्रहे, कहे प्रीतम परम पद लहे ॥४॥

शीतळता सत्संग थाय जन्म मरण नु ओसम जाय;
घटमां प्रगट ज्ञान प्रकाश, कहे प्रीतम होय हरिना दास ॥५॥

गुरु संतोषी आप सुख, नरक तणु भव पामे दुःख;
प्रेम प्रीतम शुं पूजा करे गमे वाम न काम करे।
चन्द्र विना जेवी जामनी कंथ विना जेहवी कामनी ॥६॥

नयन विना जेम कोई पुतळा तप विना सन्यास समाया।
गुरु विना नर पशु ना आचार कहे प्रीतम ते सत्य प्रमाणे।
विश्वेश्वर ईश्वर गुरु आप चरण तेह नां नमे पाप ॥७॥

वंदे शिव विरंची शेष हरी नु समरण है ये हमेश।
गंगा आप तीरथ जेह चरण कमल रज ईछे तेह।
सत पंथ जानी कीरती घणी, प्रीतम संत ते शिरोमणी ॥८॥

हरिश्चंद्र न संत समान हरि सिन्धु न सत प्रमाण।
पर उपकार परमारथी बंधन काडे संसार थी;
समजु सघन न बीजा कोई कहे प्रीतम सारना सारणा ॥९॥

युक्ति बाधक भेद को, अरु पुनि कहे अभेद ।
तिनहीं करके दूर होय, असम्भावना खेद ॥२॥

अर्थ यह है कि—पूर्व गुरुमुख से महावाक्यों का जो श्रवण किया था उसको एकान्त स्थान में बैठ के विचार करके सार और असार के सोधन करने को मनन कहते हैं। शिष्य कहता है.—

"हे भगवन् ! आपने जो सार असार का शोधन कहा सो सार क्या है; और इनका शोधन किस प्रकार होता है ? सो आप कृपा कर कहिये।" इस पर गुरू कहते हैं—"हे शिष्य ! पूर्व 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि जिन महावाक्यों का श्रवण कहा है उन सर्ववाक्यों के तीन २ पद होते हैं। अहं पद जीव का वाचक होता है, ब्रह्मपद ईश्वर का वाचक होता है। अस्मद् पद चेतन मात्र का वाचक होता है। शुद्ध सतो-गुण वाली माया में चेतन का जो आभास पडा है उसको ईश्वर कहते हैं, और मलिन सतोगुण वाली जो अविद्या है, उसमें चेतन का जो आभास है, उसको जीव कहते हैं। इस प्रकार अल्पज्ञ जीव, अल्प शक्ति, पराधीनता आदि अनेक जीवत्व धर्म वाला है। माया में आभास जो ईश्वर है सो कैसा है ? सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान है, और स्वतंत्र है। इनके अतिरिक्त और भी ईश्वर धर्म उसमें बहुत है। परन्तु जीव और ईश्वर के अल्पज्ञता, सर्वज्ञता, आदि जितने धर्म कहे जातेहैं, सो सब उपाधिक धर्महैं। वास्तवमें उनके कोई धर्म नहीं है। क्यों कि यह माया और अविद्या उपाधि है, इसी से जीव

॥ ॐ ॥

मनन।

मनन—श्रवण के पश्चात् मुमुक्षु को जन्म मरणादि विकारवान् तथा आसक्ति द्वारा सर्व एषणा उत्पन्न करने वाले इस शरीर का अन्वय व्यतिरेक कर दुःख का कारण रूप जानना सर्व एषणा का त्यागकर मुमुक्षु को बालक की भाँति रागद्वेष से रहित हो रहना। तात्पर्य कि—'रागद्वेष पूर्वक विषय में इन्द्रियों की प्रवृत्ति जीव को दुःख का कारण रूप है। इस कारण से ही रागद्वेष पूर्वक इन्द्रियों की प्रवृत्ति से रहित बालक दुःख पाता नहीं। इसलिये मुमुक्षु को बालक की तरह रागद्वेष पूर्वक इन्द्रियों की प्रवृत्ति से रहित होकर वेदान्त अर्थ का मनन करना। अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा विरोध की निवृत्ति पूर्वक वेदान्त के अर्थ के चिन्तन को शास्त्रवेत्ता मनन कहते हैं। यह मनन रागद्वेष वाले बहिर्मुख पुरुष से नहीं हो सकता। इसलिये रागद्वेष से रहित हो मुमुक्षु को वेदान्त अर्थ का मनन करना चाहिये। —(आत्मपुराण)

दोहा—

मनन तिसको कहत हैं मन में करे विचार।
बैठि एकान्तिक ठौर में सोचे सार असार ॥१॥

युक्ति वादक भेद को, अरु पुनि कहे अभेद।
तिनहीं करके दूर होय, असम्भावना खेद ॥२॥

अर्थ यह है कि–पूर्व गुरुमुख से महावाक्यों का जो श्रवण किया था उसको एकान्त स्थान में बैठ के विचार करके सार और असार के सोधन करने को मनन कहते हैं। शिष्य कहता है:—

"हे भगवन्! आपने जो सार असार का शोधन कहा सो सार क्या है, और इनका शोधन किस प्रकार होता है? सो आप कृपा कर कहिये।" इस पर गुरू कहते हैं–"हे शिष्य! पूर्व 'तत्त्वमसि' 'अह ब्रह्मास्मि' इत्यादि जिन महावाक्यों का श्रवण कहा है, उन सर्ववाक्यों के तीन २ पद होते हैं। अह पद जीव का वाचक होता है, ब्रह्मपद ईश्वर का वाचक होता है। अस्मद् पद चेतन मात्र का वाचक होता है। शुद्ध सतो-गुण वाली माया में चेतन का जो आभास पडा है उसको ईश्वर कहते हैं, और मलिन सतोगुण वाली जो अविद्या है, उसमें चेतन का जो आभास है, उसको जीव कहते हैं। इस प्रकार अल्पज्ञ जीव, अल्प शक्ति, पराधीनता आदि अनेक जीवत्त्व धर्म वाला है। माया में आभास जो ईश्वर है सो कैसा है? सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान है, और स्वतन्त्र है। इनके अतिरिक्त और भी ईश्वर धर्म उसमें बहुत है। परन्तु जीव और ईश्वर के अल्पज्ञता, सर्वज्ञता, आदि जितने धर्म कहे जातेहैं, सो सब उपाधिक धर्महैं। वास्तवमें उनके कोई धर्म नहीं हैं। क्यों कि यह माया और अविद्या उपाधि है, इसी से जीव

और ईश्वर में सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का आरोपण किया जाता है। वास्तव में चेतन का कोई धर्म नहीं है।

अतः जो कोई धर्मों सहित जीव और ईश्वर की एकता कहता है, वह महा-मूर्ख है। क्योंकि दोनों के धर्मों का आपस में विरोध है। फिर जिनको विरोध हो उनके सम्बन्ध में एकता कहना मूर्खता नहीं तो क्या है? जैसे कोई मलीन कर्म करने वाले भंगी की ब्राह्मण से एकता कहे, तो वह सम्भव कैसे होगी? ब्राह्मण का धर्म तो वेद अध्ययन आदि शुद्ध है, और भंगी का कर्म मूत्र विष्ठा उठाना मलिन है इससे उन धर्मों का विरोध है। और जब धर्मों को त्याग दें तो मनुष्य मात्र में एकता बन सकती है, उसमें कोई भी विरोध नहीं है।

जैसे घटाकाश और मठाकाश की घट, मठ उपाधि के सहित एकता कहें तो नहीं बनती है। क्योंकि–घट में दस सेर अन्न समाता है, और मकान में हजारों मन आ सकता है। फिर उनकी एकता कहना कैसे बने? इससे उपाधि सहित एकता कहना विरुद्ध है। घट मठ रूपी उपाधि और उसके जो आलन रूप धर्म हैं, उन सबों को त्याग के केवल आकाश मात्र की एकता बनती है। इसी प्रकार माया अविद्या और उनके सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदि धर्मों के सहित एकता नहीं बनती है। परन्तु उन सबों को त्याग के "चेतन मात्र एक ही है वही सार है और–सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदिक धर्म सहित माया–अविद्या असार है" इस प्रकार से विचार करके सार और असार को भली प्रकार निश्चय करना चाहिये।

अब दूसरे दोहे का अर्थ कहते हैं:—प्रमेय कहिये-जीव ब्रह्मत्व, एकत्व-गत-कहिये-उसमें असंभावना, अर्थात्-संशय और खेद। अर्थात्-दुःख रूपी भेद की बाधक और अभेद की साधक जो युक्तियां हैं, उनसे प्रमेय गत असंभावना को दूर करे। यदि ऐसा कहें कि-प्रमेयगत असंभावना क्या है ? तो सुन, यह जो वेदान्त शास्त्र के वचन 'जोव ब्रह्म के भेद' को अथवा-'अभेद' को कथन करते हैं, इसका नाम 'प्रमेयगत असभावना' है। इसकी निवृत्ति के वास्ते भेद के बाधक, और अभेद के साधक महावाक्यों के अर्थ का युक्ति पूर्वक बारबार चिन्तवन करना चाहिये-इसी को मनन कहते हैं) अपने चित्त में इस प्रकार का विचार करें कि वास्तव में द्वैत है नहीं। क्यों कि यदि परमार्थ से द्वैत होता उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये कहते हैं कि-परमार्थ से एक चेतन सत्रूप, त्रिकालाबाध है। जो वस्तु परमार्थ से सत् हो, उसकी तीन काल में निवृत्ति होती नहीं है। और द्वैत की तो अद्वैत ज्ञान से निवृत्ति हो जाती है। इससे द्वैत माया मात्र है। सो माया और उसका कार्य-प्रपच-मिथ्या होने से मुझ चैतन्य में द्वैत कर सकता नहीं। जैसे वास्तविक रज्जू में सर्प है ही नहीं, तो फिर वह किसको काटेगा ? तैसे ही वास्तविक माया का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है। इसी से माया को 'अचिन्त्य शक्ति' कहा है, जो युक्ति के आगे ठहर नहीं सकती। वह युक्ति यह है कि (१) यदि माया को सत्य कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-सत्य वस्तु का नाश नहीं होता है, और माया का ज्ञान से नाश हो जाता है। इससे माया सत्य नहीं कही जाती। और (२) जो माया

और ईश्वर में सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का आरोपण किया जाता है। वास्तव में चेतन का कोई धर्म नहीं है।

अतः जो कोई धर्मों सहित जीव और ईश्वर की एकता कहता है, वह महा-भूल है। क्योंकि दोनों के धर्मों का आपस में विरोध है। फिर जिनका विरोध हो उनके सम्बन्ध में एकता कहना मूर्खता नहीं तो क्या है? जैसे कोई मलीन कर्म करने वाले भंगी की ब्राह्मण से एकता कहै, तो वह सम्भव कैसे होगी? ब्राह्मण का धर्म तो वेद अध्ययन आदि शुभ है और भंगी का कर्म मल विष्ठा उठाना मलिन है इससे उन धर्मों का विरोध है। और उन धर्मों को त्याग दें तो मनुष्य मात्र में एकता बन सकती है, उसमें कोई भी विरोध नहीं है।

जैसे घटाकाश और मठाकाश की घट, मठ उपाधि के सहित एकता कहें तो नहीं बनती है। क्योंकि–घट में दस सेर जल समाता है और मकान में हजारों मन आ सकता है। फिर उनकी एकता कहना कैसे बने? इससे उपाधि सहित एकता कहना विरुद्ध है। घट मठ रूपी उपाधि और उसके जो धारण रूप धर्म हैं, उन सबों को त्याग के केवल आकाश मात्र की एकता बनती है। इसी प्रकार माया अविद्या और उनके सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदि धर्मों के सहित एकता नहीं बनती है। परन्तु उन सबों को त्याग के "चेतन मात्र एक ही है वही सार है और–सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदिक धर्म सहित माया–अविद्या असार हैं" इस प्रकार से विचार करके सार और असार का भली प्रकार निश्चय करना चाहिये।

देखने में आती नहीं है, मृत्तिका आदिक सावयव पदार्थों से घट आदि की उत्पत्ति देखन में आती है, निरवयव से किसी क उत्पत्ति नही होती है, इससे माया को उपादान कारण कहा है। परन्तु-निरवयव भी वनता नही। और (६) सावयव निरवयव मिला के कहें ? सो भी नहीं वनेगा। क्योंकि-सावयव निरवयव तो उसका स्वरूप वना ही नहीं तो मिला के कैसे वनेगा ? किन्तु-किसी भी रीति से माया का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है। इससे मिथ्या माया से द्वैत नहीं होता। जैसे-मिथ्या सर्प से रज्जू विषवाली नहीं होती है, तैसे ही मिथ्या माया से चेतन आत्मा में द्वैत नहीं होता है। माया उसे कहते है कि-है तो नहीं, और है ऐसी भासे।

जैसे 'बाजीगर की बाजी' तैसे ही ब्रह्म आत्मा का वास्तव भेद नहीं है, और भेद की नांई प्रतीति होती है, इसी को माया कहते हैं। और जो ऊपर नौ युक्तियां कही है, उनसे माया का स्वरूप नहीं वनता है तो आत्मा से ब्रह्म जुदा कैसे होगा ? और जो आत्मा से ब्रह्म को जुदा कहो तो-आत्मा से जो भिन्न है सो सब अनात्मा ही कहा जाता है, इससे ब्रह्म भी आत्मा से जुदा होगा तो यह भी अनात्मा ही होगा।

ब्रह्म को 'अनात्मा' किसी वेद शास्त्र ने अंगीकार किया नहीं है। इसी से जाना जाता है कि-आत्मा से ब्रह्म जुदा नहीं है। और जो आत्मा को ब्रह्म से जुदा कहें सो भी वने नहीं। क्योंकि-जिस देश में आत्मा है उसी देश मे ब्रह्म

को असत्य कहें, तो भी बात नहीं बनती। क्योंकि–माया और माया के कार्य की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों काल में प्रतीति होती है। इसलिए असत्य भी नहीं कही जाती है।

३—'सत्य असत्य दोनों को मिलाकर' कहें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि–जब सत्य असत्य ही संभव नहीं तो मिलाने की बात कहां ? इससे किसी रीति से भी माया का स्वरूप नहीं बनता। और यदि ऐसा कहें कि–(४) 'माया चेतन से भिन्न है' तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि–चेतन से माया भिन्न है तो जिस देश में माया है उस देश में चेतन का अभाव होगा। और चेतन को तो वेद ने 'सर्व व्यापी' कहा है। इस से वेद विरोध होगा। अतः भिन्न कहना भी नहीं बनता है। यदि ऐसा कहें कि–(५) 'माया चेतन से अभिन्न है' सो भी नहीं बने क्योंकि–चेतनस्वरूप में स्थिति होने को ही मोक्ष कहते हैं। जब नाना प्रकार के साधनों से चेतन स्वरूप में स्थित होगी तो मोक्ष दशा में जीव के साथ माया फिर चिपट जावगी जिससे सब साधन निष्फल होवेंगे। अतः माया को 'अभिन्न' कहना भी नहीं बनता है। और फिर (६) 'भिन्न अभिन्न' मिला के कहें ? सो भी नहीं चलेगा। यदि माया को (७) 'सावयव' कहें ? तो भी नहीं बने, क्योंकि–माया साव यव हो तो माया की प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु–वह नेत्र से किसी को प्रतीत होती नहीं है। और (८) जो माया को 'निरवयव' कहें ? तो उससे जगत् की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि–निरवयव पदार्थ से किसी की भी उत्पत्ति

देखने में आती नहीं है, मृत्तिका आदिक सावयव पदार्थों से घट आदि की उत्पत्ति देखने मे आती है, निरवयव से किसी क उत्पत्ति नहीं होती है, इससे माया को उपादान कारण कहा है। परन्तु-निरवयव भी बनता नहीं। और (६) सावयव निरवयव मिला के कहें ? सो भी नहीं बनेगा। क्योंकि-सावयव निरवयव तो उसका स्वरूप बना ही नहीं तो मिला के कैसे बनेगा ? किन्तु-किसी भी रीति से माया का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है। इससे मिथ्या माया से द्वैत नहीं होता। जैसे-मिथ्या सर्प से रज्जू विषवाली नहीं होती है, तैसे ही मिथ्या माया से चेतन आत्मा मे द्वैत नहीं होता है। माया उसे कहते है कि-है तो नहीं, और है ऐसी भासे।

जैसे 'बाजीगर की बाजी' तैसे ही ब्रह्म आत्मा का वास्तव भेद नहीं है, और भेद की नांई प्रतीति होती है, इसी को माया कहते हैं। और जो ऊपर नौ युक्तियां कही है, उनसे माया का स्वरूप नहीं बनता है तो आत्मा से ब्रह्म जुदा कैसे होगा ? और जो आत्मा से ब्रह्म को जुदा कहो तो-आत्मा से जो भिन्न है सो सब अनात्मा ही कहा जाता है, इससे ब्रह्म भी आत्मा से जुदा होगा तो यह भी अनात्मा ही होगा।

ब्रह्म को 'अनात्मा' किसी वेद शास्त्र ने अंगीकार किया नहीं है। इसी से जाना जाता है कि-आत्मा से ब्रह्म जुदा नहीं है। और जो आत्मा को ब्रह्म से जुदा कहें सो भी बने नहीं। क्योंकि-जिस देश मे आत्मा है उसी देश मे ब्रह्म

नहीं होगा। और ब्रह्म को तो वेद ने सर्वव्यापी कहा है। अतः वेद से विरोध होगा। यह किसी भी आस्तिक जन को अंगीकार नहीं हो सकता, इससे आत्मा भी ब्रह्म से जुदा नहीं है। ब्रह्म और आत्मा दोनों एकही वस्तु के नाम हैं जैसे वृक्ष और तरु दोनों पर्याय हैं। जैसे एक ही आकाश के उपाधि भेद से चार नाम कहे हैं, वैसे ही उपाधि के भेद से चेतन के अनेक नाम कहेजाते हैं। जैसे घट उपाधि से घटाकाश कहते हैं, और जल उपाधि से जलाकाश कहते हैं। बादल की उपाधि से मेघाकाश कहते हैं और सब पदार्थों के अन्दर बाहर होने से महाकाश कहा जाता है। परन्तु आकाश में कोई टुकड़े नहीं हुए हैं, वह तो एक ही है। वैसे ही—कूट कहिये मिथ्या बुद्धि और चिदाभास, उनमें जो निर्विकार चेतन है, वही कूटस्थ कहा जाता है। और बुद्धि व अज्ञान में चेतन के आभास को जीव कहते हैं। शुद्ध सतोगुण वाली माया में चेतन के आभास को ईश्वर कहते हैं। और सर्व पदार्थों के अन्दर बाहर जो व्याप रहा है उसको ब्रह्म कहते हैं। इस रीति से नामों का ही भेद है वस्तु भेद है नहीं, अर्थात्—ब्रह्म से आत्मा जुदा नहीं है। आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही चेतन के नाम हैं। और ब्रह्म आत्मा का जो भेद जानते हैं उनके लिए वेदों में भय का कथन किया है। भेद दृष्टि वाले को पशु भी कहा है। इससे भी जाना जाता है कि—वेद भगवान् का भी अभेद में ही तात्पर्य है। जब इस प्रकार की युक्ति पूर्वक महावाक्यों के अर्थ का चिंतन करेगा, तब ब्रह्म आत्मा का अभेद निश्चय होकर एक परिपूर्ण आत्मा ही भासैगा। और जो अनात्मा पदार्थों का भेद

भासता है, सो भी युक्ति से विचार करने पर नहीं भासेगा। सो युक्ति यह है कि–जितना पृथ्वी का कार्य घट, पट, वृक्ष, पहाड आदि हैं सो सभी पृथ्वीरूप ही हैं, तैसे ही पृथ्वी जल का कार्य होने से जलरूप ही है, इसी प्रकार जल अग्नि का कार्य होने से अग्नि रूप ही है ऐसे ही अग्नि वायु का कार्य होने से वायु रूप ही है, वायु आकाश का कार्य होने से आकाश रूप ही है, और माया विशिष्ट ईश्वर से आकाश की उत्पत्ति कही है सो उसका कार्य होने से माया विशिष्ट रूप ही है। उसमें जो माया भाग है सो तो पूर्व कही रीति से मिथ्या है, और चेतन भाग ब्रह्म आत्मा रूप एक ही है। इस रीति से द्वैत नहीं है। क्योंकि–किसी भी तरफ को चलो आकाश तो एक ही है। तैसे ही विधि मुख करके देखो तो आत्मा से ही सर्व का विधान करना पडेगा। और जो निषेध मुख करके देखो तो आत्मा में ही सबका निषेध कहना होगा। किसी भी रीति से द्वैत नहीं बनता है। तेरी कल्पना में ही द्वैत है, सो कल्पना मात्र ही है जो तुझ अधिष्ठान से जुदी नहीं है। कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती है। ऐसी युक्तियों का बारम्बार विचार करने का नाम 'मनन' है। इस प्रकार मनन करने से सार का ग्रहण होता है। यही उसमें स्वलपना है। और श्रवण ही उसका कारण है। क्योंकि–श्रवण विना मनन नहीं होता है। और साधारण असाधारण भेद से दो प्रकार का उसका स्वरूप है। प्रमेयगत असम्भावना की निवृत्ति उसका फल है। महावाक्यों का अर्थ दृढ़ निश्चय नहीं हो तब तक चिंतन करना चाहिये, और जब दृढ निश्चय होजावे तब

नहीं करना यही उसकी अवधि है।

—(चौवहरत्न गुणसागर)

—जिस प्रकार गाय चरकर आने पर निवृत्ति से बैठकर पागुर करती है उसी से उसकी तृप्ति होती है। उसी प्रकार वेदान्त श्रवण करने के पश्चात्-एकान्त में खूब मनन करने से 'दृढ़ बोध' रूपी तृप्ति होती है।

—(पंचीकरण)



॥ ॐ ॥

आरती नं० ४

[शिव भाव]

ॐ अचलं गुरुदेवं ।
ॐ[1] अचलं गुरुदेवं, गुप्त प्रगट परिपूरण[2] ।
ॐ गुप्त प्रगट परिपूरण, श्री नित्यानन्दं ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ टेक ॥

भावार्थः—हे शिष्य ! प्रणवरूप परमात्मा अचल है। निश्चय करके प्रणवरूप परमात्मा चचलता रहित–विक्षेप रहित है, और वह अन्तर बाहिर परिपूर्ण है। निश्चय करके परिपूर्ण सर्व सिद्धि सम्पन्न, नित्यानन्द स्वरूप है। (वही तेरा असली स्वरूप है।) हे प्रणव प्रिय आत्मा ! तू जय (मुक्त रूप) है, इसलिये स्वस्वरूप का साक्षात्कार करके ज्ञानरूप देव बन मुक्त हो ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! (टेक)

---

१ (अ) प्रणवो धनुःशरोह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्मुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात्—ओंकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम-सबसे बड़ा-कहाता है, वह धनुष है और आत्मा-मिश्रण तीर है तथा-जिस लक्ष्य पर बाण लगाना है, वह 'ब्रह्म' परमात्मा है। अर्थात्-ओ३म् के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लगाना है। क्योंकि-धनुष के द्वारा बाण लक्ष्य पर लगा करता है। परन्तु-बहुत ही सावधानी से इस बाण को लगाना चाहिए, क्योंकि-बेपरवाही से यह बाण नहीं लग सकता। अतः-आलस का त्याग अपने कर्तव्य पर आरूढ़ होकर ओंकार के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा की ओर लगाना-चाहिये। जिस प्रकार धनुष से छूटा हुआ बाण सीधा लक्ष्य की ओर जाता है, बीच में इधर उधर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा का सीधा परमात्मा की ओर लगाना चाहिये इधर उधर नहीं भटकना चाहिये, ताकि यह आत्मा परमात्मा जैसा हो जावे। जैसे परमात्मा सत्, चित्, आनन्द है इसी प्रकार जीव भी आनंद प्राप्त करके सच्चिदानन्द बन जावे। क्योंकि आत्मा सत्, चित्, पूर्व से ही है आनन्द परमात्मा से नैमित्तिक प्राप्त हुआ अतः जीवात्मा परमात्मा जैसा सच्चिदानन्द बन जावेगा। परमात्मा का साक्षात्कार होने से देहादिक बन्धन, सर्व संशय तथा समस्त कर्मसमूह नष्ट हो जाते हैं।

(ख) यह आत्मा स्थूल और सूक्ष्म देह से भिन्न है, सबका द्रष्टा है व्यापक है, सर्व जानवाला है प्रकाशक है तथा-आ

काशवत् है। जैसे-अग्नि दाह्य काष्ठ के मध्य ही रहता है, परन्तु-काष्ठ से भिन्न है, प्रकाशक है और काष्ठ को दाह करता है, जैसे काष्ठ में प्रविष्ट अग्नि काष्ठ के संग मे उत्पत्ति, नाश, अल्पता, महत्त्व और नानात्व गुणों को धारण करता है, तैसे ही यह आत्मा भी इस देह के संग से देह के गुणों को धारण करता है, पर देह से भिन्न और अमर है। यदि कोई कहे कि-जो देह से आत्मा भिन्न है तो देह के गुण क्यों धारण करता है, तो इसके उत्तर मे कहते है कि ईश्वर के आधीन, माया के गुण से पुरुष का यह स्थूलादि शरीर उपजाया हुआ है। इस देह में मै और मेरा यह अभिमान करने से ही जीवात्मा संसार मे गिरता है। इससे उद्धार पाने का उपाय आत्म-विद्या है। इसलिये अपने ही मे स्थित, देह से भिन्न, आत्मा के ज्ञान की इच्छा से, आत्मा मे चित्त मिलाय, क्रम से स्थूल और सूक्ष्म देहादिकों में आत्मबुद्धि को छोडे। यह-ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है सो कहते हैं-आचार्यरूप नीचे की अरणी, शिष्यरूप ऊपर की अरणी तथा-उपदेशरूप मंथन का काष्ठ, इनसे ब्रह्म-विद्यारूप, परमसुखदायक, अग्नि उत्पन्न होता है। जिस समय बुद्धिमान् गुरु से चतुर बुद्धिवाला शिष्य यह विद्या रूपी-अग्नि पाता है, तब यह विद्या रूपी अग्नि गुणों के कार्यरूप संसार की निवृत्ति करके, जिनसे निर्मित होकर यह जगत् जीव के संसार का निमित्त रूप होता है, उन गुणों को भस्म कर काष्ठ रहित अग्नि के समान आप भी शान्त हो जाता है। इसी प्रकार कार्य कारण और विद्या की एकता होने से जीव परमानन्द रूप होता है। —(श्री भा० ११।१०।८-१३)

श्री भगवान् ने अर्जुन के प्रति श्री गीता जी में योग का सूचन किया है उसका पृथक्करण यह योग-गीता है (योगश्चित्त वृत्ति निरोधः) 'चित्त वृत्तिका निरोध' यही योग है, चित्त वृत्ति का निरोध प्राण के निरोध से होता है, कारण कि प्राण का व चित्त का बहुत निकट का सम्बन्ध है—चित्त अथवा मन सवार रूप है और प्राण उसका वाहन रूप घोड़ा है, इसस प्राण द्वारा मन बाहर आता है और प्राण का निरोध होने से मन रुकता है, और इसके लिये प्राणायाम आदि क्रियायें सूचन की हैं। एकाग्र दृष्टि रखने से भी प्राण का निरोध तथा मन का निरोध होता है, वैसे ही ध्वनि सुनने में प्राण का निरोध होता है और इसलिये कितनेक सगुण ब्रह्म की मूर्ति रूप मानसिक उपासना करते हैं कि जिसमे बाहिर की चक्षु दृष्टि को रोक कर अन्दर की मन रूप दृष्टि से मन से मूर्ति की कल्पना करने में आती है और उस सेवा पूज्य, भोग आदि सामग्री मन ही से कल्पी जाती है, वैसे ही उसके अनुग्रह भी मांगने में आता है इस प्रकार की मानसिक पूजा योग का एक अंग है—स्वरूप है—इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म की मानसिक उपासना भी योग का स्वरूप है।

यह उपासना बहुत काल के अभ्यास से दृढ़ होती है, यानी यह धारणा रूप हमेशा के सेवन से ध्यान रूप फल अथवा योग रूप हो फलती है ज्ञान होने के पूर्व जो इसका सेवन किया हो तो मनकी विषयों के तरफ से रोकने में सहायकारी होता है इससे काल पाकर मनको निर्वासिक कर सामान्य

निर्विकल्प रूप स्थिति को पहुंचाता है इसलिये उभय कल्याण के हेतु से श्री भगवान् ने अर्जुन के प्रति योग गीता का सूचन किया है।

अर्जुन पूछते हैं कि—हे श्रीकृष्ण भगवान् ! ॐकार का महात्म्य तथा रूप तथा स्थान मुझे कृपा करके कहो।

श्री भगवान् कहते हैं कि:—

ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मा मनुस्मरम्।
य. प्रयाति त्यजन देहम् स याति परमांगतिम्॥

—ब्रह्मा, विष्णु और महेश मेरे ओम्कार स्वरूप के रक्षण करने वाले हैं, अग्नि, वायू और सूर्य यह तीन उसके देवता हैं अग्नि उसका स्थान है, वहां तीनों वेद है ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद। अब उसकी उत्पत्ति और वर्ण कहता हूं वह सुनो:—

ॐकार से उसकी उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद का नीलवर्ण है, रजोगुण से उसकी उत्पति हुई है। सामवेद का श्वेत वर्ण है,-तमोगुण से उत्पन्न हुई हैं ॐकार का अक्षर परम नाम और शांति रूप है, मकार उसका कीलक है। ॐकार अक्षर ब्रह्मरूप है, हृदय कमल विषे रहता है।

पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, ब्रह्मा, यह चार अकार अक्षर के साथ हैं, यजुर्वेद और सनातन विष्णु यह दो उकार अक्षर के साथ हैं तथा आकाश, सूर्य, सामवेद और महेश्वर यह चार मकार अक्षर के साथ हैं।

श्री भगवान् ने अर्जुन के प्रति श्री गीता जी में योग का सूचन किया है उसका पृथक्करण यह योग-गीता है (योगाश्चेत वृत्ति निरोधः) 'चित्त वृत्तिका निरोध' यही योग है, चित्त वृत्ति का निरोध प्राण के निरोध से होता है, कारण कि प्राण का व चित्त का बहुत निकट का सम्बन्ध है-चित्त अथवा मन सवार रूप है और प्राण उसका वाहन रूप घोड़ा है, इसस प्राण द्वारा मन बाहर जाता है और प्राण का निरोध होने से मन रुकता है, और उसके लिये प्राणायाम आदि क्रियायें सूचन की है। एकाग्र दृष्टि रखने से भी प्राण का निरोध तथा मन का निरोध होता है, वैसे ही ध्वनि सुनने में प्राण का निरोध होता है और इसलिये कितनेक सगुण ब्रह्म की मूर्ति रूप मानसिक उपासना करते हैं कि जिसमे बाहिर की चक्षु दृष्टि को रोक कर अन्दर को मन रूप दृष्टि से मन से मूर्ति की कल्पना करने में आती है और उस सेवा, पूज्य भोग आदि सामग्री मन ही से कल्पी जाती है, वैसे ही उसके अनुग्रह भी मांगने में आता है इस प्रकार की मानसिक पूजा योग का एक अंग है-स्वरूप है-इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म की मानसिक उपासना भी योग का स्वरूप है।

यह उपासना बहुत काल के अभ्यास से दृढ़ होती है, यानी यह धारणा रूप हमेशा के सेवन से ध्यान रूप फल अथवा योग रूप हो फलती है ज्ञान होने के पूर्व जो इसका सेवन किया हो तो मनको विषयों के तरफ से रोकने में सहायकारी होता है इससे काल पाकर मनको निर्वासिक कर सामान्य

की पूजा करे अथवा यजन करे और तैल की धारा माफक सूक्ष्म मंत्र लवी धारावत् ॐकार के उच्चारण रूप करना। घंटा के माफक वहां शब्द होना है ऐसे अविनाशी ओंकार को जो जानता है वही वेदवेत्ता पुरुष है। अब वायू के आराधन की विधि कहताहू.—

पूर्वक (पूरक) वायू विपे ब्रह्मा का ध्यान करे, वह ब्रह्मा कमलासन ऊपर बैठे हुये हैं, रक्त वर्ण चतुर्मुख ब्रह्मन् हृदय ध्यान करता है। और कुंभक विपे विष्णु का ध्यान करे कि जो श्याम वर्ण चतुर्भुज ब्रह्म नाम के ध्यान कर्ता है और रेचक विपे महेश्वर का ध्यान करे कैसे कि महेश्वर माया से पर हैं। अक्षर और मात्रा सर्व का विन्दु आश्रय है। ऐसे अकार उकार मकार और अर्ध मात्रा रूप बिंदु मिल कर ॐ कार रूप नाद मे बिंदु को बाँधे उसे नाद से इस प्रकार बाँधे कि ॐकार की ध्वनि का नाद प्राण को समान करे। नाड़ी से वायु को चलावे, जिह्वा के अग्र से वायू को रोके जो वायू स्थिर होवे तो योगी योग की युक्ति को पावे नासिका के बीच मे वायू का संचार करे और आगे निरालंब पद है उसे प्राप्त होवे, और नीचे का वायू रोका करे और ज्योति सहित ब्रह्मरूप को मिलने के प्रवाह को प्राप्त करे। कैसे हैं हरि भ्रम से पार, वहां अनहद शब्द होता है उस शब्द में ध्वनि होती है उस ध्वनि में ज्योति है ज्योति में मन रहता है वहां मन लवलीन (लय) होता है। वह विष्णु का परम पद है उस ध्यान को ब्रह्म कहते हैं। उस ब्रह्म को पाने से परमानन्द की

अब तीनों अक्षरों की उत्पत्ति और भेद कहता हूँ। अकार अक्षर का पीला वर्ण है रजोगुण से उत्पन्न हुआ है उकार अक्षर शुक्ल वर्ण है सत्वगुण से उत्पन्न हुआ है मकार अक्षर कृष्णवर्ण है तमोगुण से उत्पन्न हुआ है। हे अर्जुन अकार, उकार और मकार यह तीनों अक्षर मिल कर एक ओंकार होता है, ॐकार कैसा है कि मानो ज्योति स्वरूप है और तीन उसके स्थान हैं और तीन उसकी मात्रा हैं और तीन उसके स्वरूप हैं, तीन उसके देवता हैं ऐसा ओंकार ब्रह्मरूप है। ॐकार से वेद उत्पन्न हुए हैं ॐकार से देवता उत्पन्न हुए हैं और ॐकार से स्थावर जंगम, त्रिलोकी उत्पन्न हुई है ॐकार रूप ब्रह्म हृदय कमल विषे निवास करता है, उसके अभ्यास में अच्युत भगवान् रहते हैं उन भगवान् की ब्रह्मरूप यज्ञ से (ज्ञान से) पूजा होती है। अब ब्रह्म यज्ञ की सामग्री कहता हूँ वह सुनोः—

इस यज्ञ में एकतारूप अग्नि मन की अखंड स्वरूपाकार वृत्ति और सन्ताप रूप समिध इन्द्रियों रूप अर्घ्य आदि इस यज्ञ की सामग्री है। देवता रूप परमात्मा जगत के कर्ता अग्नि के लिये गए हुए हैं। और उसके नीचे इंधन रूप लकड़ी आत्मा है और ऊपर की लकड़ी यह ॐकार का ध्यान है, इस ध्यान का मथो तो इस यह के लिये ही परमात्मा रूप वह अग्नि प्रगट होती है, जो वह अग्नि थोड़ी होवे तो पाप को भस्म करती है और जो विस्तार होती है तो मुक्ति रूप निर्वाण पद को पहुँचाती है। तीन प्रकार का ॐकार का ध्यान है। उस ध्यान से ब्रह्म

की पूजा करे अथवा यजन करे और तैल की धारा माफक सूक्ष्म मंत्र लवी धारावत् ॐकार के उच्चारण रूप करना। घंटा के माफक वहां शब्द होता है ऐसे अविनाशी ओंकार को जो जानता है वही वेदवेत्ता पुरुष है। अब वायू के आराधन की विधि कहताहूं.—

पूर्वक (पूरक) वायू विषे ब्रह्मा का ध्यान करे, वह ब्रह्मा कमलासन ऊपर बैठे हुये हैं, रक्त वर्ण चतुर्मुख ब्रह्मन् हृदय ध्यान करता है। और कुंभक विषे विष्णु का ध्यान करे कि जो श्याम वर्ण चतुर्भुज ब्रह्म नाम के ध्यान कर्ता है और रेचक विषे महेश्वर का ध्यान करे कैसे कि महेश्वर माया से पर है। अक्षर और मात्रा सर्व का विन्दु आश्रय है। ऐसे अकार उकार मकार और अर्ध मात्रा रूप विंदु मिल कर ॐ कार रूप नाद मे विंदु को बाँधे उसे नाद से इस प्रकार बाँधे कि ॐकार की ध्वनि का नाद प्राण को समान करे। नाड़ी से वायु को चलावे, जिह्वा के अग्र से वायू को रोके जो वायू स्थिर होवे तो योगी योग की युक्ति को पावे नासिका के बीच में वायू का सञ्चार करे और आगे निरालब पद है उस प्राप्त होवे, और नीचे का वायू रोका करे और ज्योति सहित ब्रह्मरूप को मिलने के प्रवाह को प्राप्त करे। कैसे हे हरि भ्रम से पार, वहां अनहद शब्द होता है उस शब्द मे ध्वनि होती है उस ध्वनि में ज्योति है ज्योति मे मन रहना है वहां मन लवलीन (लय) होता है। वह विष्णु का परम पद है उस ध्यान को ब्रह्म कहते हैं। उस ब्रह्म को पान से परमानन्द की

प्राप्ति और स्थिति होती है। पूर्वक कुंभक व रेचक के समान (समय) हृदय विषे स्थित जो परमहंस परमात्मा भगवान् हैं उन्हें नमस्कार करना। परमात्मा कैसे है कि अंत और अनित्य से रहित निर्दोष हैं—उस ईश्वर को जानने से मुक्ति मिलती है। जो ऐसे भगवान् को (शून्यरूप) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सत्यरूप आत्मा को जानता है वह पाप और पुण्य से निर्लेप रहता है। अब शून्य की महिमा सुनो—

शून्य से समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है। उस के ध्यान को ब्रह्म कहते हैं वह नाभि कमल विषे कमल है वहां दश अंगुल कमल को नाल है वह नाल बहुत कोमल है उसका मूल ऊर्ध्व है।

ऊर्ध्वं मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

उस कमल का वर्ण केले के फूल सरीखा है और कमल की कान्ति प्रकाश रूप है उस कमल के मोटे ठाए (पत्ते) हैं और अति सुन्दर पुरुष पुरुषोत्तम उस कमल के विषे बसते हैं वहां आनन्दमयी स्थान है वह विष्णु का परम पद है।

अर्जुन पूछते हैं कि हे भगवन्! हृदय विषे जो ऊर्ध्व मूल कमल कहा है वह जानना भी कठिन है और प्राप्त करना भी कठिन है इसलिये उस कमल के प्राप्त करने की युक्ति मुझे बतलाओ।

श्री भगवान् कहते हैः—हे अर्जुन ! ऊर्ध्व मूल जो कमल कहा उसे ॐकार की आराधना करके सीधा करो, उस कमल के गर्भ में जाकर कमल को प्रकाश करे तो व्याधि का नाश होवे और सारे शरीर मे परम सुख उपजे, उस कमल में डोड़ी है उसके पहिले पत्र हैं केशर सरीखा रंग है उस डोढ़ी विषे पूर्ण पुरुष विष्णु निवास करते हैं, अंगुष्ठ मात्र मुनि लोगों ने उसका वर्णन किया है उस कमल के आठ पत्र है उन आठों पत्रों पर इन्द्रादिक देवता वास करते है वे देवता भी ज्योति स्वरूप हैं। उस कमल की डोडी मे सूर्य बसते है, सूर्य के ऊपर चन्द्र है, चन्द्र के ऊपर अग्नि है, अग्नि मे ज्योति है, ज्योति मे सिंहासन है, कैसा है सिंहसनादि नाना प्रकार के रत्नों से जडा हुआ सूर्य सरीखा प्रकाशरूप उस सिंहासन पर देवताओं के श्री देवता देवयार्त नारायण बसते हैं।

कैसे हैं नारायण ? निर्दोष सुख निधान हैं, उन नारायण का स्वरूप और वर्ण कहता हूँ—वे अति सुन्दर रूप है, अष्ट भुजा, प्रफुल्लित कमल की भांति अष्ट हस्त, उन अष्ट भुजाओं में अष्ट आयुध हैं, कौनसे आयुध कि ? शंख, चक्र, गदा, मूशल, खड्ग, धनुष बाण अंकुश ऐसे हरि हैं, सुवर्ण के कमल सरीखे परम शुद्ध हैं, शुद्ध सफेद सरीखे परम शुद्ध निर्मल हैं, कोटि चन्द्रमा की कान्ति को धारण करे हुए हैं, कोटि सूर्य सरीखा प्रकाश और कोटि चन्द्रमा सरीखी शीतलता है भुजा विषे बाजू है, चरणों विषे नूपुर हैं, कंठ विषे चन्द्रघटा और कटि विषे तडादि है और कानों में मुकुन्द कुण्डल है त्राग्युग

प्राप्ति और स्थिति होती है। पूर्वक कुंभक व रेचक के समय (समय) हृदय विषे स्थित जो परमहंस परमात्मा भगवान् है उन्हें नमस्कार करना। परमात्मा कैसे है कि अंत और अनित्य से रहित निर्लेप हैं-उस ईश्वर को मानने से मुक्ति मिलती है। जो ऐसे भगवान् को (शून्यरूप) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सत्यरूप आत्मा को जानता है वह पाप और पुण्य से निर्लेप रहता है। अब शून्य की महिमा सुनाः—

शून्य से समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है। उस के ध्यान को ब्रह्म कहते हैं वह नाभि कमल विषे कमल है वहाँ दश अंगुल कमल को नाल है वह नाल बहुत कोमल है उसका मूल ऊर्ध्व है।

> ऊर्ध्वं मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
> छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

उस कमल का वर्ण केले के फूल सरीखा है और कमल की कांति प्रकाश रूप है उस कमल के मोटे दाण (पत्ते) हैं और अति सुन्दर पुरुष पुरुषोत्तम उस कमल के विषे बसते हैं वहाँ आनन्दमयी स्थान है यह विष्णु का परम पद है।

अर्जुन पूछते है कि हे भगवन्! हृदय विषे जो ऊर्ध्व मूल कमल कहा है वह जानना भी कठिन है और प्राप्त करना भी कठिन है इसलिये उस कमल के प्राप्त करने की युक्ति मुझे बतलाओ।

स (अ) प्रणव माहात्म्यः—

ॐ यह अक्षर परमात्मा का निर्देशकारी विज्ञान-घन आप्त चिन्तामणि है। ॐ अक्षर पृथक् पृथक् बहने वाली शब्द और अर्थ की धारा का गंगा यमुना समान संगम करके, ज्ञान सरस्वती आविर्भूत कर, अहंभाव में रहने वाली विचार भिन्नता को त्रिवेणी स्नान कराके उस स्पन्दन स्फुरण वा सचित को पवित्र कर देता है। ॐ के चिंतन क्रम मे अर्थात्-जप में पूर्ण लक्ष्य देने से वैखरी में वाचक शब्द और उसके अर्थ का संयोग कर मध्यमा में विचार व विचारणीय अर्थ का एकत्व सिद्ध करके साधक ऊर्ध्वगति प्राप्त कर लेता है। इन दो भूमिकाओं का उल्लघन करने से मन और प्राण का जय होता है, क्यों कि ऊपर वर्णन किये अनुसार मध्यमा में विज्ञान स्पंदन के साथ बुद्धि वृत्ति का सयोग होता है और वैखरी म उसके साथ प्राण वृत्ति का सयोग होता है। जब मध्यमा और वैखरी का शमन होजाता है तो मन, बुद्धि और प्राण का भी शमन होजाता है। चन्द्र सूर्य और मन प्राण के शमन से ईडा और पिंगला नाड़ी विरुद्ध होती है और उर्ध्वमार्ग में प्रयाण कराने वाली विषुवत्-सुषुम्णा अर्थात् मध्य नाड़ी खुल जाती है। पश्यन्ती वाणी मे होन वाले जप से अर्थात् ध्यान जप से ऊर्ध्वगति मे जाने वाला उपासक अंत मे महाव्योम अर्थात्-मूर्ध्नाकाश मे प्रवेश करता है जहा नाद शक्ति का और ज्ञान शक्ति का अथवा शब्द का और अर्थ का परम एकी भाव प्रकट होता ह इस अवस्था म आपातत. साधक के विचार-स्फुरण में स्वय सिद्धि विज्ञानघनत्व करतलामलकवत् होके

वर्ण धारण किये हुए हैं, चार आकार धारण किये हुए हैं सत्ययुग शुक्ल, त्रेता रक्त, द्वापर पीत, कलियुग नील, एक चार वर्ण हैं, सूक्ष्म रूप हैं निराकार हैं, अप्रमेय हैं मर्यादा से रहित अपार हैं अति निर्मल हैं ज्योति स्वरूप हैं ऐसे पुरुषोत्तम ध्यान विधान के कारण रूप हैं किसी भी वस्तु की साधना की अपेक्षा से रहित हैं नाद और बिंदु की दशा से अतीत हैं जो ऐसे पुरुषोत्तम को जाने उसे ही यह पता समझना।

अर्जुन पूछते हैं कि अव्यक्तस्वरूप वस्तु विषे किस प्रकार साधना उत्पन्न हो सके ? और दृश्य रूप वस्तु साकारवाली है सो प्रकार जो प्रत्यक्ष वर्ण चिह्न से रहित है उसका योगी पुरुष किस प्रकार ध्यान करते हैं ? श्री भगवान् कहते हैं कि वे ब्रह्म को सर्व में निरंतर परिपूर्ण जानते हैं और अपने आप विषे भी आदि अन्त और मध्य विषे उसे परिपूर्ण रहा हुआ जानता है और वह ज्ञान रूप समझ यही उनकी समाधि है।

हृदय विषे कमल की नाड़ी विषे शुद्ध स्वरूप भगवान् हैं ॐकार मंत्र से उस भगवान् का नाम उच्चारण करे यह मुक्ति का उपाय इसलिये हे अर्जुन ! उठते बैठते, सोते, चलते सर्व काल विषे मेरा नाम स्मरण करे वह योग मुक्त होता है इसमें संशय नहीं।

मन्मना भवमद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायणः ॥

स (अ) प्रणव माहात्म्यः—

ॐ यह अक्षर परमात्मा का निर्देशकारी विज्ञान-घन आप्त चिन्तामणि है। ॐ अक्षर पृथक् पृथक् बहने वाली शब्द और अर्थ की धारा का गंगा यमुना समान संगम करके, ज्ञान सरस्वती आविर्भूत कर, अहंभाव मे रहने वाली विचार भिन्नता को त्रिवेणी स्नान कराके उस स्पन्दन स्फुरण वा सवित को पवित्र कर देता है। ॐ के चिंतन क्रम मे अर्थात्–जप मे पूर्ण लक्ष्य देने से वैखरी मे वाचक शब्द और उसके अर्थ का संयोग कर मध्यमा में विचार व विचारणीय अर्थ का एकत्व सिद्ध करके साधक ऊर्ध्वगति प्राप्त कर लेता है। इन दो भूमिकाओं का उल्लघन करने से मन और प्राण का जय होता है, क्यों कि ऊपर वरण किये अनुसार मध्यमा में विज्ञान स्पंदन के साथ बुद्धि वृत्ति का सयोग होता है और वैखरी म उसके साथ प्राण वृत्ति का सयोग होता है। जब मध्यमा और वैखरी का शमन होजाता है तो मन, बुद्धि और प्राण का भी शमन होजाता है। चन्द्र सूर्य और मन प्राण के शमन से इडा और पिंगला नाड़ी विरुद्ध होती है और उर्ध्वमार्ग में प्रयाण कराने वाली विषुवत्-सुषुम्णा अर्थात् मध्य नाड़ी खुल जाती हे। पश्यन्ती वाणी मे हाने वाले जप से अर्थात् ध्यान जप से ऊर्ध्वगति मे जाने वाला उपासक अंत में महाव्योम अर्थात्–मूर्ध्नाकाश में प्रवेश करता है जहा नाद शक्ति का और ज्ञान शक्ति का अथवा शब्द का और अर्थ का परम एकी भाव प्रकट होता ह इस अवस्था म आपातत. साधक के विचार–स्फुरण मे स्वय सिद्धि विज्ञानघनत्व करतलामलकवत् होके

भ्यान्तर जगत् प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् वह अपने को उत्पादक व्यापक, विभावन, निरंजन, सर्वगामी स्वात्मतत्त्व रूप, विचार शक्ति-पूर्ण अनुभव करता है। —(वि द)

'तस्य वाचकः प्रणवः" उसका वाचक प्रणव होता है।

दोहाः—प्रणव कहत ॐकार को, है ईश्वर को नाम।
सुमिरण से सब दुख कटत मिलत सहत विश्राम॥

उस ईश्वर का वाचक प्रणव (ॐकार) है अर्थात्- ॐ यह ईश्वर का अति उत्तम नाम है केवल इस एक नाम से ईश्वर के अनेक नाम गुणों का ग्रहण होता है। (अ उ म्) ये तीन अक्षर मिल कर ॐ होता है। अकार विराट अग्नि विष्णु आदि अर्थ का वाचक है, उकार से हिरण्यगर्भ शंकर तैजस नामों का ग्रहण होता है। अब उन सबका अर्थ भाषा में वर्णन किया जाता है—ईश्वर विराट् है अर्थात्-विविध प्रकार के जगत् में शोभित प्रकाशित है। अग्नि है अर्थात्-पंचयज्ञ आदि बातों से सत्कार किया गया व पूजित है। विष्णु है अर्थात् सम्पूर्ण आकाश से पृथ्वी पर्यंत मूर्तों में व्यापक है। हिरण्य-गर्भ अर्थात्-सम्पूर्ण हिरण्य नाम तेजवान पदार्थ सूर्य आदि जिस के गर्भ में अर्थात्-अंतगत प्राप्त है ऐसा हिरण्यगर्भ ईश्वर है। शंकर है अर्थात् कल्याण-आनंद का करने वाला है। तैजस है अर्थात् तेज स्वरूप प्रकाश रूप है। ईश्वर है अर्थात्-संपूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त है। प्राज्ञ है अर्थात्-ईश्वर अति उत्कृष्ट ज्ञान रूप है प्रकृति है अर्थात्-प्रकर्ष करके सब जगत् का

उत्पन्न करने वाला कारण है। यह सब स्तुति वाचक नाम और अर्थ का ग्रहण ॐ शब्द मात्र से होता है यह संक्षेप अर्थ है, इस से अधिक प्रणव का अर्थ है। इससे अनेक ईश्वर के नाम व स्तुति वाचक प्रणव ईश्वर का सब नामों में से उत्तम नाम है।

"तज्जपस्तदर्थ भावनम्"

उसका जप उसके अर्थ का भावन है।

दोहाः—ओंकार जप अर्थयुत, अर्थ अनुरूप स्वरूप।
ईश्वर की कर भावना, भारत रूप अनूप॥

उसका अर्थात् प्रणव का जप व उसका अर्थ जो ईश्वर है, उसका भावन है अर्थात् प्रणव का जप करते हुए ईश्वर की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है व एकाग्र व जप अभ्यास मे प्राप्त चित्त मे परमात्मा प्रकाशित होता है।

ततः प्रत्यक्चेतानाधि गमोप्यन्तराया भावश्च ॥२६॥ तिस से भिन्न चेतना साक्षात्कार होता है व विघ्नों का भी अभाव होता है।

दोहा.—ईश्वर के प्रणिधान ते, होत आतमा भान।
आन्तरीय सब विघ्न को, तब अभाव पहिचान॥

तिससे अर्थात्–प्रणव के जप व ईश्वर प्रणिधान से जैसे ईश्वर असंग ज्ञानरूप क्लेश आदि शून्य है इसी तरह जीव

भान्तर जगत् सम्पन्न हो जाता है अर्थात् वह भवन का उत्पादक व्यापक, विज्ञापन, निरंजन, सर्वगामी स्वप्नमतत्त्व रूप, विचार-शक्ति पूर्ण अनुभव करता है। —(वि प)

"तस्य वाचकः प्रणवः" उसका वाचक प्रणव होता है।

दोहाः—प्रणव कहत ॐकार को, है ईश्वर को नाम।
सुमिरण ते सब दुख कटत, मिलत सहज विश्राम॥

उस ईश्वर का वाचक प्रणव (ॐकार) है अर्थात्- ॐ यह ईश्वर का अति उत्तम नाम है केवल इस एक नाम से ईश्वर के अनेक नाम गुणों का ग्रहण होता है। (अ उ म्) ये तीन अक्षर मिल कर ॐ होता है। अकार विराट अग्नि विष्णु आदि अर्थ का वाचक है उकार से हिरण्यगर्भ शंकर तैजस नामों का ग्रहण होता है। अब उन सबका अर्थ भाषा में वर्णन किया जाता है-ईश्वर विराट् है अर्थात्-विविध प्रकार के जगत् में शोभित प्रकाशित है। अग्नि है अर्थात्-पश्चात्य ज्ञान नामों से सत्कार किया गया व पूजित है। विष्णु है अर्थात् सम्पूर्ण आकाश से पृथ्वी पर्यंत भूतों में व्यापक है। हिरण्य गर्भ अर्थात्-सम्पूर्ण हिरण्य नाम तेजवान पदार्थ सूर्य आदि जिस के गर्भ में अर्थात्-अंतगत प्राप्त है ऐसा हिरण्यगर्भ ईश्वर है। शंकर है अर्थात् कल्याण-आनंद का करने वाला है। तैजस है अर्थात् तेज स्वरूप प्रकाश रूप है। ईश्वर है अर्थात्-संपूर्ण ऐश्वर्य का प्राप्त है। प्राज्ञ है अर्थात्-ईश्वर अति उत्कृष्ट ज्ञान रूप है प्रकृति है अर्थात्-प्रकृष्ट करके सब जगत् का

मे स्थित है पूरक कालमे नाभि स्थित श्री विष्णु का ध्यान करे कुंभक काल में हृदय में स्थित श्री ब्रह्मा का ध्यान करे और रेचक काल में ललाट मे स्थित पाप के नाश करनेवाले श्रीशकर का ध्यान करे, आठ पंखड़ियों वाला तथा केल के पुष्प सरीखा अधोमुख कमल ले यह हृत्कमल कहलाता है इसमें सर्व देव हैं, नाभि-हृदय और मूर्धा यह तीन स्थान, वहां वृत्ति लेजाने के तीन मार्ग, विष्णु ब्रह्मा और शकर ये तीन ईश्वर, अकार, उकार और मकार यह तीन अक्षर वा मात्रा और अर्ध मात्रा इसे जो जानता है वह वेद वेत्ता है, तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न तथा बड़े घटे के नाद सरीखा, वाणी से नहीं उत्पन्न हुआ, और प्रणव के पीछे प्रतीत होने वाले नाद की जो उपासना करता है वह वेद वेत्ता है, प्रणव धनुष, जीव बाण और ब्रह्म लक्ष्य कहलाता है-प्रमाद का त्याग कर, बाण की तरह तन्मय होकर वह लक्ष्य बींधने के योग्य है लिंग देह को नीचे की अरणी करके तथा प्रणव को ऊपर की अरणी करके ध्यान रूप मथन के अभ्यास से सूक्ष्म दृष्टि द्वारा परमात्मा को देखे।

जैसे कमल की नाल से मनुष्य जल को मुख मे खींचता है वैसे ही साधक वायु को भ्रू मध्य तरफ चढ़ाने अर्धमात्रा को दोरडी करके कूपरूप आधारादि कमल में से सुषुम्णा के मार्ग से मन वायु तथा अग्नि को भ्रू मध्य मे लावे, दोनों भ्रू के मध्य नाक के ऊपर के भागमे जो ललाट का एक देश है वह ब्रह्म रूप अमृत का स्थान है, धारणा द्वारा उस ब्रह्म का अनुभव करने

चेतन रूप क्लेश रहित है सवज्ञ ज्ञान से ईश्वर के ध्यान से ईश्वर के अनुग्रह द्वारा जीव स्वरूप चेतन सब क्लेशों से भिन्न साक्षात्कार होता है व योग के विघ्नों का भी अभाव (नाश) होता है। —(योग दर्शन १।२३-२६)

(ब) एकान्त में पद्मासन से बैठ, शरीर को सम रख, नासाग्र पर दृष्टि रख ॐकार जपे, स्थूल सूक्ष्म तथा कारण यह तीन शरीर हैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरिया ये चार अवस्थायें हैं जाग्रतावस्था का अभिमानी विश्वस्थूल भाग का भोक्ता है, स्वप्नावस्था का अभिमानी तैजस सूक्ष्म का भोक्ता है सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञ आनन्द का भोक्ता है तुरिया में अनुभव से आनेवाला आत्मा सर्व साक्षी है-विराट और विश्व अकार, हिरण्यगर्भ और तैजस उकार, और अव्याकृत और प्राज्ञ मकार है पवित्र वा अपवित्र जो सर्वदा प्रणव जपता है वह पाप से लिपायमान नहीं होता।

—(योग चूड़ामणि उपनिषद्)

(स) जो बहुत बड़ा पाप होवे तो भी यह ध्यान योग द्वारा नाश पाता है शब्द का कारण शक्ति है इस शक्ति से परे सच्चिदानंद रूप ब्रह्म है इसको जो जानता है वह संशय रहित होता है शब्द ब्रह्म अति सूक्ष्म है पुष्प में जैसे गंध है दूध में जैसे घी है और तिल में जैसे तेल है उसी प्रकार शरीरादि में ब्रह्म है जैसे हार में पारे रहते हैं वैसे ही आत्मा में सर्व भूत-मात्र हैं स्थिर बुद्धि वाला अतः अविवेक रहित ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म

मे स्थित है पूरक कालमे नाभि स्थित श्री विष्णु का ध्यान करे कुंभक काल मे हृदय में स्थित श्री ब्रह्मा का ध्यान करे और रेचक काल में ललाट मे स्थित पाप के नाश करनेवाले श्रीशकर का ध्यान करे, आठ पखड़ियों वाला तथा केल के पुष्प सरीखा अधोमुख कमल ले यह हृत्कमल कहलाता है इसमे सर्व देव हैं, नाभि-हृदय और मूर्धा यह तीन स्थान, वहां वृत्ति लेजाने के तीन मार्ग, विष्णु ब्रह्मा और शकर ये तीन ईश्वर, अकार, उकार और मकार यह तीन अक्षर वा मात्रा और अर्ध मात्रा इसे जो जानता है वह वेद वेत्ता है, तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न तथा वडे घंटे के नाद सरीखा, वाणी से नहीं उत्पन्न हुआ, और प्रणव के पीछे प्रतीत होने वाले नाद की जो उपासना करता है वह वेद वेत्ता है, प्रणव धनुष, जीव बाण और ब्रह्म लक्ष्य कहलाता है-प्रमाद का त्याग कर, बाण की तरह तन्मय होकर वह लक्ष्य बींधने के योग्य है लिंग देह को नीचे की अरणी करके तथा प्रणव को ऊपर की अरणी करके ध्यान रूप मथन के अभ्यास से सूक्ष्म दृष्टि द्वारा परमात्मा को देखे ।

जैसे कमल की नाल से मनुष्य जल को मुख मे खींचता है वैसे ही साधक वायु को भ्रू मध्य तरफ चढ़ाने अर्धमात्रा को डोरडी करके कूपरूप आधारादि कमल में से सुषुम्णा के मार्ग से मन वायु तथा अग्नि को भ्रू मध्य में लावे, दोनों भ्रू के मध्य नाक के ऊपर के भागमें जो ललाट का एक देश है वह ब्रह्म रूप अमृत का स्थान है, धारणा द्वारा उस ब्रह्म का अनुभव करने

ॐ मुनि वसिष्ठ[1] सनकादिक[2], याज्ञवल्क्य[3] आदि ।
ॐ याज्ञवल्क्य आदि । श्रेय[4] पद लख निज गुरु,
ॐ श्रेय पद लख निज गुरु, शिरोमणि हुए ज्ञानी ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ १ ॥

से पुरुष अविनाशी होता है ।

—(ध्यान बिन्दुपनिषद्)

२—"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

भावार्थ—ॐ ब्रह्म पूर्ण (पूर्ण = परिपूर्ण सम्पूर्ण समस्त जैसा चाहिये वैसा जिसमें जरा भी कमी नहीं है ऐसा शक्तिमान्, ओ३म्' ठीक निःसन्देह सत्य सत्य (अवति इति ओ३म् रक्षकः सबका रक्षा करने वाला) है और उस पूर्ण ब्रह्म से प्रकट हुआ यह जगत् भी पूर्ण है क्योंकि—पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण ब्रह्म में से यह इतना भारी जगत् प्रकट हुआ है, तो भी इससे उस ब्रह्म में किसी भी प्रकार की कोई भी कमी नहीं हुई है । क्योंकि—वह पूर्ण है पूर्ण में से पूर्ण निकाला जाय तो मूल पूर्ण में कोई भी कमी नहीं आती ।

—(ईशोपनिषद् का शांति मंत्र)

३—वशिष्ठ जी महा समर्थ ज्ञानी हुए हैं । गृहस्थ होते हुए श्रुतिमतानुसार निज कर्तव्यों का पालन करते हुए हजारों वर्ष

भावार्थः—हे शिष्य ! इस अचल पद को प्राप्त करना हो तो जिस प्रकार (गृहस्थी) वशिष्ठ जी, (ब्रह्मचारी) सनकादिक [सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार] तथा-(गृहस्थी-त्यागी) याज्ञवल्क्य और इनसे आदि लेके मुनिगण श्रेय पदका अनुसरण कर-अपने गूढ़-(गुप्त) स्वरूप का साक्षात्कार करके-ज्ञानियों में शिरोमणि हुये हैं, वैसा ही तू भी आचरण कर, (अपने स्व-स्वरूप को पहचान।)

हे प्रणवप्रिय ! आत्मज्ञानरूप देव बन ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! ॥१॥

कठिन तप करके ब्रह्मर्षि हुए थे। इनकी 'शान्ति' जग-प्रसिद्ध है। मुनि विश्वामित्र ने ७० हजार वर्ष लोह भक्षण कर कठिन तपस्या की। इनकी तपस्या को देखकर इन्द्र का इन्द्रासन हिलने लगा। इनमें तप के प्रभाव से नूतन ब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने तक की शक्ति आगई। सब कोई सिवाय वशिष्ठ जी के इन्हें ब्रह्मर्षि कहने लगे। एक मात्र वशिष्ठ जी ही ऐसे थे जो इन्हें 'राजर्षि' कहा करते थे। यह बात विश्वामित्र को बहुत बुरी लगती। इससे उनके साथ ये वैर रखने लगे। यहां तक कि इन्होंने वशिष्ठ जी के १०० पुत्रों को मार डाला। और भी कई प्रकार के दुःख पहुँचाने के कार्य किये। परन्तु वशिष्ठ जी न तो अपनी शान्ति से डिगे ही और न विश्वामित्र को 'ब्रह्मर्षि' ही कहा। इससे एक दिन विश्वामित्र-'यह वशिष्ठ ही मुझे 'ब्रह्मर्षि' नहीं कहता, यह एक प्रकार का कंटक है, इसे साफ

ॐ मुनि वसिष्ठ[१] सनकादिक[४], याज्ञवल्क्य[५] आदि ।
ॐ याज्ञवल्क्य आदि । ध्येय[६] पद लख निज गृह,
ॐ ध्येय पद लख निज गृह, शिरोमणि हुए ज्ञानी[७] ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ १ ॥

से पुरुष अविनाशी होता है ।

—(ध्यान बिन्दूपनिषद्)

२— ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

भावार्थ—ॐ ब्रह्म पूर्ण (पूर्ण = परिपूर्ण सम्पूर्ण अनन्त जैसा चाहिए वैसा जिसमें जरा भी कमी नहीं है ऐसा शक्ति नाम 'ओ३म्' ठीक निस्सन्देह सत्य सत्य (अवति इति ओ३म् रक्षकः सबका रक्षण करने वाला) है, और उस पूर्ण ब्रह्म से प्रकट हुआ यह जगत् भी पूर्ण है क्योंकि—पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण ब्रह्म में से यह इतना भारी जगत् प्रकट हुआ है, तो भी इससे उस ब्रह्म में किसी भी प्रकार की कोई भी कमी नहीं हुई है । क्योंकि—वह पूर्ण है पूर्ण में से पूर्ण निकाला जाय तो मूल पूर्ण में कोई भी कमी नहीं आती ।

—(ईशोपनिषद् का शांति मंत्र)

३—वशिष्ठ जी महा समर्थ ज्ञानी हुए हैं । गृहस्थ होते हुए श्रुतिमतानुसार निज कर्तव्यों का पालन करते हुए हमारे वर्ण

भावार्थः—हे शिष्य ! इस अचल पद को प्राप्त करना हो तो जिस प्रकार (गृहस्थी) वशिष्ठ जी, (ब्रह्मचारी) सनकादिक [सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार] तथा-(गृहस्थी-त्यागी) याज्ञवल्क्य और इनसे आदि लेके मुनिगण श्रेय पदका अनुसरण कर-अपने गूढ-(गुप्त) स्वरूप का साक्षात्कार करके-ज्ञानियों में शिरोमणि हुये हैं, वैसा ही तू भी आचरण कर, (अपने स्व-स्वरूप को पहचान।)

हे प्रणवप्रिय ! आत्मज्ञानरूप देव बन ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! ॥१॥

कठिन तप करके ब्रह्मर्षि हुए थे। इनकी 'शान्ति' जग-प्रसिद्ध है। मुनि विश्वामित्र ने ७० हजार वर्ष लोह भक्षण कर कठिन तपस्या की। इनकी तपस्या को देखकर इन्द्र का इन्द्रासन हिलने लगा। इनमें तप के प्रभाव से नूतन ब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने तक की शक्ति आगई। सब कोई सिवाय वशिष्ठ जी के इन्हें ब्रह्मर्षि कहने लगे। एक मात्र वशिष्ठ जी ही ऐसे थे जो इन्हें 'राजर्षि' कहा करते थे। यह बात विश्वामित्र को बहुत बुरी लगती। इससे उनके साथ ये वैर रखने लगे। यहां तक कि इन्होंने वशिष्ठ जी के १०० पुत्रों को मार डाला। और भी कई प्रकार के दु:ख पहुँचाने के कार्य किये। परन्तु वशिष्ठ जी न तो अपनी शान्ति से डिगे ही और न विश्वामित्र को 'ब्रह्मर्षि' ही कहा। इससे एक दिन विश्वामित्र-'यह वशिष्ठ ही मुझे 'ब्रह्मर्षि' नहीं कहता, यह एक प्रकार का कंटक है, इसे साफ

कर डालना चाहिये'–ऐसा विचार कर उनको मारडालने के इरादे से वशिष्ठाश्रम में पहुँचे।

रात्रि का समय था, ११ बज चुके थे, चाँदनी छिटक रही थी, वशिष्ठ की पर्णकुटिया में लेटे हुए थे और अरुन्धती पाद चम्पी कर रही थीं। रात्रि विशेष गई हुई थी, इससे 'अब निद्रा लेना चाहिये' ऐसा कह वशिष्ठ जी कुटिया के बाहर आये शरद् पूर्णिमा की रात्रि के निरभ्र आकाश में शीतल चन्द्र प्रकाश का देख वशिष्ठ जी बोले— हे अरुन्धती! आओ बाहर देखो, चाँदनी कैसी सुन्दर सुखद और शान्ति खिल रही है, जिस प्रकार कि विश्वामित्र की उग्र तपस्या।"

अरुन्धती कुटिया से बाहर निकलते निकलते बोलीः–"यह विश्वामित्र जिसने मेरे सौ पुत्रों को मार डाला! फिर भी आप उसकी प्रशंसा ही करते हैं!"

वशिष्ठ बोले:—हे देवी! ऐसा कभी ख्याल मत करो कि–तुम्हारे पुत्रों को विश्वामित्र ने मारा। कोई किसी को न मार सकता है न जिला सकता है। जब जीव के कर्म उदय होते हैं, आगामी का जन्म लेना पड़ता है और जब खत्म होते हैं, तो शरीर त्याग करना पड़ता है। तुमने उन लड़कों में अपने पन का भाव रखा इसलिये इस समय खेद कर रही हो।

अरुन्धती: पर आप भी तो जिद नहीं छोड़ते जब सब कोई उन्हें 'महर्षि' कहते हैं तो आप ही क्यों नहीं कहते? आप उन्हें 'महर्षि' कहदें तो यह उपद्रव तो शान्त हो जाय।

वशिष्ठ'—हे देवी ! क्या तुम ऐसा ख्याल करती हो कि–मैं विश्वामित्र से द्वेष रखता हूँ ? और द्वेष के कारण उन्हें ब्रह्मर्षि नहीं कहता ? ऐसा विचार कदापि न रखना। भगवत् मार्ग में चलने वाला पथिक ज्यों ही रागद्वेष में लगा कि–उसकी गाड़ी वहीं रुकी समझो। आत्म-परीक्षण करने वाले को फौरन विदित हो जाना है कि–उसकी प्रगति हो रही है या अवनति, या वहीं रुक गई है। प्राणी ससार को धोका भले ही देवे, परन्तु परमात्मा–सद्‌गुरु देव को नहीं दे सकता, क्योंकि वे तो अन्तर्यामी हैं, उनसे कुछ भी छिपा रह नहीं सकता। इस-लिये सत्य समझो–मैं विश्वामित्र को अपने हृदय से प्रेम करता हूँ, और चाहता हूँ कि-वे शीघ्राति--शीघ्र 'ब्रह्मर्षि' बन जायँ।

अरुन्धतीः—तो फिर उनकी खामी उन्हें प्रत्यक्ष में जाकर क्यों नही बता देते ?

वशिष्ठ'—विश्वामित्र स्वय महाबुद्धिमान्, उग्रतपस्वी और प्रतिभाशाली रत्न हैं। ऐसे पुरुषों को इशारों से ही–संकेत मात्र से ही–सावधान करने की शास्त्र की नीति है। जो पुरुष क्षिप्रबुद्धि और शुद्धान्तःकरणी होते हैं, उन्हें गुरु अथवा महान् पुरुष पोथी पत्रों से नहीं कहते सुनते, एकाध शब्द ही कहते हैं, जिस पर विचार कर श्रेयसाधक गुरु के मन्तव्य को समझ जाता है, या उसे समझ प्राप्त करने का प्रयत्न करना पडता है। क्योंकि–श्रवण से दस गुणा मनन और सौ गुणा निदि-ध्यासन करना जो कहा है–उसका यही तात्पर्य है। विश्वामित्र

...ण गुण है, पर एक मात्र थोड़ा क्रोध है, और उसी
...ण उसमें रागस की विरूपता हो जाती है। यह हृदय
...ब्रह्मर्षि' के महर्षि ही है।

...मित्र कुटिया की आड़से यह सब सुन रहे थे। उन्हें
...कहा-'अहा! मैं कैसा नीच, पापी और दुष्ट हूँ कि
...साधु महर्षि के मेरे प्रति ऐसे उदार भाव हैं, उसे ही मैं
...को आया हूँ! 'धिक्कार है मुझे'-ऐसा कह 'फरसे'
...भूमि पर पटक, एकदम वशिष्ठ जी के चरणों में
...कर बोले:-'महर्षि! आप धन्य हो, धन्य हो मुझे
...रो।' वशिष्ठ जी ने उसी समय उन्हें अपने हृदय से
...हुए कहा- पधारो महर्षि! इस समय किधर पधारना
...विश्वामित्र ने सब इत्थंभूत वर्णन किया। महर्षि ने
...कोई हर्ज नहीं जो हुआ सब ठीक ही है' 'गत न
...मि'। ऐसे महर्षि (ब्रह्मर्षिविश्व महामिष्ठ) वशिष्ठ जी
...।

* * * *

...दा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी को जब
...र्ष की आयु में औदासीन्य ने घेर लिया, तो महर्षि
...जी ने योगवाशिष्ठ द्वारा ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया।
...वाशिष्ठ ग्रन्थ महा रामायण के नाम से संसार में
...है। उसमें उन्होंने इसी बात को सहस्रों दृष्टान्तों
...युक्ति द्वारा समझाया है कि:—

"यह सब जगत् ब्रह्मरूप है। स्थावर जंगम जो कुछ जगत् दीखता है वह सब ब्रह्मरूप है। जैसे सुषुप्ति स्वप्न है, वैसे ही इस जगत् की उत्पत्ति है, और जैसे स्वप्न में सुषुप्ति होती है, वैसे ही जगत् का प्रलय होता है। तथा जो प्रलय में 'शेष' रहता है, वही नित्य, सत्य ब्रह्म, आत्मा सच्चिदानन्द है—वह सब का अपना आप है। जगत् और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं, जैसे—मृगतृष्णा की नदी भासती है, वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। जब अज्ञान रूपी बीज नष्ट होता है, तब जगत् का अभाव होजाता है।

जो मनुष्य देह का अभिमान रखता है, उसको मृत्यु ग्रहण करती है। परन्तु जो निर्वपु है, उसको मृत्यु का कुछ भय नहीं है। क्योंकि—वह आकाशरूप है, और मृत्यु के चंगुल से बाहर है। शुद्ध चिन्मात्र में जो 'अहमस्मि' चैतन्योन्मुखत्व हुआ है, उसी का नाम स्वयम्भू ब्रह्मा है। दो प्रकार के शरीर होते हैं—एक अन्तर्वाहक दूसरा आधिभौतिक। ब्रह्मा जी का शरीर अन्तर्वाहक है, क्यों कि—वह अपने आप ही उपजता है।

जगत् का बीज मन है। जब मन का उपशम होता है, तब दृष्य-भ्रम मिट जाता है, शुद्ध बोध होता है। असत् रूपी जगत् जिससे भासता है, उसी का नाम मन है। और संकल्प विकल्प उस मन का स्वरूप है। यह सब जगत् संकल्प रूप है, और स्वरूप के प्रमाद से पिण्डाकार भासता है। जब तक शुद्ध बोध नहीं होता, तब तक 'दृश्य-भ्रम' निवृत्त नहीं होता। जिस

में सब कुछ गुण हैं, पर एक मात्र थोड़ा क्रोध है और उसी के कारण उनमें राक्षस की विशेषता हो जाती है। यह हुआ कि—बस 'ब्रह्मर्षि' न ब्रह्मर्षि ही हैं।

विश्वामित्र कुटिया की आड़से यह सब सुन रहे थे। उन्हें विचार आया—'अहा! मैं कैसा नीच पापी और दुष्ट हूँ कि जिस दयालु ब्रह्मर्षि के मेरे प्रति ऐसे उदार भाव हैं उसे ही मैं मार डालने को आया हूँ!' 'धिक्कार है मुझे'—ऐसा कह 'फरसे' को वहीं जमीन पर पटक, एकदम वशिष्ठ जी के चरणों में आकर पड़कर बोले—'ब्रह्मर्षि! आप धन्य हो, धन्य हो, मुझे क्षमा करो'। वशिष्ठ जी ने उसी समय उन्हें अपने हृदय से लगाते हुए कहा— पधारो ब्रह्मर्षि! इस समय किधर पधारना हुआ?" विश्वामित्र ने सब इत्थंभूत वर्णन किया। ब्रह्मर्षि ने कहा—'कोई हर्ज नहीं जो हुआ सब ठीक ही है' 'गतं न शोचामि'। ऐसे ब्रह्मर्षि (ब्रह्मयोनिज ब्रह्मनिष्ठ) वशिष्ठ जी हुए हैं।

* * * *

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी को जब बारह वर्ष की आयु में औदासीन्य ने घेर लिया, तो ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी ने योगवाशिष्ठ द्वारा ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया। यह 'योगवाशिष्ठ' ग्रन्थ महा रामायण के नाम से संसार में सुप्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने इसी बात को सहस्रों दृष्टान्तों और युक्ति प्रयुक्ति द्वारा बतलाया है कि—

की है, वास्तव में कुछ हुआ ही नहीं। यह जगत्-मृगतृष्णा की नदी की नाई असत् है, असम्यक् ज्ञान से ही भासता है और विवेक से शान्त हो जाता है जब दृश्य का अत्यन्ताभाव जान कर दृढ़ वैराग्य के द्वारा आत्म-स्वरूप का अभ्यास किया जाता है, तब आत्मा का साक्षात्कार होकर भ्रम मिट जाता है, और यही परम कल्याण है।

—(योग वाशिष्ट)

— 0 —

(४) सनकादिकः—एक समय बद्रिकाश्रम मे अट्ठासी हजार ऋषियों ने एक चित्त होकर, सनकादिक चारों कुमारों से हाथ जोड कर विनम्र प्रार्थना की कि:—हे ब्रह्मस्वरूप ऋषि कुमारो! आप लोग बालब्रह्मचारी, अखंडमहायोगीश्वर है। आपने हजारों वर्ष महान् कठिन तप कर ब्रह्म साक्षात्कार किया है। सो जिस मार्ग करके आपको यह उपलब्धि हुई है वह कृपा कर के संक्षेप में हमसे कहिये। इसके उत्तर में चारों भाई इस प्रकार बोले:—

सनकः—"शाश्वत सुख का उपाय 'परमात्मा स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना' यही है"।

सनन्दनः—"मन का लय करना यही 'परमात्मा के ज्ञान होने का' उपाय है"।

सनातन:—"शुद्ध निष्काम कर्म–उपासना करना, यह 'मन के लय' करने का उपाय है"।

द्वैत के जानने से पुरुष फिर जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता उसकी प्राप्ति सत्संग और सत्शास्त्रों के विचार से होती है जिससे दृश्यरूपी विसूचिका निवृत्त होजाती है। संसार का अत्यन्त अभाव होजाने पर जो बोध मात्र शेष रह जाता है, वह परमात्मा का रूप है जो कि सब के भीतर बाहर स्थित है और सबको प्रकाशित करता है। उस (परमात्मा) का साक्षात्कार जगत् का अत्यन्त अभाव जानने से ही होता है।

* * * *

जगत् वास्तव में कुछ नहीं है केवल मन की फुरना से ही जगत् भासता है। जब मन फुरना से रहित होता है, तब सब कल्पनायें मिट जाती हैं और एक आत्मसत्ता स्पष्ट भासती है। जाग्रत के अभाव में सुषुप्ति हीन अवस्था परमात्मा का रूप है, जिसमें चेतन और जड़ दोनों नहीं है। जड़-चेतन चिन्मात्र परमात्म रूप है, जो स्थावर में स्थावरभाव और चेतन में चेतनभाव से व्याप रहा है, और मन बुद्धि इन्द्रियाँ जिसको नहीं पा सकती वही परमात्मा का रूप है।

* * * *

जिस पुरुष की कल्पना मिट गई है, और जिसको शुद्ध निर्विकार ब्रह्म-सत्ता का साक्षात्कार हुआ है वह पुरुष संसारभ्रम से मुक्त हुआ है चैतन्य रूप-ब्रह्म है और जगत् उसका चमत्कार है। आत्मसमुद्र में जगत् तरङ्गरूप है, आत्म स्वर्ण में जगत् भूषणरूप है आत्मा में भ्रम से जगत् की कल्पना

की है, वास्तव में कुछ हुआ ही नहीं। यह जगत्-मृगतृष्णा की नदी की नाइ असत् है, असम्यक् ज्ञान से ही भासता है और विवेक से शान्त हो जाता है जब दृश्य का अत्यन्ताभाव जान कर दृढ़ वैराग्य के द्वारा आत्म-स्वरूप का अभ्यास किया जाता है, तब आत्मा का साक्षात्कार होकर भ्रम मिट जाता है, और यही परम कल्याण है।

—(योग वाशिष्ट)

— 0 —

(४) सनकादिकः—एक समय बद्रिकाश्रम मे अट्ठासी हजार ऋषियों ने एक चित्त होकर, सनकादिक चारों कुमारो से हाथ जोड कर विनम्र प्रार्थना की किः—हे ब्रह्मस्वरूप ऋषि कुमारो ! आप लोग बालब्रह्मचारी, अखंडमहायोगीश्वर है। आपने हजारों वर्ष महान् कठिन तप कर ब्रह्म साक्षात्कार किया है। सो जिस मार्ग करके आपको यह उपलब्धि हुई है वह कृपा कर के सक्षेप में हमसे कहिये। इसके उत्तर मे चारों भाई इस प्रकार बोलेः—

सनकः—"शाश्वत सुख का उपाय 'परमात्मा स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना' यही है"।

सनन्दन.- "मन का लय करना यही 'परमात्मा के ज्ञान होने का' उपाय है"।

सनातनः—"शुद्ध निष्काम कर्म-उपासना करना, यह 'मन के लय' करने का उपाय है"।

सनत्कुमार— 'यह सर्व जगत् विनाशी है, ऐसा विचार पूर्वक जानना तथा अनुभव करना और वैसा दृढ़ निश्चय करना यह 'निष्काम' होने का उपाय है"।

– (श्रीमद्भागवत)

(४) याज्ञवल्क्य— याज्ञवल्क्य ऋषि ने प्रथम वैशम्पायन नाम ऋषि से वेद विद्या का अध्ययन किया था। उस विद्या का उन्होंने (वैशम्पायन ऋषि ने) क्रोध युक्त होकर उनसे लेलिया। यह वृत्तान्त तैत्तिरीय उपनिषद् में है। उनकी दी हुई विद्या का त्याग करके याज्ञवल्क्य ऋषि फिर विद्या प्राप्त करने के लिए सूर्य भगवान् को प्रसन्न करने हेतु से महान् तप करने लगे। सूर्य भगवान् सूर्यमण्डल में रहने वाले नाम, रूप तथा क्रिया युक्त सब प्रपञ्च के स्वरूप वाले एक-पुरुष समान नख वाले तथा नख से लेकर केश पर्यन्त सुवर्ण समान शरीर वाले हैं। ये सूर्य भगवान् ऊपर नीचे तथा मध्यवर्ती सर्व जीवों का मन वाञ्छित पदार्थ देने वाले और समष्टि, स्थूल सूक्ष्म और कारण उपाधियाले विराट् हिरण्य-गर्भ और ईश्वर रूप हैं। इन सूर्य भगवान् में से श्वास प्रश्वास के समान बिना ही यत्न के सब वेद उत्पन्न होते हैं। ये सूर्य भगवान् ऋक् यजुर् और साम तीन वेद स्वरूप हैं। ये सूर्य भगवान् दिन के प्रथम भाग में ऋग्वेद रूप से, दिन के मध्य भाग में यजुर्वेद रूप से और दिन के अन्त भाग में अथर्वादि रस युक्त सामवेद रूप से प्रकाशित होते हैं। जैसे मधु मनुष्य का आनन्द रस पाता है इसी प्रकार वसु आदि देवता[illegible]

को आनन्द देने वाले और सब कर्मों का फल देने वाले, सूर्य भगवान् आदित्यरूप मधु हैं। आदित्य मे सूर्य भगवान् सर्वदा निवास करते हैं। यह आदित्यरूप मधु रक्त, शुक्ल, कृष्ण, पीत और अतिकृष्ण इन पांचों रूपों से युक्त है। यह आदित्यरूप मधु यथाक्रम रक्त आदि रूप वाले ऋक्, यजुष्, साम, अथर्वाङ्गिरस और उपनिषद्, इन पॉच वेद रूपी भ्रमरों से बना हुआ है। जैसे-मक्खी पुष्प मे से रस को ग्रहण करके जहॉ मधु होता है वहां ले जाती है, इसी प्रकार-ऋग्वेदादि भ्रमर यागादि कर्मरूप पुष्पों मे से मन्त्ररूप को प्राप्त होकर, यागादि कर्मों की सूक्ष्म अवस्थारूप जो पुण्य रूप अदृष्ट है, उस 'अदृष्ट' रूपी रस को आदित्य रूप मधु में लेजाते हैं। ये सूर्य भगवान् सबको आनन्द देने वाली वृष्टि करते हैं-स्मृति में कहा है:—

> अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
> आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अर्थात्:—'अग्नि में दी हुई आहुति सूक्ष्म रूप से आदित्य को प्राप्त होती है, आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।' सूर्य भगवान् सर्व प्राणियों के भीतर रहनेवाले प्राणरूप है, ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सर्व स्थावर-जङ्गम प्राणी सूर्य भगवान् के हृदय मे रहते हैं।

ऐसे सूर्य भगवान् को याज्ञवल्क्य तप से प्रसन्न करने

लगे। सूर्य भगवान् को प्रसन्न करके उन्होंने उनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की। पश्चात् गृहस्थाश्रम धारण करके याज्ञवल्क्य अधिकारी शिष्यों को चारों वेदों का अध्ययन कराने लगे। शिष्य मण्डली चार प्रकार की थी। एक मण्डली ऋग्वेद दूसरी यजुर्वेद, तीसरी सामवेद और चौथी अथर्ववेद का अध्ययन करनेवाली थी। जैसे—सूर्य भगवान् पूर्वादि दिशाओं के मध्य में प्रकाशित हैं, वैसे ही चार प्रकार के शिष्यों के मध्य में याज्ञवल्क्य शोभित होते थे।

याज्ञवल्क्य की कीर्ति दूर दूर फैल गयी। याज्ञवल्क्य की कीर्ति सुनकर आश्वलादि ब्राह्मण (ईर्ष्यावश) सन्ताप को प्राप्त हुए और जनक बहुत ही प्रसन्न हुए। 'दुष्ट पुरुष पराई कीर्ति सुनकर विषाद को प्राप्त होते हैं और सज्जन दूसरे की बड़ाई को सुनकर प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों को याज्ञवल्क्य की प्रशंसा सुनकर महा शोक हुआ और राजा जनक उनकी कीर्ति सुनकर आनन्द को प्राप्त हुए।

हे प्रिय दर्शन ! वस्तु कोई भी दोष रूप नहीं है, परन्तु द्वेषी पुरुष अपने द्वेष के कारण उसमें दोष देखता है और रागी पुरुष उसमें गुण देखता है तथा उदासीन पुरुष को न राग होता है न द्वेष होता है। अतः वह सब वस्तुओं को असत् समझ कर सबमें समान हो रहता है। राजा जनक, याज्ञवल्क्य को अपनी सभा में बुलाकर उनसे उपदेश सुनना चाहते थे और आश्वलादि ब्राह्मण उनको ऐसा करने से रोकने के

लिये अनेक प्रकार से याज्ञवल्क्य और याज्ञवल्क्य की विद्या की निन्दा किया करते थेः—

"आश्वलादि के निन्दा वचन"

'इस याज्ञवल्क्य ने किसी लौकिक गुरु से तो विद्या प्राप्त की नहीं है। सुनते हैं सूर्य भगवान् से इसने विद्या प्राप्त की है। ऐसा भला कहीं सम्भव है ? यदि उसने सूर्यनारायण से साक्षात् ही विद्या अध्ययन किया है, तो वह अपने मुख से शिष्यों को क्यों पढ़ाता है ? जैसे कि हम सब ब्राह्मण मुख से विद्या पढ़ाते हैं। इसलिये—'मैंने सूर्य भगवान् से विद्या पढ़ी है' यह याज्ञवल्क्य का कथन यथार्थ नहीं है। और 'सूर्य के रथ में बैठ कर मैंने विद्या पढ़ी है' यह भी याज्ञवल्क्य का कहना असंगत है, क्योंकि—यदि पूर्व में रथ में बैठा कर सूर्य ने विद्या पढ़ाई हो, तो अब भी प्रज्वलित अग्नि में बैठ कर याज्ञवल्क्य विद्या का पठन क्यों नहीं करता ? 'याज्ञवल्क्य के तप से प्रसन्न होकर सूर्य भगवान् ने दूसरा शरीर धारण करके याज्ञवल्क्य को वेदों का पाठ कराया था'—यदि कोई ऐसा कहे तो यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि—यदि सूर्यदेव का शरीर अंगीकार किया जायगा तो जैसे शरीर वाले स्त्री आदि पदार्थ अनित्य हैं, इसी प्रकार सूर्य भगवान् भी अनित्य ठहरेंगे। यदि सूर्यनारायण अनित्य हों, तो उनमें और हममे विशेषता ही क्या है ? इसलिये सूर्य से विद्या प्राप्त होना असम्भव नहीं है। और दूसरा कोई प्रसिद्ध गुरु याज्ञवल्क्य का है नही। इसलिये ऐसा जान पड़ता है कि— याज्ञवल्क्य अपने कपोल कल्पित वचनों

लगे। सूर्य भगवान को प्रसन्न करके उन्होंने उनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की। पश्चात् गृहस्थाश्रम धारण करके याज्ञवल्क्य अधिकारी शिष्यों को चारों वेदों का अध्ययन कराने लगे। शिष्य मण्डली चार प्रकार की थी। एक मण्डली ऋग्वेद दूसरी यजुर्वेद, तीसरी सामवेद और चौथी अथर्ववेद का अध्ययन करनेवाली थी। जैसे—सूर्य भगवान् पूर्वादि दिशाओं के मध्य में प्रकाशते हैं वैसे ही चार प्रकार के शिष्यों के मध्य में याज्ञवल्क्य शोभित होते थे।

याज्ञवल्क्य की कीर्ति दूर दूर फैल गयी। याज्ञवल्क्य की कीर्ति सुनकर आश्वलादि ब्राह्मण (ईर्ष्यावश) सन्ताप को प्राप्त हुए और जनक बहुत ही प्रसन्न हुए। 'दुष्ट पुरुष पराई कीर्ति सुनकर विषाद को प्राप्त होते हैं और सज्जन दूसरे की बड़ाई को सुनकर प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों को याज्ञवल्क्य की प्रशंसा सुनकर महा शोक हुआ और राजा जनक उनकी कीर्ति सुनकर आनन्द को प्राप्त हुए।

हे प्रिय दर्शन! वस्तु कोई भी दोष रूप नहीं है, परन्तु द्वेषी पुरुष अपने द्वेष के कारण उसमें दोष देखता है और रागी पुरुष उसमें गुण देखता है तथा उदासीन पुरुष को न राग होता है न द्वेष होता है। अतः यह सब वस्तुओं को असत् समझ कर सबमें समान ही रहता है। राजा जनक याज्ञवल्क्य को अपनी सभा में बुलाकर उनसे उपदेश लेना चाहते थे और आश्वलादि ब्राह्मण उनको ऐसा करने से रोकने के

ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य की कीर्ति पर अनेक प्रकार से बट्टा लगाना चाहा परन्तु, राजा जनक के मन में से उनकी कीर्ति निकली नहीं। किन्तु, और भी अधिक समाती गई।

"याज्ञवल्क्य की क्षमा"

हे प्रिय दर्शन ! इस प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों द्वारा की हुई निन्दा को यद्यपि-याज्ञवल्क्य जानते थे और लोगों से उन्होंने सुन भी रखा था, तो भी वे क्षोभ को प्राप्त नहीं होते थे। अपितु आत्मज्ञान के प्रभाव से उलटे प्रसन्न होते थे। जैसे-वर्षाकाल में गर्जना विना ही मेघ जल की वृष्टि करते हैं, इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी अपने मुख से अपनी स्तुति किये विना, पूर्व के समान अपने शिष्यों को अर्थ सहित सर्व वेदों का पाठ कराते रहते थे, और निन्दा करने वाले ब्राह्मणों से कभी कुछ भी नहीं कहते थे। जैसे मार्ग में भौंकते हुए कुत्तों को देखकर हाथी उनके भोंकने पर किञ्चित भी ध्यान नहीं देता, वह झूमता हुआ चला ही जाता है, इसी प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों के द्वारा निन्दा सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि किञ्चित् भी खिन्न नहीं होते थे, उलटे प्रसन्न हुआ करते थे।

इस प्रकार की याज्ञवल्क्य की कीर्ति सुनकर मिथिलापति राजा जनक को उनके दर्शन की इच्छा हुई। जनक राजा के इस अभिप्राय को जानकर, राजा के पुरोहित आश्वलादि ने राजा जनक के सामने उनकी निन्दा की। बुद्धिमान राजा आश्वलादि ब्राह्मणों के दुष्ट अभिप्राय को जान गये, परन्तु-

को वेद मानकर उसका अध्ययन करता और शिष्यों को कराता है और मैंने सूर्य के पास से वेद पढ़े हैं, ऐसा कहकर अज्ञानी जीवों को मोह में डालता है। 'गुरु-सम्प्रदाय के अनुसार उदात्तादि स्वरविशिष्ट वर्णों की आनुपूर्वी का बुद्धिमान वद कहते हैं'। इस प्रकार के वेद के लक्षण से रहित जितने वचन हैं वे नट पुरुष के वचन के समान हैं। क्योंकि–इस याज्ञवल्क्य का गुरु-सम्प्रदाय प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये याज्ञवल्क्य के वचन नट पुरुष के वचन के समान हैं। पदक्रम के सम्प्रदाय के बिना ही याज्ञवल्क्य हाथ हिलाकर, 'यजुर्वेद' का नट के समान पाठ करता है। इसलिये याज्ञवल्क्य यजुर्वेद को नहीं जानता। पूर्व में वैशम्पायन से उसने यजुर्वेद का अध्ययन किया था। उसका भी यह हाल है नहीं जानता तो अन्य वेद का वह किस प्रकार जानता है? नहीं जान सकता" इत्यादि।

इस लोक में अपनी कीर्ति सुनकर तो प्रायः सभी प्रसन्न होते हैं। किन्तु–विरले पुरुष ऐसे होते हैं जो दूसरे की कीर्ति सुनकर प्रसन्न हों। शिष्ट पुरुष ही दूसरे पुरुष की बड़ाई सुन कर आनन्द मनाते हैं। नहीं तो–सब अपनी कीर्ति सुनना चाहते हैं। जैसे–पूर्ण चन्द्र को देखकर समुद्र प्रसन्न होकर उछलता है इसी प्रकार दूसरे की कीर्ति सुनकर शिष्ट पुरुष फूले नहीं समाते। ऐसे पुरुष ही धन्य हैं। मूढ़ पुरुष तो दूसरे की कीर्ति सुनकर प्रसन्न होने के बदले उलटे खिन्न होते हैं। ऐसे पुरुष बुद्धिमानों की सभा में निन्दा के पात्र और परलोक में दुःख के भाजन बनते हैं। उपर्युक्त प्रकार से आश्वलायनादि

ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य की कीर्ति पर अनेक प्रकार से बट्टा लगाना चाहा, परन्तु, राजा जनक के मन में से उनकी कीर्ति निकली नहीं। किन्तु, और भी अधिक समाती गई।

"याज्ञवल्क्य की क्षमा"

हे प्रिय दर्शन! इस प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों द्वारा की हुई निन्दा को यद्यपि-याज्ञवल्क्य जानते थे और लोगों से उन्होंने सुन भी रखा था, तो भी वे क्षोभ को प्राप्त नहीं होते थे। अपितु आत्मज्ञान के प्रभाव से उलटे प्रसन्न होते थे। जैसे-वर्षाकाल में गर्जना बिना ही मेघ जल की वृष्टि करते हैं, इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी अपने मुख से अपनी स्तुति किये बिना, पूर्व के समान अपने शिष्यों को अर्थ सहित सर्व वेदों का पाठ कराते रहते थे, और निन्दा करने वाले ब्राह्मणों से कभी कुछ भी नहीं कहते थे। जैसे मार्ग में भौंकते हुए कुत्तों को देखकर हाथी उनके भौंकने पर किञ्चित भी ध्यान नहीं देता, वह झूमता हुआ चला ही जाता है, इसी प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों के द्वारा निन्दा सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि किञ्चित् भी खिन्न नहीं होते थे, उलटे प्रसन्न हुआ करते थे।

इस प्रकार की याज्ञवल्क्य की कीर्ति सुनकर मिथिलापति राजा जनक को उनके दर्शन की इच्छा हुई। जनक राजा के इस अभिप्राय को जानकर, राजा के पुरोहित आश्वलादि ने राजा जनक के सामने उनकी निन्दा की। बुद्धिमान राजा आश्वलादि ब्राह्मणों के दुष्ट अभिप्राय को जान गये, परन्तु-

उन्होंने उनको कुछ भी नहीं कहा। याज्ञवल्क्य का बुलाने की इच्छा से राजा ने यज्ञ आरम्भ किया और अपने विश्वासी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को उसने इस प्रकार आज्ञा दी—

'हे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा—वैश्यो ! मैंने यज्ञ करने का विचार किया है, इसलिये तुम सब देशों में जाकर सब ब्राह्मणों को बुला लाओ !" इस प्रकार राजा जनक की आज्ञा पाकर सेवक गण कुछ पाथेय से लेकर सब देशों में गये और उन देशों में रहने वाले सभी विद्वान् ब्राह्मणों को बुला लाये और शिष्यों सहित याज्ञवल्क्य को भी लिवा लाये। ब्राह्मणों के आगमन से जनकराज के महल में वेदों की महान् ध्वनि होने लगी। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, तीनों वर्णों को यह ध्वनि आनन्द देती थी। राजा जनक के यज्ञ में आश्वलायन आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त कहोल ब्रह्मर्षि गार्गी अरुण नाम के ब्राह्मण का पुत्र उद्दालक, शकल का पुत्र शाकल्य (जिसका दूसरा नाम विदग्ध है) ये सब उस यज्ञ में अपने अपने शिष्य मण्डल के साथ आये थे। इनके सिवाय अनेक विद्वानों के वहां आने से करोड़ों ब्राह्मण एकत्र हो गये थे। इस प्रकार राजा जनक ने याज्ञवल्क्य के आगमन का उपाय किया।

प्रसंग पाकर राजा जनक आश्वलायनादि सब ब्राह्मणों से हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे— 'हे ब्राह्मणो ! अश्वमेधादि सामग्री से मैं देवताओं का पूजन करना चाहता हूँ आप सब ब्राह्मण मुझे आज्ञा दीजिये आपकी आज्ञा पाकर मैं सर्व क्रियाओं को भली भांति के शास्त्रों से पूर्ण करूँगा' ।

राजा जनक के इस प्रकार पूछने पर ब्राह्मणों ने आज्ञा देदी। तब राजा को यह इच्छा हुई कि–'इस मेरे यज्ञ मे एकत्र सभी ब्राह्मण महात्मारूप है, सदाचारी है, वेद–वेदान्त मे कुशल है और शिष्यों से युक्त हैं, किन्तु–इन सब ब्राह्मणों मे अधिक वेदवेत्ता कौन है? यह मुझे जानना चाहिये।' सब ब्राह्मणों में से एक की श्रेष्ठता जानने के लिये राजा अपने मन ही मन मे विचार करने लगाः—

"यदि मैं इस ब्राह्मण के समाज में किसी से पूछूंगा कि–'तुम सब ब्राह्मणों में कौन सबसे अधिक विद्वान् है, तो ब्राह्मण अपने किसी मित्र को ही अधिक विद्वान् बतावेंगे। क्योंकि–जिसमें जिसका द्वेष होता है, वह साक्षात् देव, गुरु अथवा–विद्या में बृहस्पति के समान हो तो भी द्वेषवान् उसकी निन्दा ही करता है। और जिसका जिसमे स्नेह होता है (यदि वह एक अक्षर भी न जानता हो और कृषिकार के समान महा मूढ हो तो भी) स्नेहवान् उसकी स्तुति करता है। इसलिये राग-द्वेष वाले किसी ब्राह्मण से पूछने से सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण का निश्चय नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि–जो ब्राह्मण राग-द्वेप से रहित, उदासीन हो उससे पूछने से अधिक विद्वान् का पता लग जायगा, तो यह भी ठीक नहीं है, उदासीन से पूछने पर भी अधिकता का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि–शमदमादि गुणों के ज्ञान से अधिकता का ज्ञान होता है, और क्रोधादि दोषों के ज्ञान से न्यूनता का ज्ञान होता है। शम-दमादि गुणों वाला उदासीन होता है। उदासीन को क्रोधादि

उन्होंने उनका कुछ भी नहीं कहा। याज्ञवल्क्य का बुलाने की इच्छा से राजा ने यज्ञ आरम्भ किया और अपने विश्वासी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को उनसे इस प्रकार आज्ञा दी:—

'हे ब्राह्मण क्षत्रिय तथा–वैश्यों! मैंने यज्ञ करने का विचार किया है, इसलिये तुम सब देशों में जाकर सब ब्राह्मणों को बुला लाओ।' इस प्रकार राजा जनक की आज्ञा पाकर सेवक गण कुरु पाञ्चाल से लेकर सब देशों में गये और उन देशों में रहने वाले सभी विद्वान् ब्राह्मणों को बुला लाये और शिष्यों सहित याज्ञवल्क्य को भी लिवा लाये। ब्राह्मणों के आजाने से जनकराज के महल में वेदों की महान् ध्वनि होने लगी। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, तीनों वर्णों को यह ध्वनि आनन्द देती थी। राजा जनक के यज्ञ में आश्वलायन, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त कहोल ब्रह्मर्षि गार्गी अरुण नाम के ब्राह्मण का पुत्र उद्दालक शकल का पुत्र शाकल्य (जिसका दूसरा नाम विदग्ध है) ये सब उस यज्ञ में अपने अपने शिष्य मण्डल के साथ आये थे। इनके सिवाय जनक विद्वानों के यहाँ आ.. ने हजारों ब्राह्मण एकत्र हो गये थे। इस प्रकार राजा जनक ने याज्ञवल्क्य के आगमन का उपाय किया।

प्रसंग पाकर राजा जनक आश्वलायनादि सब ब्राह्मणों से हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे:–"हे ब्राह्मणों! अश्वमेधादि साधनों से मैं देवताओं का पूजन करना चाहता हूँ, आप सब ब्राह्मण मुझे आज्ञा दीजिये आपकी आज्ञा पाकर मैं सर्व दिशाओं को भेरी आदि के शब्दों से पूर्ण करूँगा'।

जांच तो परस्पर इनके शास्त्र-विवाद कराने से ही होगी। इसलिये सब ब्राह्मणों का परस्पर विवाद कराके सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण का निर्णय करना चाहिये। इसमे भी एक हानि है- यदि मै इन ब्राह्मणों से कहूँगा कि-'तुम सब परस्पर विवाद करो' तो ये ब्राह्मण क्रोधित होकर मुझे शाप देंगे। इसलिये मुझे ऐसा करना चाहिये कि-मेरे कहे बिना ही ये सब परस्पर विवाद करें। धन के सिवा ऐसा कोई दूसरा उपाय नही है, धन ही समस्त विवादों का कारण है। इसलिये यदि मै इन सब ब्राह्मणों के सामने बहुत सा धन रक्खूंगा, तो धनके लोभ से ब्राह्मण स्वयं ही परस्पर विवाद करेंगे। उनके विवाद करने से सबसे श्रेष्ठ विद्वान् का निर्णय हो जायगा।

"ब्राह्मणों की इस समाज मे याज्ञवल्क्य के सिवा कोई भी दूसरा ब्राह्मण पूर्ण विद्वान् नहीं हैं। सूर्य भगवान् के शिष्य याज्ञवल्क्य ही सबसे अधिक विद्वान् हैं। कोई कहे कि-याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता को तुमने किस प्रकार जाना? तो उसका उत्तर यह है कि-काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा गर्व इत्यादि दोषों का जिसमे अभाव हो, वही विद्वान् है। विद्वान के ये लक्षण याज्ञवल्क्यमें घटते हैं। याज्ञवल्क्य मे काम क्रोधादि दोष नहीं है। क्योंकि -इतनी विद्या प्राप्त होने पर भी उनमे गर्व नहीं है, वे जड पुरुष के समान मौन धारण किये बैठे हैं। इसलिये उनके समान विद्वान् कोई दूसरा नहीं है। यदि कोई कहे कि- यदि याज्ञवल्क्य राग-द्वेष से रहित है, तो वे तुम्हारा धन किस प्रकार लेंगे? क्योंकि-राग-द्वेष विना धनादि पदार्थों

सभी का ज्ञान ही नहीं होता। इस लिए उदासीन के कथन से सर्व श्रेष्ठ ब्राह्मण का निश्चय होना असम्भव है। यदि कोई कहे कि-'उदासीन को यद्यपि सब ब्राह्मणों के गुण दोष का ज्ञान नहीं होता, किन्तु यदि तुम सब ब्राह्मणों के गुण दोषों को उदासीन के समान वर्णन करोगे, तो वह तुमको सब श्रेष्ठ विद्वान् को बतायेगा' तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि-जब मैं अपने मुख से ब्राह्मणों के गुण दोष सुनाऊँगा, तब उदासीन उनमें से किसकी श्रेष्ठता कहेगा? यह बात तो मैं उसके बताने से पहिले ही जान सकता हूँ। उदासीन से गुण दोष कहना निष्फल है। ऐसा करने से भी श्रेष्ठता का निश्चय नहीं हो सकता। यदि मैं एक एक ब्राह्मण को एकान्त में बुलाकर पूछूँ कि-'तुम सबसे श्रेष्ठ हो या नहीं? और उसके कहने से सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को जानलूँ तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि-यदि मैं एक २ को बुलाकर पूछूँगा तो सभी अपने को अधिक बतावेंगे, कोई भी अपने को न्यून नहीं बतावेंगे। इसलिए इस उपाय से भी श्रेष्ठ विद्वान् का निश्चय नहीं हो सकता। कोई कहे कि-'गुह्य अर्थ का बोध कराने वाले प्रश्न तुम सब ब्राह्मणों से करो और जो तुम्हारे प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे उसी को श्रेष्ठ जानलो तो इस उपाय से भी श्रेष्ठ विद्वान् का निश्चय नहीं होगा। इसमें तो उलटी मेरी हानि होगी। क्योंकि-यदि मैं ब्राह्मणों से कहूँगा कि-मैं तुमसे गुह्यप्रश्न करूँगा तो ब्राह्मण क्रोधित होकर मुझे शाप देकर भस्म कर देंगे। इसलिए पूर्वोक्त किसी उपाय से सर्व श्रेष्ठ ब्राह्मण का निश्चय नहीं होगा। ब्राह्मणों में अधिकता और न्यूनता की

जांच तो परस्पर इनके शास्त्र-विवाद कराने से ही होगी। इसलिये सर्व ब्राह्मणों का परस्पर विवाद कराके सबसे श्रेष्ट ब्राह्मण का निर्णय करना चाहिये। इसमे भी एक हानि है- यदि मैं इन ब्राह्मणों से कहूँगा कि-'तुम सब परस्पर विवाद करो' तो ये ब्राह्मण क्रोधित होकर मुझे शाप देंगे। इसलिये मुझे ऐसा करना चाहिये कि-मेरे कहे बिना ही ये सब परस्पर विवाद करें। धन के सिवा ऐसा कोई दूसरा उपाय नही है, धन ही समस्त विवादों का कारण है। इसलिये यदि मैं इन सब ब्राह्मणों के सामने बहुत सा धन रक्खूंगा, तो धनके लोभ से ब्राह्मण स्वयं ही परस्पर विवाद करेंगे। उनके विवाद करने से सबसे श्रेष्ठ विद्वान् का निर्णय हो जायगा।

"ब्राह्मणों की इस समाज मे याज्ञवल्क्य के सिवा कोई भी दूसरा ब्राह्मण पूर्ण विद्वान् नही है। सूर्य भगवान् के शिष्य याज्ञवल्क्य ही सबसे अधिक विद्वान् हैं। कोई कहे कि-याज्ञ-वल्क्य की श्रेष्ठता को तुमने किस प्रकार जाना? तो उसका उत्तर यह है कि-काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा गर्व इत्यादि दोषों का जिसमे अभाव हो, वही विद्वान् है। विद्वान के ये लक्षण याज्ञवल्क्यमे घटते हैं। याज्ञवल्क्य मे काम क्रोधादि दोष नहीं है। क्योंकि -इतनी विद्या प्राप्त होने पर भी उनमे गर्व नही है, वे जड पुरुष के समान मौन धारण किये बैठे हैं। इसलिये उनके समान विद्वान् कोई दूसरा नहीं है। यदि कोई कहे कि- यदि याज्ञवल्क्य राग-द्वेष से रहित हैं, तो वे तुम्हारा धन किस प्रकार लेंगे? क्योंकि-राग-द्वेष बिना धनादि पदार्थों

का ग्रहण नहीं होता। तो इसका उत्तर यह है कि-याज्ञवल्क्य जो मेरा धन ग्रहण करेंगे, तो ये अपने भोग के लिये ग्रहण नहीं करेंगे जीवों के उपकार के लिये ही करेंगे और इसी लिये ये ब्राह्मणों की सभा में जीतेंगे। यह मेरा धन जब इनके हाथ में आयगा तो उस धन से सबका उपकार होगा। क्योंकि-मुनि का धन तथा-शरीर अपने भोग के लिये नहीं होता केवल दूसरों के उपकार के लिये ही होता है। जैसे कोई पामर धनादि की इच्छा से प्रसन्न दृष्टि से राजा की ओर देखता है इसी प्रकार ये मुनि प्रसन्न दृष्टि से मेरी ओर देखते हैं। इससे यह समझ में आता है कि-मुनि का मेरे ऊपर परम अनुग्रह है। भाव यह है कि-जहां जहां प्रसन्नता पूर्वक दृष्टि होती है वहाँ वहाँ धनादि पदार्थों की इच्छा होती है अथवा-अनुग्रह होता है। इच्छा अथवा-अनुग्रह बिना प्रसन्नता पूर्वक दृष्टि नहीं होती। मुनि में धनादि पदार्थों की इच्छा तो है नहीं अतएव अनुग्रह से ही ये मेरी ओर देखते हैं। याज्ञवल्क्य में राग-द्वेष नहीं है क्योंकि-याज्ञवल्क्य को जीतने की इच्छा वाले जो अहंकारी ब्राह्मण हैं, वे मिलकर मुनि के प्रति अपशब्द बोलते हैं। परन्तु-मुनि उनके वचनों को अज्ञानी पुरुष के समान सुन रहे हैं अपशब्द सुनकर भी मुनि जड़ के समान उनको उत्तर नहीं देते। इससे जानने में आता है कि मुनि के मन में क्षोभ नहीं है। जो क्षोभ से रहित होता है वह राग द्वेष से रहित होता है।"

इस प्रकार राजा जनक ने भली भाँति विचार कर, काम

धेनु के समान एक हजार गौ, और चालीस हजार सोने के निष्क, सभा में लाने के लिये मन्त्री को आज्ञा दी भाव यह है कि-एक हजार गौओं के दो हजाह सींग होते है, उनमे (एक एक सींग में) वीस वीस सोने के निष्क राजा ने बंधवाये, (नौ तोले सुवर्ण का एक निष्क होता है)। शास्त्र की रीति से जब गौएँ सभा में आगयीं, तब राजा सब ब्राह्मणों से इस प्रकार कहने लगाः—'हे सर्व ब्राह्मणों ! आप लोगों में एक से एक बढ़कर वेदवेत्ता है, जो आपमे सबसे श्रेष्ठ 'ब्रह्मवेत्ता' हों, वे इन सब गौओं का अपने आश्रम मे ले जाँय।

राजा के इस प्रकार के वचन सुनकर सभी ब्राह्मण नीचे को मुख करके चुप हो गये। अपनी विद्या के बल से कोई भी ब्राह्मण सब ब्राह्मणों को जीतने को समर्थ नहीं हुआ। सारे ब्राह्मणों को चुप देखकर याज्ञवल्क्य मुनि अपने सामवेदपाठी शिष्य से कहने लगेः—"हे सामवेदपाठी शिष्य ! तू इन सब गौओं को जल्दी से मेरे घर पर लेजा, और सब ब्राह्मणों से ऊँचे स्वर से कहदे कि-"हे ब्राह्मणों ! सबसे श्रेष्ठ, ब्रह्मवेत्ता, याज्ञवल्क्य गौओं को लिये जाता है।" मुनि के वचन सुनकर सामवेदपाठी शिष्य इसी प्रकार सब ब्राह्मणों से कहकर गौओं को मुनि के आश्रम मे लेगया। यह देखकर ब्राह्मण याज्ञवल्क्य पर क्रोध करने लगे और राजा जनक परम आनंद को प्राप्त हुए। तात्पर्य यह है कि-मुनि एक ही समय में ब्राह्मणों को दुःख के कारण और जनक राजा को सुख के कारण हुए। सांख्य-शास्त्रवाले शब्द-स्पर्शादि विषयों में ही सुख

का ग्रहण नहीं होता। तो इसका उत्तर यह है कि-याज्ञवल्क्य जो मेरा धन ग्रहण करेंगे, तो वे अपने भोग के लिये ग्रहण नहीं करेंगे जीवों के उपकार के लिये ही करेंगे और इसी लिये वे ब्राह्मणों की सभा में आवेंगे। यह मेरा धन जब उनके हाथ में जायगा तो उस धन से सबका उपकार होगा। क्योंकि-मुनि का धन तथा-शरीर अपने भोग के लिये नहीं होता किन्तु दूसरों के उपकार के लिये ही होता है। जैसे कोई पामर धनादि की इच्छा से प्रसन्न दृष्टि से राजा की ओर देखता है इसी प्रकार ये मुनि प्रसन्न दृष्टि से मेरी ओर देखते हैं। इससे यह समझ में आता है कि-मुनि का मेरे ऊपर परम अनुग्रह है। भाव यह है कि-जहां जहां प्रसन्नता पूर्वक दृष्टि होती है वहाँ वहाँ धनादि पदार्थों की इच्छा होती है अथवा-अनुग्रह होता है। इच्छा अथवा-अनुग्रह बिना प्रसन्नता पूर्वक दृष्टि नहीं होती। मुनि में धनादि पदार्थों की इच्छा तो है नहीं अतएव अनुग्रह से ही ये मेरी ओर देखते हैं। याज्ञवल्क्य में राग-द्वेष नहीं है क्योंकि-याज्ञवल्क्य को जीतने की इच्छा वाले जो अहंकार ब्राह्मण हैं, वे मिलकर मुनि के प्रति अपशब्द बोलते हैं। परन्तु-मुनि उनके वचनों को अज्ञानी-पुरुष के समान सुन रहे हैं अपशब्द सुनकर भी मुनि जड़के समान उनको उत्तर नहीं देते। इससे जानने में आता है कि मुनि के मन में क्षोभ नहीं है। जो क्षोभ से रहित होता है वह राग द्वेष से रहित होता है।"

इस प्रकार राजा जनक ने भली भांति विचार कर काम

करने को उद्यत हो, 'अतिमोक्ष' सम्बन्धी ८ प्रश्न किये, जिस का योग्य उत्तर याज्ञवल्क्य ने ऐसा दिया कि–उसे हार मान-कर बैठना पड़ा। इसके बाद आर्तभाग, भुज्यु, उपस्त, कहोल, गार्गी, उद्दालक आदि ने शास्त्र सम्बन्धी विविध प्रश्न किये। शाकल्य ने तो अपनी दुर्बुद्धि का परिचय तक दिया, किन्तु–याज्ञवल्क्य बराबर शान्त रहे और 'अपनी शास्त्रयुत–अमोघ वाणी द्वारा सब पराजित हो रहे हैं' यह भी द्रष्टा रूप मे देखते रहे। इस समागम का राजा जनक पर बहुत बड़ा असर पड़ा। ब्रह्मवेत्ता का द्वेष शाकल्य ने किया, इससे वह भस्म हुआ। इसके पश्चात्, जो ब्रह्मविद्या सूर्य भगवान् ने याज्ञवल्क्य को कही तथा जो सर्व ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य से पूछी, वह ब्रह्मविद्या याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से कही, जिस का वृहत् प्रसंग 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में है। यह 'याज्ञवल्क्य गृहस्थ थे, पर जब एक दिन राजा जनक ने त्याग का प्रत्यक्ष रूप देखना चाहा तो राजा दूसरे दिन प्रातःकाल में देखता है कि मुनि सब वैभवादि तथा स्त्री को त्याग वनको चले गये हैं।

९—श्रेय पदः—मंत्रः–अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष ॐ सिनीतः। तयो. श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्यउप्रेयो वृणीते॥ १–३०

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ २–३१

—(कठोपनिषद्)

दुःख मानते हैं, यह उनका मानना ठीक नहीं है। क्योंकि-'सुख दुःख विषयों मे नहीं रहता, अपने मन में रहता है', यही पक्ष समीचीन है। क्योंकि-स्नेहवाले चित्त में सुख की उत्पत्ति होती है जैसे कि-जनक को सुख उत्पन्न हुआ। जिस चित्त में द्वेष होता है, उसमे दुःख की उत्पत्ति होती है जैसे कि ब्राह्मणों को दुःख उत्पन्न हुआ। यदि-सुख दुःख-धर्म विषयों मे होते हों तो विषयों से सबको सुख अथवा दुःख की प्राप्ति होती है। इस विषमता का सब जीवों को अनुभव है। इसलिये विषयों का धर्म सुख-दुःख नहीं है। बाह्य कारण बिना ही-'यह वस्तु रमणीक है' ऐसी कल्पना से मन में सुख होता है। और 'यह वस्तु अरमणीक है' ऐसी कल्पना से दुःख उत्पन्न होता है। जैसे कि-निर्जन वन में रहने वाले राग-द्वेष-रहित पुरुष को अपने मन से ही आनन्द होता है और निर्जन वन मे रहने वाले रागी पुरुष को अपने मन से ही बड़ा दुःख होता है। किसी विषय के कारण मन में सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं होती, वह मन से ही होती है। इसलिये 'मन ही सुख-दुःख का आश्रय रूप है' यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार गौओं को गयी देखकर, क्रोध के कारण ब्राह्मण अपने अपने आसन से उठकर खड़े होगये। उनके होंठ थर थर काँपने लगे और वे अपने ऊपर के दाँतों से नीचे के होंठ को चबाने लगे। इस प्रकार सब ब्राह्मणों की चेष्टा देखकर आश्वल (नाम के एक) ब्राह्मण को अत्यन्त क्रोध आगया। उसने याज्ञवल्क्य के पास आकर अपशब्द कह वाद-विवाद

करने को उद्यत हो, 'अतिमोक्ष' सम्बन्धी ८ प्रश्न किये, जिस का योग्य उत्तर याज्ञवल्क्य ने ऐसा दिया कि—उसे हार मान-कर बैठना पड़ा। इसके बाद आर्तभाग, भुज्यु, उपस्त, कहोल, गार्गी, उद्दालक आदि ने शास्त्र सम्बन्धी विविध प्रश्न किये। शाकल्य ने तो अपनी दुर्बुद्धि का परिचय तक दिया, किन्तु—याज्ञवल्क्य बराबर शान्त रहे और 'अपनी शास्त्रयुत-अमोघ वाणी द्वारा सब पराजित हो रहे हैं' यह भी द्रष्टा रूप मे देखते रहे। इस समागम का राजा जनक पर बहुत बड़ा असर पड़ा। ब्रह्मवेत्ता का द्वेष शाकल्य ने किया, इससे वह भस्म हुआ। इसके पश्चात्, जो ब्रह्मविद्या सूर्य भगवान् ने याज्ञवल्क्य को कही तथा जो सर्व ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य से पूछी, वह ब्रह्मविद्या याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से कही, जिस का वृहत् प्रसंग 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में है। यह 'याज्ञवल्क्य गृहस्थ थे, पर जब एक दिन राजा जनक ने त्याग का प्रत्यक्ष रूप देखना चाहा तो राजा दूसरे दिन प्रातःकाल में देखता है कि मुनि सब वैभवादि तथा स्त्री को त्याग वनको चले गये हैं।

९—श्रेय पद.—मंत्रः–अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष ॐ सिनीतः। तयो. श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्यउप्रेयो वृणीते ॥ १–३०

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर.। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ –३१

—(कठोपनिषद्)

भावार्थः—यमराज नचिकेता से कहते हैं—हे नचिकेता ! इस लोक तथा परलोक में जीवों को प्राप्त होने के श्रेय और प्रेय ऐसे दो प्रकार हैं। बुद्धिमान् पुरुषों का प्रीतिकारक मोक्ष रूप नित्य सुख सब से उत्कृष्ट होने से 'श्रेय' कहलाता है। मूढ़ पुरुषों का प्रीतिकारक विषयरूप (विषय जन्य) संसार के सुख हैं और वे अनित्य हैं। इसलिये श्रुति भगवती उसे 'प्रेय' कहती है। स्वरूप, साधन, प्रमाण और अधिकार, इन चार अंशों में श्रेय और प्रेय रूप फल परस्पर विलक्षण हैं। मोक्ष-रूप श्रेय का नित्यसिद्ध फल आनन्द 'स्वरूप' आत्मा ही है। मैं ब्रह्मरूप हूँ इस प्रकार का अभेद ज्ञान 'श्रेय' का 'साधन' है। उपनिषद्रूप वेदान्त शास्त्र इसका 'प्रमाण' है और विवेक वैराग्य, शमादि षट्-संपत्ति मुमुक्षुतादि-चतुष्टय साधन संपन्न पुरुष 'श्रेय' का 'अधिकारी' है। विषय जन्य अनित्य सुख 'प्रेय' का 'स्वरूप' है यज्ञादिक कर्म उसके 'साधन' हैं। वेद का कर्म-कांड भाग उसका 'प्रमाण' है और सकाम पुरुष उसका 'अधिकारी' है। हे नचिकेता ! श्रेय और प्रेय इन दोनों प्रकार के फल में जो अधिकारी पुरुष श्रेय फल को सम्पादन करता है वह अपने प्रयोजन से युक्त हुए बिना कृतकृत्य होता है और जो मूढ़बुद्धि पुरुष प्रेयरूप फल को प्राप्त करता है वह इस संसार की घटमाल में जन्म मरण के चक्कर खाता हुआ-केवल दुःखों की परम्परा को ही भोक्ता हुआ करता है। सुख की अभिलाषा से आंकड़ी को लिपटते हुए आटा-(आटे की गोली) खाने को जाते ही मत्स्य जैसे मृत्यु को पाता है वैसे ही सुख की अभिलाषा से और स्त्रिय स्त्री के साथ रमण करने

की इच्छा से जो पुरुष प्रेय को साधने जाता है। वह जन्म-मरण के चक्कर में ही पडता है। निष्काम पुरुष, ससार में होता हुआ भी 'श्रेय' सम्पादन करने ही की बुद्धि रखता है और मूढ़ (सकाम पुरुष) ससार में होता हुआ बड़े बडे भोगों की इच्छा द्वारा कर्मों में प्रवृत्त हो जन्म-मरण की घटमाल में जुडा रहता है। जब वेद और पुराणादिक शास्त्रों का अध्ययन और उसके अर्थ का यथार्थ ज्ञान होता है, तब ही मनुष्य को श्रेय-प्रेय बुद्धि उत्पन्न होती है। जो अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि वाले होते हैं, उनको श्रेय की, और विषयों में आसक्त सामान्यबुद्धि वालों को प्रेय की इच्छा होती है। हे नचिकेता ! सकामपुरुषों को स्त्री पुत्रादिक की प्राप्ति और उनके सुरक्षण की इच्छा-अभिलाषा होती है। परन्तु, मूढमति ऐसा विचार नहीं करते कि-उनकी प्राप्ति तथा उनका रक्षण दैवाधीन है। हे नचिकेता तुम्हारे जैसा बुद्धिमान्-वैराग्यवान् पुरुष, "स्त्री पुत्रादिक की प्राप्ति और रक्षण दैवाधीन है", ऐसा मानकर उनके सम्बन्ध की कुछ भी चिन्ता सन्ताप किये बिना निष्काम कर्म कर, निरन्तर मुख्य 'श्रेय' का ही विचार करता है।

* * * *

हे नचिकेता ! 'सर्व दु:खों से रहित जो मोक्ष सुख है, वह ही मेरे संपादन करने योग्य है, इसके सिवाय दूसरा कुछ भी सुखकारक नहीं है' ऐसा बुद्धिमान् पुरुष विचार करते है। श्रेय की प्राप्ति ब्रह्मवेत्ता पुरुष के उपदेश बिना नहीं होती,

इसलिये—वेद के तात्पर्य को जाननेवाले ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाकर अधिकारी जन को 'श्रेय का स्वरूप' जानना चाहिये।

—(आत्मपुराण)

० • • ०

७ ज्ञानी प्रथम एक आत्मा को देखता है, अतएव उसकी आत्मा की दृष्टि में सब समान हैं। वह नीच में भी और उच्च में भी, धूल के परमाणु में भी और सूर्य में भी, अधम में भी और उत्तम में भी, दुराचारी में भी और धर्मिष्ठ में भी, सब ही सर्वत्र एक ही आत्मा को देखता है। संसार के भिन्न भिन्न पदार्थ, अवस्था और भाव आदि के ठीक रूप और तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति करने की आवश्यकता है, यही ज्ञानत्व है जिसके बाद सामान्य से परतत्त्व दूर पड़ता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही परम ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव जीवात्मा फिर उत्तम सुन्दर सुभग आदि वस्तुओं के द्वारा उनका ज्ञान (अनुभव) प्राप्त करता है अर्थात्–विचार करता है कि उत्तम सुन्दर सुभग आदि सत्त्वगुण के कारण हैं और ही अशुभ असुन्दर और घृणित की प्रकृति के विरुद्ध गुण का ही नाम जानता है। तात्पर्य यह है कि–शुभाशुभ आदि द्वन्द्व की भावना त्यागकर और आत्मा की दृष्टि से दोनों का समान भाव [illegible] (किसी में आसक्ति न रख) परम शुद्धात्मा में स्थित रहता है। अतएव ज्ञानी के लिए [illegible] न कुछ विरुद्ध है और न उत्तम है। उसकी दृष्टि में

सब उस एक के अंश हैं जो सृष्टि के निमित्त अपने-अपने स्थान में अपना-अपना उद्देश्य साधन कर रहे और करवा रहे हैं। संसार में जो कुछ हैं, उन सबका अपना-अपना नियत स्थान और उद्देश्य है, अपनी-अपनी दशा है, अपने-अपने काम हैं और अपने-अपने लिये अनुभव प्राप्त कर रहे हैं, और दूसरों से करवा रहे है। ब्रह्म अनन्त है और उसके एक अंश का भी प्रकाश अनन्त प्रकार का होना चाहिये। अतएव-श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है-"द्यूत छलयतामस्मि" मैं छलियों मे जुआ हूँ। रुद्राध्याय मे लिखा है-यह एक अनन्त ही नाना रूपों को धारण कर सब प्रकार की आवश्यक वृत्तियों का सम्पादन कर रहा है। यहाँ तक कि-उस (अनन्त) को चोरों का पति भी कहा है, जैसे कि-"तस्कराणां पतयेनमः।" इसका यह भाव नहीं है कि-जुआ अथवा चोरी उत्तम है, किन्तु—भाव यह है कि-जुआ, चोरी आदि निकृष्ट कर्म के अशुभ परिणाम की जानकारी प्राप्त कर उससे निवृत्त होना चाहिये यही उन के अस्तित्त्व का उद्देश्य है।

* * * *

ज्ञानी, सब कर्मों को करता हुआ भी अकर्ता है, और सांसारिक पदार्थों से आवेष्टित रहने पर भी उन सबों से वह न्यारा है। क्योंकि-वह शरीरों और कोशों से अपने को पृथक् आत्मा जानता है, और सांसारिक पदार्थों को उनको वाह्य आकृति की दृष्टि से असत् जान उनमें कुछ भी आसक्ति नहीं

रखता। महाभारत शान्तिपर्व अ० १०८ में राजा जनक का वचन है:—

> अनन्तं यत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
> मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते॥

अर्थात्—अनन्त धन मेरा कहा जाता है, तथापि-मेरा यथार्थ में कुछ नहीं है। यदि मिथिला की मेरी राजधानी जलने लगे तथापि-मेरा कुछ भी नहीं जलेगा। उपनिषद् का वचन है,— 'सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन्।" निश्चय करके य सब (एक) ब्रह्म ही के रूप है,—यहां कुछ भी नानात्व नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्येक बन्धन टूट जाता है इच्छायें नाश होजाती हैं, और मन की वृत्तियाँ स्थिर होजाती हैं। ऐसा ज्ञानी शरीर और मन से कर्म को करता हुआ भी यथार्थ में कुछ भी नहीं करता।

स्मरण रखना चाहिये कि—केवल वेदान्त की पुस्तकों के पढ़ने से और तर्क द्वारा वेदान्त के सिद्धान्तों का समझने से कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। शास्त्र-पठन विवेक के लिये है और ज्ञान की प्राप्ति तो ज्ञान-योग के अभ्यास द्वारा ही होती है। पाण्डित्य होने से बुद्धि द्वारा विषय का ज्ञान अवश्य होता है। किन्तु यह ज्ञान निकृष्ट है इससे आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ३ के श्लोक ४१ के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं:—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

"तपस्विभ्यः अधिको योगी, ज्ञानिभ्यः अपि । ज्ञान अत्र शास्त्रपाण्डित्यं, तद्वद्भ्यः अपि मतो ज्ञातः, अधिकः श्रेष्ठ, इति कर्मिभ्यः अग्निहोत्रादि कर्म तद्वद्भ्यः अधिको योगी विशिष्टो यस्मात् तस्मात् योगी भव अर्जुन ।"

भाव यह है कि-'ज्ञानमात्र शास्त्रपाण्डित्यम्' अर्थात् यहाँ ज्ञान से तात्पर्य शास्त्र में पण्डिताई से है ।

आत्मज्ञान की प्राप्ति बड़ी कठिन है । उपनिषद् में लिखा है कि:—

अणोरणीयान् ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात् । नैषा तर्केणमतिरापनेया ॥

ना विरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञाने नैव माप्नुयात् ॥

अर्थात्:—वह आत्मा निश्चय ही सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और सब तर्कों से परे है । यह (आत्म भाव) तर्क से प्राप्त नहीं हो सकता । जिसने कुत्सित कर्मों का करना नहीं छोड़ा, जिसकी इन्द्रियाँ वश नहीं हुईं, जिसका मन एकाग्र न हुआ, और जिसका चित्त शान्त न हुआ, ऐसा (पुरुष) केवल पुस्तक-जनित ज्ञान के द्वारा आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता ।

आत्मा की प्राप्ति कैसे हो इस विषय में उपनिषद् का कथन है:—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

—(कठोपनिषद्)

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

—(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

तस्यास्तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा।
वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥

—(केनोपनिषद्)

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा॥
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं।
पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

—(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्ः—आत्मा बडी कठिनता से ऐसा देखा जाता–(देखा जानेवाला) है, गुप्त रीति से व्याप्त है, हृदय में टिका हुआ है, गुहा में छुपा है और सनातन है। अध्यात्मयोग के ज्ञान द्वारा विद्वान् पुरुष उस परमात्मा को जानकर, हर्ष और शोक का त्याग कर देता है। जैसे तैल तिल में, घी दही में, जल झरने में और अग्नि काष्ठ में गुप्त रहता है, वैसे ही परमात्मा आत्मा में (है) (वह) उसी को प्राप्त होता है जो उसको सत्य और ध्यान द्वारा खोजता है। अभ्यास, दम और सदाचार उस (ज्ञान) के आश्रय हैं, वेद अङ्ग हैं और सत्य उसके रहने का स्थान है। यह आत्मा केवल सत्य, ध्यान, सम्यक्ज्ञान और स्थायी शम-दम से मिलता है। वह शरीर से ज्योतिः स्वरूप, जाज्वल्यमान है। जिसको यति लोग पाप रहित होने पर देखते हैं। वह (आत्मा) नेत्र से, वाक्य से, किसी दूसरी शक्तियों से और केवल ध्यान, एवं–उत्तम कर्मों द्वारा भी नहीं मिल सकता। वह तो शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञान प्राप्त करने पर ही देखने में आता है, (इसके पूर्व नहीं) ध्यान द्वारा वह उसको अनवच्छिन्न देखता है।

—(ज्ञानयोग)

* * * *

मुनि का अर्थः—

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओंकारो विदित्येयेन स मुनिर्नेतरो जन ॥

आत्मा की प्राप्ति कैसे हो इस विषय में उपनिषद् का वचन है:—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

—(कठोपनिषद्)

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

—(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा ।
वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥

—(केनोपनिषद्)

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो ।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा ।
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ॥
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु ।
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

—(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्:—आत्मा बडी कठिनता से ऐसा देखा जाता-(देखा जानेवाला) है, गुप्त रीति से व्याप्त है, हृदय में टिका हुआ है, गुहा में छुपा है और सनातन है। अध्यात्मयोग के ज्ञान द्वारा विद्वान् पुरुष उस परमात्मा को जानकर, हर्ष और शोक का त्याग कर देता है। जैसे तैल तिल में, घी दही में, जल झरने में और अग्नि काष्ठ में गुप्त रहता है, वैसे ही परमात्मा आत्मा में (है) (वह) उसी को प्राप्त होता है जो उसको सत्य और ध्यान द्वारा खोजता है। अभ्यास, दम और सदाचार उस (ज्ञान) के आश्रय हैं, वेद अङ्ग हैं और सत्य उसके रहने का स्थान है। यह आत्मा केवल सत्य, ध्यान, सम्यक्ज्ञान और स्थायी शम-दम से मिलता है। वह शरीर से ज्योतिः स्वरूप, जाज्वल्यमान है। जिसको यति लोग पाप रहित होने पर देखते हैं। वह (आत्मा) नेत्र से, वाक्य से, किसी दूसरी शक्तियों से और केवल ध्यान, एव-उत्तम कर्मों द्वारा भी नहीं मिल सकता। वह तो शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञान प्राप्त करने पर ही देखने में आता है, (इसके पूर्व नहीं) ध्यान द्वारा वह उसको अनवच्छिन्न देखता है।

—(ज्ञानयोग)

* * * *

मुनि का अर्थः—

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओंकारो विदित्येयेन स मुनिर्नेतरो जन ॥

जो मनुष्य ओंकार को अनन्त मात्रा रूप सब द्वैत भाव के उपशम स्थान रूप तथा आनन्द रूप जानता है उसे 'मुनि' कहने में आता है, अन्य को नहीं।   —(मांडूक्य)

ॐकार उपासना से अभय पद प्राप्ति—

श्लोकः—ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः ।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

शब्दार्थः—ॐकार को पाद (प्रथपाद) के साथ एक रूप जानना चाहिये तथा पादों को मात्रा रूप मानना चाहिये पाद के साथ ॐकार का ज्ञान होने के पश्चात् किसी भी अन्य वस्तु का चिंतन नहीं करना।

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥

शब्दार्थः—मन को प्रणव के लिये लगाना कारण कि प्रणव ब्रह्म रूप तथा निर्भय रूप है इस कारण जो नित्य प्रणव में जुड़ा हुआ है उसे कभी कुछ भय नहीं रहता।

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥

शब्दार्थ—प्रणव रूप ओंकार अपर ब्रह्मरूप वैसे ही पर ब्रह्म रूप है यह प्रणव अपूर्व रूप अनन्तर अबाह्य अनपर (जिसमें दूसरा कोई नहीं) तथा अव्यय रूप है।

आत्म भाव का साधन ।

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैवच ।
एव हि प्रणव ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥

शब्दार्थः—ॐकार रूप प्रणव सर्व का आदि रूप, मध्य रूप तथा अन्त रूप है, इस प्रकार ॐकार रूप प्रणव को जानने के पश्चात् मनुष्य आत्म भाव को प्राप्त होता है ।

ॐकार की सर्वव्यापकता ।

श्लोकः - प्रणव हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदिसंस्थितम् ।
सर्व व्यापिमोंकार यत्वा धीरो न शोचति ॥

शब्दार्थ.—ॐकार रूप प्रणव को ईश्वर रूप जानना चाहिये तथा वह प्रणव सर्वों के हृदय मे रहा हुआ है, अधिकारी इस प्रणव को सर्व व्यापी मानता है, इसलिये वह कभी शोक को प्राप्त नहीं होता । —(गौ उपादकारिका)

'ईश्वर प्रणिधानाद्वा', 'तस्य वाचकः प्रणव.' 'तज्जयस्तदर्थ भावनम्' —(योगसूत्र)

अर्थात्ः—'परमेश्वर में किये जाने वाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधन–भक्ति विशेष से सतुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्त पर अनुग्रह करते हैं, अतः पाप आदि कारणों से होने वाले विघ्न और प्रतिबधकों के अभाव होजाने से उस

भक्त के थोड़े ही समय में समाधि और उसके फल की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। 'उस ईश्वर का वाचक-नाम-प्रणव-प्रतिपाद्य ईश्वर का चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।'

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणव के अर्थ भूत परमात्मा का भली भाँति चिन्तन करने से अवश्य ही चित्त एकाग्र होता है तदनन्तर बुद्धि में स्पष्ट रूप से परमात्मा प्रकाशित होते हैं, अर्थात् परम तत्त्व ज्ञान का उद्गम होता है—यह इन तीनों सूत्रों का सम्मिलित अर्थ है। —(पाणाढ)

—वाचिक ज्ञानी—

वाचिक ज्ञानी महोपचारे भणी ग्रन्थकठाबेहाम,
आगठ्योतयणा विना रे पठोसर्वे ए जीव समान,
वानसुणी चढ़ाम्त गीरे काई जाणे मान परोक्ष
प्रत्यक्ष सत्य ज्ञान विना रे केम जीव ना पामे मोक्ष,

* * * *

पोथी भरी भार भारे थया जीव विचारा पुं थाय
अन्तर ग्रन्थी छुटे नहीं रे मन तणी अधूरा आप,
ठग गुरु भोला छठ मोरे कोई जीव न पामे पार
ज्ञम अनुभवी ना मळेरे तमो आवे ते तत्त्व विचार,
प्रेम विचारी सब नरे करथो तत्त्व दर्शी ना संग,
आप कभी अनुभव नहीं रे थाय भ्रांति सर्वे नो भंग,

सुकृत कोटि जन्म ना रे, जेने उदय थयेला होय,
दर्शन तत्त्व दर्शी तणां रे, कहे छोटय पाये सोय;

—(प्रह्लाद चरित्र)

श्लोकः—मुनिर्भवति मौनान्न नारण्य वसनान्मुनिः।
मुनिर्भवति वश्यात्मा स्थितिधीर्मुनिरुच्यते॥

अर्थात्ः—मनुष्य गूगा रहने से या अरण्य मे वसने से मुनि नही होता पर मन को वश करने से मुनि होता है, क्योंकि स्थिर वुद्धि वाला मुनि कहलाता है।

ज्ञानीः—यो हि न कुरुते पापं सर्व भूतेषु कर्हिचित्।
कर्मणा मनसा वाचा स ज्ञानी कथ्यते बुधै.॥

अर्थात्.—जो मन वचन या कर्म से किसी समय किसी भी प्राणी के प्रति पाप नहीं करता उसे समझदार मनुष्य ज्ञानी कहते हैं।

वहुमात्र किमुक्तेन ज्ञात तत्वो महाशय.।
भोग मोक्ष निराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः॥

ज्ञानी पुरुष के अनेक प्रकार के लक्षण हैं, उनका लक्षण पूर्ण रीति से वर्णन करना तो कठिन है परंतु ज्ञानी पुरुष का एक साधारण लक्षण यह है कि ज्ञानी आत्मतत्व का जानने वाला, आत्म स्वरूप के विषे मग्न, भोग और मोक्ष की इच्छा

से रहित तथा सदा याग आदि साधनों में प्रीति करने वाला होता है। —(मनु स्मृ०)

विधि को कियो कुम्हार जिन हरि को दस अवतार।
नीलक मंगावत ईश को, ऐसा कर्म उदार॥
—(भर्तृ०)

जलधि इव यह मेरु यह विधा रिपु व्यौपार।
अमहोनी होवे न कहूं, होनी अमिट विचार॥
—(भर्तृ०)

काल गरीबी गुरु परम नरम वचन निरमान।
तुलसी कबहुं न छांड़िये शील सत्य संतोष॥

सर्व भूतस्थ मात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मयाजीवै स्वाराज्य मधि गच्छति॥
—(मनु १२।९१)

मनुजी कहते हैं—समस्त भूतों में स्थित अपने आत्मा को और समस्त भूतों को अपने आत्मा में देखता हुआ आत्म यज्ञ करने वाला पुरुष स्वाराज्य लाभ करता है।

मनोनिग्रह।

मन दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध। कामना वाला मन अशुद्ध और कामना रहित मन शुद्ध कहलाता है। मन ही

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयों की आसक्ति वाला वध के हेतु है और विषयों की आसक्ति रहित मन मोक्ष की प्राप्ति करता है। इससे मुमुक्षुओं को अपने मन को विषय वासना से रहित करना चाहिये। जहाँ तक (मन) हृदय में स्थित होकर विषयासक्ति को त्याग न करे वहां तक उसका निरोध करना यह ज्ञान तथा ध्यान है। इससे भिन्न ग्रन्थ का विस्तार है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में एक ही आत्मा है। तीन अवस्था से परे और सर्व भूतों में स्थित आत्मा को जानकर अधिकारी मुक्ति पाता है। शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म ऐसी विद्या दो प्रकार की है—शब्दब्रह्म में कुशल अधिकारी परब्रह्म को पाता है। बुद्धिमान ग्रथ का अभ्यास कर ब्रह्म को अनुभव कर धान्यार्थी जैसे भूसे का त्याग करदेता है उसी प्रकार सर्व ग्रंथों का त्याग करे। अनेक रग की गायों मे जैसे दूध एक रग का होता है वैसे ही सर्व शास्त्रों में एक ब्रह्म ही साक्षात् वा परम्परा से प्रतिपाद्य है। जैसे दूध में घी गुप्त रहा हुआ है—उसका विवेक युक्त मन द्वारा अनुभव करना चाहिये। जो निरवयव, निर्मल,शांत, सर्व भूतों का अधिष्ठान रूप और सर्व भूतों में स्थित है वह ब्रह्म में हूं—ऐसा विद्वान् अनुभव करे। —(ब्रह्मविन्दूपनिषद्)

मन दाता मन लालची, मन राजा मन रंक।
जो यह मन हरि सों मिले, तो हरि मिले नि शंक॥

परमानद प्राप्ति का मार्ग।

साधक ॐकार को इस रूप से उपासना करे। अकार

उसकी दाहिनी पंख है, उकार बांयी पंख है, मकार पुच्छ है और अर्धमात्रा शिर है, रजोगुण तमोगुण उसके पांव है, सत्व गुण उसका शरीर है और धर्म तथा अधर्म उसकी दांयी बांयी आंखें हैं। उसके शरीर में सात लोक इस प्रकार जानना— पांव में भूर्लोक, जानु में अंतरिक्ष लोक, कटि में स्वर्लोक, नाभि में महर्लोक हृदय में जन लोक, कंठ मे तप लोक, दोनों भ्रू और ललाट के मध्य में सत्य लोक स्थित हैं। अकार क देव अग्नि, उकार के देव वायु, मकार के देव सूर्य, और अर्ध- मात्रा का देव वरुण है। अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा इन चार मात्राओं में प्रत्येक की उदात्त अनुदात्त और स्वरित ऐसी तीन तीन कला होने से चार मात्रा की १२ कला वा मात्रा होती है। घोषिणी, विद्युन्माली पतंगी, वायु वेगिनी नाम धेया ऐंद्री वैष्णवी शांकरी महती ध्रुवा मौनी तथा ब्राह्मी यह बारह नाम कलाओं के हैं। पहली कला की धारणा में स्थित अन्तःकरण वाले का मृत्यु होवे तो वह राजा होता है दूसरी कला की धारणा में प्राण वियोग होवे तो यक्ष, तीसरी कला की धारणा में शरीर छूटे तो विद्याधर, चौथी कला की धारणा म शरीर त्यजे तो गंधर्व, और पांचवी कला की धारणा में मरे तो देव होता है, छठी कला की धारणा में शरीर तजे तो इन्द्र क सायुज्य को, सातवीं कला की धारणा म मृत्यु होवे तो विष्णु लोक को, आठवीं कला की धारणा में मरण होय तो शिव लोक को नवीं कला की धारणा में प्राण वियोग होय तो महर्लोक का दसवीं कला की धारणा म शरीर पड़े तो ध्रुव लोक का।

नाविरतो दुश्चरितान्नशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्त मानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
—(कठ०)

भावार्थ.—जो व्यक्ति पाप से निवृत्त नहीं हुआ है अथवा जो केवल इन्द्रिय परायण है एव जो असाहित अर्थात् एकाग्रता रहित, चञ्चल चित्त है वह कभी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता; अथवा जो व्यक्ति अशान्त मन वाला है अर्थात् फल-कामना से आसक्त चित्त वाला है, वह केवल विचार के द्वारा आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता ।

उपनिषद् में आत्मा की प्राप्ति के विषय में कहा है:—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धध सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

समस्त भूतों के अन्दर आत्मा-चैतन्य गुप्त रूप से निहित है, यह सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। किन्तु ध्यान निश्चल सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा सूक्ष्म दर्शियों को यह आत्मा दिखाई देता है अर्थात् वह उनके सामने प्रकट होता है ।

—— o ——

श्रीपञ्चीकरण वार्तिकम् ।

श्लोकः—ॐकारः सर्व वेदानां सारस्तत्त्व प्रकाशकः ।
तेन चित्त समाधानं मुमुक्षूणां प्रकाश्यते ॥१॥

—ॐकार यह सर्व वेदों का सार रूप है, और ब्रह्म तत्व को प्रकाश करने वाला है, उस प्रणव की उपासना द्वारा मुमुक्षुओं के चित्त के समाधान को निरूपण करते हैं ॥१॥ प्रथम नित्य मुक्त और विक्रिया से रहित ऐसा एक परब्रह्म था वह अपनी माया से भली प्रकार प्रतिबिम्बित होने से अव्याकृत रूप (ईश्वर रूप) जगत का बीज हुआ ॥२॥ उस बीज से जिसका शब्द गुण है ऐसा आकाश उत्पन्न हुआ उस आकाश से स्पर्श गुणवाला वायु उत्पन्न हुआ, और उस वायु से जिस का रूप गुण है ऐसा तेज उत्पन्न हुआ ॥३॥ उस तेज से रस रूप ऐसा जल उत्पन्न हुआ, और उस जल से गंध गुण वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई, इनमें आकाश एक शब्द गुण वाला ही है, और वायु शब्द और स्पर्श ऐसे दो गुण वाला है ॥४॥ तेज यह शब्द स्पर्श और रूप गुणवाला कहलाता है, और जल कि शब्द स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण हैं ॥५॥ पृथ्वी यह शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ऐसे पाँच गुणवाली है। उन अपंचीकृत पंच महाभूत से सूत्रात्मा जिसको लिंग शरीर रूप अथवा महत् कहते हैं, वे उत्पन्न हुए ॥६॥ इन अपंचीकृत पंच महाभूतों से पाँच स्थूल भूत उत्पन्न हुए और इसमें विराट स्वरूप उत्पन्न हुआ पंचीकृत ऐसे पंच महाभूत को विद्वान् लोग स्थूल भूत ऐसी संज्ञा से कहते हैं ॥७॥ पृथिव्यादि जो अपंचीकृत पंच महाभूत हैं इन प्रत्येक के दो प्रकार से विभाग करे और पुनः उनका एक भाग लेकर उसके चार प्रकार से विभाग करे ॥८॥ और फिर एक २ भाग को क्रम पूर्वक एक एक भूत के विषे डाले इसमें (ऐसा करने से)

आकाश भूत के पांच भाग होते है ॥९॥ इस प्रकार वायु आदि के चार भागों की व्यवस्था करे यह पञ्चीकरण हुआ, ऐसा तत्वदर्शी गण कहते है ॥१०॥ ये पचीकृत भूत हैं, और उन का कार्य विराट् स्वरूप है यह विराट्, निराकार जो परमात्मा उसका स्थूल शरीर है ॥११॥ अधिदैव, अध्यात्म, और अधि-भूत ऐसे तीन प्रकार के विभाग द्वारा एक ब्रह्म भ्रम से जनाता है, परन्तु तत्त्व से (वास्तविक रीति से) ऐसा नहीं है ॥१२॥ देवता के अनुग्रहयुक्त ऐसी इन्द्रियों से जो बाहर के विषयों का ज्ञान होता है उन शब्दादि विषयों का ज्ञान जाग्रत अवस्था का कहाता है ॥१३॥ श्रोत्र (कान) अध्यात्म है, ऐसा कहा है, श्रवण करने के विषय रूप शब्द वह अधिभूत कहा है, और वहा दिशा यह अधिदैवत है ॥१४॥ चमडी (त्वचा) यह अध्यात्म कहा "गया" है, स्पर्श करने के विषय रूप जो स्पर्श वह अधिभूत है और वायु इसमें अधिदैव है ॥१५॥ चक्षु अध्यात्म है ऐसा कहा है, देखने के विषय रूप जो रूप वे अधिभूत और उनमें सूर्य अधिदैवत है ॥१६॥ जिह्वा यह अध्यात्म है, उसी प्रकार स्वाद के विषय रूप जो रस वह अधिभूत और उस जिह्वा के विषे अधिदैवत वरुणदेव हैं ॥१७॥ नासिका यह अध्यात्म कहाती है सूंघने के विषय रूप गन्ध अधिभूत और उसमें पृथ्वी अधिदैवत है ॥१८॥ वाणी यही अध्यात्म कहलाती है, बोलने के विषय रूप शब्द अधिभूत और उसमें अधिदैवत अग्नि है ॥१९॥ हाथ यह अध्यात्म कह-लाते है, जो ग्रहण करने का विषय वह अधिभूत और इन्द्र उसमें अधिदेव है ॥२०॥ पांव यह अध्यात्म कहाते हैं, उसमें

जो ज्ञान का विषय यह अधिभूत है और उसमें अधिदैव विष्णु है ॥२१॥ गुदा अध्यात्म कहाती है उसमें जो मल त्याग का धर्म है यह अधिभूत और मृत्यु अधिदैवत कहलाता है ॥२२॥ लिंग इन्द्रिय अध्यात्म है स्त्री आदि द्वारा जो आनंद का हेतु यह अधिभूत और प्रजापति उसके अधिदैव हैं ॥२३॥ मन अध्यात्म कहाता है उसमें जो मनन का विषय यह अधिभूत और उसमें चन्द्र यह अधिदैव है ॥२४॥ बुद्धि अध्यात्म है ऐसा कहा गया है उसमें जो जानने का विषय है वह अधिभूत और बृहस्पति उसके अधिदैव हैं ॥२५॥ इसी प्रकार अहंकार यह अध्यात्म है और अहंकार का विषय अधिभूत तथा उसमें अधिदैवत रुद्र है ॥२६॥ चित्त अध्यात्म है उसमें जो चिंतन का विषय यह अधिभूत और यहां क्षेत्रज्ञ यह अधिदैव है ॥२७॥ अज्ञान अध्यात्म उसमें जो विकार होता है वह अधिभूत और ईश्वर उसका अधिदैव कहा गया है ॥२८॥ इस प्रकार देवताओं के अनुग्रह से युक्त ऐसी कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा तथा अन्तःकरण द्वारा अपने २ विषय का जो कर्म तथा ज्ञान उत्पन्न होता है यह जागरित कहलाता है ॥२९॥

यह जाग्रत अवस्था और करण का आश्रय रूप ऐसा शरीर इन दोनों का जो अभिमानी है वह विश्व इस प्रकार कहलाता है ॥३०॥ इस विश्वका भेद की निवृत्ति के अर्थ विराट् रूपसे इसके पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और कर्मेन्द्रियां हैं ॥३१॥ कान त्वचा आंख नासिका और जीभ यह पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, और वाणी हाथ पग गुदा लिंगेन्द्रिय यह पांच कर्मेन्द्रियां हैं ॥३२॥ मन बुद्धि अहंकार और चित्त यह अन्तःकरण

चतुष्टय है इसमें मन सकल्प रूप है, तथा बुद्धि निश्चय रूप है ॥३३॥ इसी प्रकार अहकार अभिमानरूप कहा गया है और जो चित्त है वह स्मरण धर्म वाला कहाता है ॥३४॥ प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान यह पांच प्राण वृत्तियां कही गई है ॥३५॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी यह पाञ्च सूक्ष्म भूत है। ज्ञानेन्द्रिया, कर्मेन्द्रियां, अन्तःकरणों, प्राणों, भूतों और अविद्या, काम, तथा कर्म यह सब लिंग शरीर हैं इसको विद्वान् पर्युष्टक ऐसा जानते है ॥३६॥ प्रत्यग्आत्मा का यह सूक्ष्म शरीर मायिक है, इन्द्रियों के उपराम पाते हुये जाग्रत के सस्कार से उत्पन्न हुये ज्ञान की तरह ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करने वाला इन दोनों रूप करके जो स्फुरण होता है, वह 'स्वप्न' कहाता है, और इन दोनों का जो अभिमानी वह तैजस कहाता है ॥३७-३८॥ ज्ञानी पुरुष दोनों शरीर का कारण रूप और चैतन्य भास से युक्त ऐसे तैजस को हिरण्यगर्भ रूप चिन्तन करे ॥३९॥ आत्मा के आश्रय रहा जो अज्ञान वह अव्यक्त है, और वह अव्याकृत ऐसा कहाता है, वह सत् नहीं असत् नहीं, और सत् असत् नहीं आत्मा से भिन्न नहीं अभिन्न नहीं तथा भिन्नाभिन्न नहीं ॥४०॥ वह सावयव नहीं, निरवयव नहीं और उभय रूप भी नहीं, मिथ्या पने के ज्ञान से ब्रह्मात्मा के एक पने के विज्ञान से वह हेय है ॥४१॥ बाह्य तथा अन्तर ज्ञान का उपसहार और वट के बीज में वट की भांति बुद्धि के कारण पन में स्थित, वह सुषुप्ति कहाती है ॥४२॥ इन दोनों (ग्राह्य ग्राहक) का जो अभिमानी वह प्राज्ञ ऐसा कहाता है, मुमुक्षु प्रज्ञात्मा को कारण

जो ज्ञान का विषय यह अधिभूत है और उसमें अधिदैवत विष्णु है ॥२१॥ गुदा अध्यात्म कहाती है उसमें जो मल त्याग का धर्म है यह अधिभूत और मृत्यु अधिदैवत कहलाता है ॥२२॥ लिंग इन्द्रिय अध्यात्म है, स्त्री आदि द्वारा जो आनंद का हेतु वह अधिभूत और प्रजापति उसके अधिदेव हैं ॥२३॥ मन अध्यात्म कहाता है, उसमें जो मनन का विषय वह अधिभूत और उसमें चन्द्र यह अधिदैव है ॥२४॥ बुद्धि अध्यात्म है ऐसा कहा गया है उसमें जो ज्ञानन का विषय है वह अधिभूत और बृहस्पति उसके अधिदैव हैं ॥२५॥ इसी प्रकार अहंकार यह अध्यात्म है और अहंकार का विषय अधिभूत तथा उसमें अधिदैवत रुद्र है ॥२६॥ चित्त अध्यात्म है उसमें जो चिंतन का विषय वह अधिभूत और वहां क्षेत्रज्ञ यह अधिदेव है ॥२७॥ प्रकाश अध्यात्म उसमें जो विकार होता है वह अधिभूत और ईश्वर उसका अधिदैव कहा गया है ॥२८॥ इस प्रकार देवताओं के अनुग्रह से युक्त ऐसी कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा तथा अन्तःकरण द्वारा अपने २ विषय का जो कर्म तथा ज्ञान उत्पन्न होता है वह जागरित कहाता है ॥२९॥

यह जाग्रत अवस्था और करण का आश्रय रूप ऐसा शरीर इन दोनों का जो अभिमानी है वह विश्व इस प्रकार कहलाता है ॥३०॥ इस विश्वको भेद की निवृत्ति के अर्थ विराट् रूपसे देखे पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और कर्मेन्द्रियां हैं ॥३१॥ कान त्वचा आंख नासिका और जीभ यह पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, और वाणी हाथ पग गुदा लिंगेन्द्रिय यह पांच कर्मेन्द्रियां हैं ॥३२॥ मन बुद्धि अहंकार और चित्त यह अन्तःकरण

यह सर्व जगत् दुःख रूप है उस हेतु से सर्व का परित्याग करके सदा तत्व में है निष्ठा जिसकी ऐसा होय ॥५४॥ जो योगी सर्व व्यापक, शान्त, आनन्द रूप और अद्वय ऐसे आत्मा को देखता है, उस योगी को दूसरा कोई पाने योग्य या जानने योग्य शेष नहीं रहता ॥५५॥ सर्व प्राणियों के अन्तःकरण मे स्थित वासुदेव परब्रह्म को जो देखता है वह विद्वान् कृत कृत्य होता है, और सदा जीवन मुक्त होता है ॥५६॥ वह जो व्यवहार में कभी २ द्वैत को देखता है, परन्तु चैतन्य के अन्वय से बोधात्मा से व्यतिरेक रूप नहीं देखता। किन्तु दिशा की भ्रांति और चन्द्र के विभाग की तरह वह द्वैत को मिथ्या रूप ही देखता है और शरीर की प्रतीति तो प्रारब्ध के संचय होने से होती है ॥५७-५८॥ उसके विदेह कैवल्य में प्रारब्ध के क्षय पर्यन्त की ही विलब है; इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है प्रारब्ध की अनुवृत्ति तो मुक्तको आभास मात्र सी है ॥५९॥ जाना है तत्व जिसने ऐसा वह पुरुष सर्वदा मुक्त ही है, और प्रारब्ध भोग के शेष का भली-उत्तम प्रकार नाश हुये पश्चात् अविद्या रूप अन्धकार से पर, सर्व आभास से अत्यन्त रहित, चैतन्य रूप, निर्मल, शुद्ध, मन वाणी का अविषय। वाच्य वाचक से निर्मुक्त त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य से रहित सर्वज्ञान का घनरूप और आनन्द रूप ऐसे परमात्म पद को वह पाता है ॥६०-६१-६२॥ यह प्रकरण अमानीपन-गर्व रहितता आदि नियमों से और गुरु भक्ति के प्रसाद से पवित्रतम पुरुषों को यत्न से जानने योग्य है ॥६३॥ इस लोक परलोक के भोगों में आसक्ति रहित बुद्धि वाला

रूप से चिंतन करे ॥४३॥ चैतन्य रूप एक तत्त्व प्रति प्रति देह में विश्व, तैजस, प्राज्ञ विराट सूत्रात्मा और अव्याकृत रूप से भेद पाया हुआ मालूम होता है ॥४४॥ इसमें विश्वादिक जो तीन यह वैराजादिक तीन रूप हैं इससे दूसरों के अभाव की भली प्रकार सिद्धि के अर्थ एकपन एकत्व से ही देखे ॥४५॥ वाच्य वाचक के अभेद से तथा पृथकपन के अभाव होजाने से विश्व तथा प्राज्ञादि लक्षण वाला समस्त जगत ॐकार मात्र है ॥४६॥ अकार मात्रा यह विश्व है उकार को तैजस कहा है, और जो मकार है यह प्राज्ञ है इस प्रकार क्रम देखे ॥४७॥ समाधि के समय से प्रथम बहुत प्रयत्न से ऐसा विचार कर क्रम से स्थूल सूक्ष्म सर्व का चिदात्मा के विषे लय करे ॥४८॥ विराट् और विश्व रूप अकार का उकार में भली प्रकार लय करे सूत्रात्मा तथा तैजस रूप उकार का मकार में भली प्रकार लय करे ॥४९॥ अव्याकृत और प्राज्ञरूप मकार का चिदात्मा के विषे भली प्रकार लय करे जो मैं चिदात्मा नित्य शुद्ध नित्य बुद्ध नित्य मुक्त सद्रूप, अद्वय, परमानन्द का समुद्र रूप और वासुदेव रूप हूँ वह मैं ॐकार रूप हूँ ऐसा जानकर विवेचन करने वाला जो चित्त उसका उसके साक्षिरूप चिदात्मा में भली प्रकार लय करे ॥५०—५१॥ चिदात्मा के विषे विलीन किये हुये उस चित्त को फिर कुछ भी चलायमान न करे और पूर्ण तथा अचल समुद्र की तरह पूर्ण बोध रूप निश्चल (स्थिर) होय ॥५२॥ इस रीति से श्रद्धा भक्ति युक्त, जितेन्द्रिय जितक्रोध और एकाग्रचित्त वाला योगी अद्वय आत्मा को देखे ॥५३॥ जिस हेतु से आदि मध्य अन्त में

यह सर्व जगत् दुःख रूप है उस हेतु से सर्व का परित्याग करके सदा तत्व मे है निष्ठा जिसकी ऐसा होय ॥५४॥ जो योगी सर्व व्यापक, शान्त, आनन्द रूप और अद्वय ऐसे आत्मा को देखता है, उस योगी को दूसरा कोई पाने योग्य या जानने योग्य शेष नहीं रहता ॥५५॥ सर्व प्राणियों के अन्तःकरण मे स्थित वासुदेव परब्रह्म को जो देखता है वह विद्वान् कृत कृत्य होता है, और सदा जीवन मुक्त होता है ॥५६॥ वह जो व्यवहार मे कभी २ द्वैत को देखता है, परन्तु चैतन्य के अन्वय से वोधात्मा से व्यतिरेक रूप नहीं देखता। किन्तु दिशा की भ्रांति और चन्द्र के विभाग की तरह वह द्वैत को मिथ्या रूप ही देखता है और शरीर की प्रतीति तो प्रारब्ध के संचय होने से होती है ॥५७-५८॥ उसके विदेह कैवल्य में प्रारब्ध के क्षय पर्यन्त की ही विलब है; इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है प्रारब्ध की अनुवृत्ति तो मुक्तको आभास मात्र सी है ॥५९॥ जाना है तत्व जिसने ऐसा वह पुरुष सर्वदा मुक्त ही है, और प्रारब्ध भोग के शेष का भली-उत्तम प्रकार नाश हुये पश्चात् अविद्या रूप अन्धकार से पर, सर्व आभास से अत्यन्त रहित, चैतन्य रूप, निर्मल, शुद्ध, मन वाणी का अविषय। वाच्य वाचक से निर्मुक्त त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य से रहित सर्वज्ञान का घनरूप और आनन्द रूप ऐसे परमात्म पद को वह पाता है ॥६०-६१-६२॥ यह-प्रकरण अमानीपन-गर्व-रहितता आदि नियमों से और गुरु भक्ति के प्रसाद से पवित्रतम पुरुषों को यत्न से जानने योग्य है ॥६३॥ इस लोक परलोक के भोगों मे आसक्ति रहित बुद्धि वाला

निर्मल बुद्धि वाला योगी इस विद्या का सर्वदा संध्या काल में प्रयत्न से भली प्रकार अभ्यास करे ॥५४॥ जो पुरुष राग-द्वेष से रहित होकर निरन्तर आत्मा का चिन्तन करता है वही जीवन मुक्त है और उसे पुनर्जन्म का सम्भव नहीं ॥५५॥

* इति *

श्री शङ्कराचार्य मंडन मिश्र के प्रति कहते हैं:—

प्रणवाभ्यसनाच्च कर्मणा ।
करणेनापि गुरोर्निषेवणात् ॥
क्षयं गच्छति मानसं मलं ।
क्रमतस्तस्य मुक्तिरितं ततः ॥

अर्थात्—हे मंडन पण्डित! ओंकार का निरन्तर जप करने से, शास्त्र की आज्ञानुसार निष्काम कर्म करने से और गुरु की सेवा करने से मन के मल दूर हो जाय तब यह मन गुरु के कहे हुए आत्मतत्व को धारण करने में समर्थ होता है।

हरिरेकः सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्व संस्थितैः ।
ओमित्येवं सदा विप्राः पठत ध्यात केशवम् ॥

अर्थः—आप लोगों को सत्व गुण में स्थित होकर निरंतर एक श्रीहरि का ही ध्यान करना चाहिये। हे विप्रगण! ॐ इस प्रकार सदा जप करो और केशव का ध्यान करो।

—(महाभारत)

आचार्य प्रह्लाद के प्रति कहते हैं:—

बेटा प्रह्लाद ! वैष्णव धर्म में सबसे अधिक महत्त्व गुरु का ही माना गया है। ऋषियों ने कहा है कि:—

वालमूक जडान्धश्च पङ्गवो बधिरस्तथा ।
सदा चार्येण संदृष्टाः प्राप्नुवंति परांगतिम् ॥१॥
गुरुणा योऽभिमन्येत गुरुं वा योऽभिमन्यते ।
तावुभौ परमां सिद्धिं नियमादुप गच्छतः ॥२॥

—(नारद पञ्चरात्र)

अर्थात्ः - शिष्य चाहे बाल कहो, मूक हो, जड हो, अन्ध हो, पङ्गू हो, और चाहे बधिर हो, किन्तु मदीयत्व के अभिमान के साथ यदि उसको अच्छे आचार्य कृपा दृष्टि से देखते हैं तो शिष्य अवश्य ही परमपद-मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जिस शिष्य को गुरु अपना रक्ष्य मानते हैं अर्थात् जिस शिष्य की रक्षा का भार सद्गुरु अपने ऊपर समझते हैं और जो शिष्य सद्गुरु को अपना रक्षक-मोक्ष प्रदाता समझते हैं, वे दोनों ही शिष्य-प्रपत्ति के नियमानुसार परम सिद्धि-मोक्ष को प्राप्त होते हैं अतएव हे राजकुमार ! तुम हम गुरुओं को अपना रक्षक मानो हम लोग यदि तुमको अपना रक्ष्य न मानते तो तुम्हारे साथ इतनी माथा पच्ची न करते और अबसे बहुत पहिले ही तुमको तथा तुम्हारे दूसरे साथियों को दैत्यराज के कठोर हाथों में सौंप कर यह कह देते कि ये पागल होगये हैं और इनको सम्भालना हमारी शक्ति के बाहर है परन्तु हम

तुम्हारा सच नहीं कल्याण चाहते हैं तुम हम पर विश्वास करो। वैष्णव धर्म के अनुसार ही तुम विश्वास करो, तुम्हारे हरि तुमको परमपद अर्थात् मोक्ष देंगे।

इस पर प्रह्लाद कहता है:—

'आचार्य चरण' इसमें सन्देह नहीं कि आपने हमको शास्त्रज्ञान दिया है आप लोग हम लोगों के गुरु हैं और पिता के पद से भी अधिक पूज्य हैं किन्तु वैष्णवता के गुरु नहीं। वैष्णव धर्म में उसके उपदेश के लिये सद्गुरु की आपने जो महिमा कही है उसके लिये भी आप सद्गुरुपद के लिये योग्य हो जायें तो मेरे हर्ष का पारावार न रहे। इसी अभिप्राय से तो मैं आप लोगों से बारम्बार कहता हूँ कि आप लोग भी हरिभक्त होकर एकबार कहें तो 'हरे र्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्' फिर क्यों हम लोग आपको अपना विद्या गुरु ही नहीं धर्म गुरु भी मानने लगें और फिर आपको यह पाठशाला वैष्णव शाला बने, संसार के न जाने कितने पतित पामर प्राणियों की उद्धार शाला बन जाय। गुरु जी! वैष्णव शास्त्रों में जहां सद्गुरु की इतनी महिमा कही गई है वहां उसके लक्षण और आचार भी तो कहे हैं:—

श्रुतियों में कहा है —

> अन्य या मति मत्सरा याम वैराग्य भूरिमः।
> स्वधर्मे निरता नित्य महद्भ्यात्मार्येनां द्विजः॥

नाचार्य कुल जातोऽपि ज्ञात भक्त्यादि वर्जितः ।
न च हानि वयो जातिः प्रकृष्टा नाम नापदि ॥
—(भारद्वाज सहिता)

अर्थात्:—वे ब्राह्मण, आचार्य पदके योग्य होते हैं जो स्वयं भक्त हों ज्ञान एवं वैराग्य के गुणों से भूषित अपने कर्म के करने वाले हों, ब्राह्मण एवं गुरु कुलमें उत्पन्न होने पर भी ज्ञान-भक्ति आदि से रहित व्यक्ति आचार्य पद के योग्य नहीं होते और उत्कृष्ट जाति एव उत्कृष्ट वय के शिष्य के विषे हीन वय एव हीन जाति का व्यक्ति आचार्य पदके योग्य नहीं होता इसी कारण हम लोग चाहते हैं कि आप भगवद्भक्त होकर हम लोगों के सर्वथा आचार्य बनकर हम लोगों का उद्धार करें।

सद्गुरु-लक्षणः—

लोह कु ज्यूं पारस पाषानहु पलटि लेत ।
कचन छुवत होत, जगमें प्रमानिये ॥
द्रुम कुं ज्यू चन्दन, पलट ही लगाय वास ।
आपके समान ताकु शीतलता आनिये ॥
कीट कुं ज्यूं भृंगिहु, पलट के करत शृंगि,
साउ उडि जाइ ताको अचरज मानिये ॥
सुन्दर कहत यह सगरे प्रसिद्ध बात,
सद्य शिष्य पलटै सो, सद्गुरु जानिये ॥१॥

पढ़े के न बैठे पास, अक्षर न बांचि सकै,
विन ही पढेते कैसे आवत है फारशी ।

ॐ गुरु से बढ़कर शिष्य न, नहिं कोई जग माँहीं,
ॐ नहिं कोई जग माँहीं । गुरु बिन मोक्ष न होय,
ॐ गुरु बिन मोक्ष न होय, निगमागम गाई ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे शिष्य ! जिस प्रकार शिष्य के लिये गुरु से बढ़कर संसार में कोई नहीं है, उसी प्रकार गुरु की दृष्टि में भी उत्तम साधक-शिष्य से बढ़कर प्रिय कोई नहीं है । क्योंकि उनकी दृष्टि में संसार तो तीनों काल में रहता नहीं, केवल ज्ञान (मुक्ति) रहती है । उसे यदि शिष्य न हो तो किसे देवें ?

लहरी के मिथ बिन परखि न जानै कोई ।
हाथ नग लिये रहै संशय न जाय सो ॥
बहु दुःख न मिट्यो काहु बूटी के बताए देत,
भेद बिनु पाये वाके औषध है आरसी ।
सुन्दर कहत मुख रचहू न देख्यो जाय,
गुरु बिन ज्ञान जैसे अंधेरे में आरसी ॥४॥

८—प्रिय शिष्यः—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः
॥ २ । १२ ॥

यमाचार्य ने कहाः—हे नचिकेता ! मैंने तुमको पुत्र-पौत्रों का लोभ दिया प्रिय आकृतिवाली सुन्दर स्त्रियों का लोभ

"बिना शिष्य के मुक्ति-(ज्ञान) का प्रकाश नहीं (उपयोग नहीं) और बिना मोक्ष के गुरु-पद की सिद्धि नहीं," यह वेद शास्त्र का कथन है, इसलिये तू सब चिन्ता त्याग मुमुक्षुवन, हे प्रणवरूप, प्रिय आत्मा, गुरुदेव स्वरूप प्राप्त कर मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! ॥२॥

दिया, और समस्त संसार के सुखों का प्रलोभन दिया परन्तु-तूने इनको दुःख रूप विचार करके स्वीकार नहीं किया। मैंने तुझे इस सांसारिक धन के क्रम का-जिसमें प्रायः मनुष्य लिप्त है—भी लाभ दिया। परन्तु—इनमें से तूने किसी भी वस्तु को प्राप्त करना स्वीकार नहीं किया। और भी जितनी एषणा अर्थात्-राज्य और प्रभुत्व की इच्छा है, उसका लोभ दिया, परन्तु-तूने उसे भी स्वीकार नहीं किया। सारॉश यह कि-जितनी बाधाएँ आत्मज्ञान के मार्ग में हैं उन सबको पेश किया परन्तु-तू किसी बाधा से नहीं रुका-और न किसी वासना में लिप्त हुआ, अतः-तेरी बुद्धि पूर्ण प्रशसा के योग्य है। क्योंकिः-

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपिबहवो यं नविद्युः। आश्चर्योस्य वक्ता कुशलोस्य लब्ध्वाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७। ३६ ॥

—यमाचार्य बताते हैं-जिस ब्रह्मविद्या को श्रवण के वास्ते भी बहुत से मनुष्यों को अवसर नहीं मिलता (अर्थात्-न तो योग्य आचार्य मिलता है और न प्रबल इच्छा ही उसके जानने की होती है) तथा-प्रायः मनुष्य इस ब्रह्मविद्या को पढ़ते और

सुनते हैं, तो भी इसकी वास्तविक दशा को भली प्रकार नहीं जान सकते। क्योंकि-जगत् में नियम ही यह है। प्रथम तो रत्नों की दूकानें ही बहुत कम होती हैं, दूसरे इसके ग्राहक भी बहुत कम होते हैं। लाखों करोड़ों जीवों को तो रत्नों का नाम तक नहीं मालूम। और बहुत से मोल लेने की शक्ति ही नहीं रखते और जो रखते हैं, वह पहिचान नहीं सकते। ऐसे ही बहुत से लोग ब्रह्मविद्या की इच्छा रखते हैं, परन्तु-ब्रह्मविद्या के पास आकर भी अल्प-विद्या के कारण ब्रह्म-विद्या को पहिचान नहीं कर सकते। वास्तव में ब्रह्म विद्या के जानने वाले आचार्य (जो इसका उपदेश करें) बहुत थोड़े मिलते हैं।

पूर्ण-विद्वान् मनुष्य ही विद्या को प्राप्त कर सकता है। इस विद्या को जानना सरल नहीं है; क्योंकि-जब तक 'ब्रह्म-श्रोत्रिय' अर्थात् ब्रह्मविद्या को जानने वाला और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात्-अनुभवी आचार्य उपदेश करने वाला न मिले तब तक इस को' जान नहीं सकता। परन्तु-आचार्य की जाँच महा कठिन है क्योंकि-जो ब्रह्मविद्या को जानते हैं वह कहते नहीं और जो कहते हैं वे जानते नहीं अतएव-इसका पता लगाना महा कठिन है। क्योंकि जो कहे कि-मैं ब्रह्मविद्या जानता हूँ वह वास्तव में कुछ भी नहीं जानता, इसलिये उस से शिक्षा पाना व्यर्थ है। और जो जानने का प्रण न कर उसे हम किस प्रकार समझ सकते हैं कि-यह जानता है इसमें शिक्षा लेनी चाहिये। क्योंकि-ब्रह्म-विद्या के पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों ही कठिनता से दृष्टि पड़ते हैं।

(यमाचार्य ने इस कथन से यह प्रकट किया है कि-नचिकेता तू बड़ा ही बुद्धिमान् है, जो ब्रह्मविद्या को सीखना चाहता है) ।

मंत्रः—नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यं धृतिर्वतासित्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥
॥ ६–३८ ॥

अर्थ.—यमाचार्य ने कहा–हे नचिकेता ! तू मेरी दी हुई उस विद्या को तर्क करके नष्ट नहीं कर देता, क्योंकि–यह तर्क से भी बलवान् वेद के जानने वाले आचार्य का उपदेश है। तर्क मे भूल हो सकती है, यथा–'हेतु' की जगह 'हेत्वाभास' अर्थात् धोखा देखने में आता है। परन्तु–वेद का उपदेश सत्य ज्ञान के वास्ते है। हे प्रिय पुत्र ! जिस ब्रह्म-विद्या को तू ने प्राप्त किया है, उसको सत्य और धैर्य के साथ क्रिया से पूर्ण होकर काम मे ला। आचार्य ने कहा–हे नचिकेता ! मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि–तेरे जैसा और भी विद्यार्थी मुझको मिले, क्योंकि–अधिकारी विद्यार्थी के पढ़ाने से ऋषि-ऋण पूरा होता है। आशय यह है कि–जिस समय किसी गुरु को अधिकारी विद्यार्थी मिल जाता है, तो उसको इतनी प्रसन्नता होती है कि–जिसकी सीमा नहीं। गुरु के लिये 'सत् शिष्य' के समान प्रिय त्रिलोक में कोई वस्तु नहीं होती है।"

—(कठोपनिषद्)

शिष्य-प्रशंसा.—

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावित ते कुलं त्वया ।

ॐ गुरु कीरती[६] अपरोक्ष, मुमुक्षु जन करता,
ॐ मुमुक्षु जन करता । नुगरा कुमक[१] करके,
ॐ नुगरा कुमक करके, शून्य मोक्ष से होता ॥

ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ २ ॥

भावार्थः—हे शिष्य ! जो मुमुक्षु होता है वह अपरोक्ष गुरुदेव की अपरोक्ष–प्रत्यक्ष कीर्ति गुण चिन्तन करता है और नुगरा कुतर्कणा करके मोक्ष से शून्य–विमुख होता है, निश्चय

यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ॥५२॥

गुरु कहते हैं—हे शिष्य ! तू धन्य है, कृतकृत्य है, तेरा कुल तुझ से पवित्र हो गया । क्योंकि–तू अविद्या रूपी बंधन से छूटकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होना चाहता है ।

> ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
> बन्धमोचनकर्ता तु, स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥५३॥

अर्थात्—पिता के ऋण को चुकाने वाले तो पुत्रादि भी होते हैं, परन्तु–भव बन्धन से छुड़ानेवाला अपने से भिन्न कोई नहीं है ।

—(विवेक चूड़ामणि)

६—गुरु कीर्तिः

> यावदायुस्त्वयो वंद्यो, वेदान्तो गुरुरीश्वरः ।
> मनो वाक्कायसिद्ध्यर्थं स्तुत्यमन्वापत्तये ॥१॥

करके कुतर्क करने से मोक्ष से शून्य होता है ।

हे प्रणव प्रिय आत्मा! गुरुदेव (परमात्मा) की भांति मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! ॥ ३ ॥

अर्थात्ः—जब तक शरीर की आयु है, तब तक वेदान्त-शास्त्र और उसके उपदेष्टा गुरु तथा—ईश्वर इन तीनों की वन्दना करना योग्य है। क्योंकि—ज्ञान होने के प्रथम तो ज्ञान प्राप्ति के लिये वेदान्त शास्त्र का श्रवण, गुरु सेवा और ईश्वर भक्ति कर्तव्य है। और ज्ञान होजाने के पश्चात्—कृतघ्नता रूप पाप की निवृत्ति के लिये इनका सेवन उचित है। क्योंकि, जिन वेदान्त, गुरु और ईश्वर की कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ है, उनके उपकार को भूलने से ही कृतघ्नता की प्राप्ति होगी। इस हेतु-कृतघ्नता रूपी महा पाप से बचने के लिये ज्ञान होजाने पर भी निरन्तर वेदान्त, गुरु और ईश्वर की सेवा करते रहना चाहिये। अर्थात्—परिपूर्ण, अखण्ड, एक रस, परमात्मा के ज्ञान द्वारा दुस्तर ससार—सागर से तरने और कृतघ्नता दोष की निवृत्ति के लिये, ईश्वर और गुरु में भक्तिपूर्वक, देहपात-पर्यन्त, वेदान्त—शास्त्र का विचार करते हुए, काल व्यतीत करना चाहिये।

—(पञ्चीकरण)

सोरठाः—ह्वै जबही गुरु संग, करै दण्ड जिमि दण्डवत ।
धारै उत्तम अंग, पावन पाद सरोज रज ॥१॥

*　*　*　*

चौपाई:—

गुरु समीप पुनि करिये बासा।
जो अति उत्कट हुवै जिज्ञासा ॥
तन मन धन सब अर्पी देवे।
जा चाहै हिय बन्धन छेवे ॥
तन करि बहु सेवा विस्तारे।
आज्ञा गुरु की कबहुं न टारे ॥
मनमें प्रेम नाम सम राखे।
ह्वै प्रसन्न गुरु इमि अभिलाषे ॥
हाथ दृष्टि स्वपन महि आवे।
हरिहर ब्रह्म एग रवि जाव ॥
गुरु-मूरति को हिय में ध्याना।
धारे जो चाहे कल्याणा ॥

—(विचार सागर तरंग ३ । १३ । १५

काकभुसण्डी जी गरुड़ जी के प्रति अपनी पूर्व जन्म की
कथा कहते हुए कहते हैं:—हे गरुड़ जी ! मैं बहुत वर्षों तक
अयोध्यापुरी में रहा फिर अकाल पड़ा तो विपत्ति के वश मैं
परदेश को गया। हे गरुड़ जी ! सुनो, मैं दीन, मलीन, दरिद्र
और दुःखी होकर उज्जैन नगरी को गया। वहाँ कुछ समय
बीतने पर मुझे कुछ सम्पत्ति मिल गई तो फिर महादेव की
सेवा करने लगा। वहाँ एक ब्राह्मण वेद की रीति से महादेव
की पूजा सदा किया करता था। उसे और दूसरा कुछ काम
नहीं था। सो वह बड़ा साधु, परमार्थ को जानने वाला

महादेव का उपासक था, और भगवान् की निन्दा नहीं करता था। मै कपट से उसकी सेवा करने लगा। परन्तु-ब्राह्मण बडा नीति का जानने वाला और दयालु था हे स्वामी ! उस ब्राह्मण ने मुझे बाहर से नम्र देखकर पुत्र की भांति पढ़ाया। श्रेष्ठ ब्राह्मण ने मुझको महादेव का मंत्र दिया और अनेक प्रकार से अच्छा उपदेश किया। मै नित्य महादेव के मन्दिर में जाकर मंत्र जपा करूं, परन्तु-हृदय में कपट और अहंकार विशेष हो गया। मै दुष्ट, पापबुद्धि, नीच जाति और ऐसा अज्ञान के वश था कि-ब्राह्मण और हरिभक्तों को देखते ही जल जाता और विष्णु से वैर करता था।

गुरु जी मुझको नित्य समझाते (कि-देव-देव में, गुरु-गुरु में, गुरु-देव में भेद-बुद्धि रखना अच्छा नहीं), और मेरे आचरणों को देखकर दुखी रहते। परन्तु, मुझे बड़ा क्रोध होता, क्योंकि पाखण्डी को कही नीति अच्छी लगती है ? अर्थात्-नही लगती।

एकबार गुरु जी ने बुलाकर मुझे बहुत प्रकार की नीति सिखाई कि-"हे पुत्र ! महादेव की सेवा का यही फल है कि-रामचन्द्र जी (विष्णु-गुरु) के चरणों मे अचल भक्ति हो। प्यारे ! महादेव और ब्रह्मा तक रामचन्द्र जी का भजन करते हैं, फिर क्षुद्र मनुष्य का क्या कहना ? जिसके चरणों से देव, दानव, असुर और मनुष्य सभी प्रीति करते है, उससे विमुख होकर सुख चाहे सो अभागा है।"

हे गरुड़ ! (एक दिन) गुरु ने महादेव को विष्णु भगवान् का उपासक कहा। यह सुनकर मेरा हृदय जलने लगा। मैं नीच जाति विद्या पाने से ऐसा होगया—'पयः पानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनम्। उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये ॥' अर्थात्—जैसे सर्पों को पिलाया दूध उनमें केवल विष को बढ़ाता है, वैसे ही-मूर्खों को दिया हुआ उपदेश उनमें शान्ति के बजाय क्रोध ही बढ़ाता है। मैं अभिमानी, कुटिल दुर्भाग्य और नीच-जाति ऐसा होगया कि-रातदिन गुरु से द्रोह करने लगा। परन्तु-गुरु बड़े कृपा करने वाले थे, उन्हें थोड़ा भी क्रोध नहीं था बारम्बार मुझे अच्छा ज्ञान सिखाया करते थे। परन्तु नीच जिससे बड़ाई पाता है, उसे ही वह पहले हठ पूर्वक नाश करना चाहता है। हे भाई ! सुनो धुँआ अग्नि से उत्पन्न होता है परन्तु-यह बादल की पदवी पाकर उसको बुझा देता है। जैसा कि कहा है:—'कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कम्। प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति ॥' अर्थात्—खल मनुष्य किये हुये उपकार को सर्पवत् दुग्ध के समान निर्भय पीकर, उलटा उपकारी के नाश लेने का यत्न करता है। धूल मार्ग में निरादर से पड़ी रहती है और नित्य सबके पैरों की लातें सहती है। पर पवन के उड़ान से पहिले तो बस पवन ही में भर जाती है और फिर राजाओं के नेत्र और मुकुटों में पड़ती है। हे गरुड़ जी ! सुनो ऐसा प्रसंग समझकर बुद्धिमान् लोग नीचों का साथ नहीं करते। कवीश्वर और पण्डित ऐसी नीति कहते हैं कि-'दुष्टों से बैर और प्रीति दोनों अच्छे नहीं। हे गोसाँई ! अधम प्राणि

उदासीन रहना और उनको कुत्ते की भांति त्याग देना चाहिये।' मैं ऐसा दुष्ट, हृदय का कपटी और कुटिल था कि–गुरु तो हित की कहैं और मुझे अच्छा न लगै।

मै एकवार महादेव जी के मंदिर मे शिव जी का नाम जपता था, सो गुरु चले आये तो मैंने अभिमान के मारे उठ-कर प्रणाम नहीं किया। उन कृपालु गुरुदेव ने न तो कुछ कहा और न उनके हृदय में लेशमात्र क्रोध हुआ। परन्तु गुरु के निरादर रूप वड़े पाप को महादेव जी नहीं सह सके। सो मन्दिर मे आकाशवाणी हुई कि—'अरे अभागे! अरे नीच, अभिमानी! यद्यपि तेरे गुरू को जरा भी क्रोध नहीं और चित्त के कृपालु और वडे ज्ञानवान् हैं:—

चौपाई.—तदपि साप देहौं शठ तोहीं,
नीति विरोध सोहाइ न मोहीं।
जो नहिं करौं दंड खल तोरा,
भ्रष्ट होइ श्रुति-मारग मोरा॥

तो भी हे मूर्ख! मै तुझे शाप दूगा। क्योंकि मुझे नीति-विरोध अच्छा नहीं लगता। अरे खल! जो तुझे दण्डित नहीं करूंगा तो मेरा वेद-मार्ग भ्रष्ट होजायगा।

[वेदमार्ग.—'गुरु दृष्ट्वा समुत्तिष्ठेदभिवाद्य कृताञ्जलि.']

अर्थात्:—गुरु को देखते ही नमस्कार करके, अञ्जली बांध कर स्थित होजाय। तन्त्रसार में लिखा है:—

"गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदग्रतो न तम्।
स दुर्गतिमवाप्नोति पूजा च विफला भवेत्" ॥

अर्थात्—गुरु के पास आने पर जो आगे बढ़ कर उनका सत्कार नहीं करता, वह दुगति को प्राप्त होता है, उसकी सब पूजा निष्फल होजाती है। ज्ञानार्णव में आता है:

"गुरुः पिता गुरुर्माता, गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥ १ ॥
गुरोर्हितं प्रकर्तव्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः।
अहितावरणादेवि विष्ठायां जायते कृमिः ॥ २ ॥"

अर्थात्—गुरु ही माता, पिता, देवता और सद्गति है। यदि शिव रुष्ट होजायें तो गुरु बचालें और जो गुरु रूठ जायें तो बचाने वाला कोई नहीं है। इसलिये गुरु का हित मन कर्म वचन से करना चाहिये। महादेव जी कहते हैं:— 'हे देवी! गुरु के विरुद्ध चलने से मनुष्य विष्ठा का कीड़ा होता है'। इसी प्रकार कियासार ग्रन्थ में लिखा है:—

गुरुर्माता पिता स्वामी बान्धवः सुहृदः शिवः।
इत्याधाय मनो नित्यं भजेत् सर्वात्मना गुरुम् ॥

अर्थात्—गुरु ही माता पिता, स्वामी बांधव मित्र और शिव है, ऐसा ध्यान करके तन मन से शिष्य गुरु का भजन करना चाहिये।

चौपाई:—जे शठ गुरु सन ईर्ष्या करहीं,
रौरव नरक कल्पसत परहीं।
तिर्यक् योनि पुनि धरहिं सरीरा,
अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा॥

अर्थात्:—जो मूर्ख, गुरु से ईर्ष्या करते हैं, वे सौ कल्प तक रौरव नरक में पडते हैं, फिर तिर्यक् योनि में (पक्षी आदि का) शरीर धारण करके दस हजार जन्म तक दुःख भोगते हैं।

चौपाई.—वैठि रहेसि अजगर इव पापी,
सर्प होहु खल मल मति व्यापी।
महा विटप कोटर महँ जाई,
रहुरे अधम अधोगति पाई॥

"अर्थात्.—अरे पापी! तू अजगर की भांति वैठा रहा, इस कारण जा सर्प होजा अरे खल! तेरी बुद्धि मे पाप समा गया है, हे नीच! किसी बड़े वृक्ष के घोंसले मे जाकर अधोगति को पाकर रह"।

महादेव जी के कठिन शाप को सुन कर गुरु ने वड़ा हाहा कार किया, और महादेव के सन्मुख हाथ जोड़ कर गद्गद् वाणी से स्तुति करने लगे:—

"हे शंकर, स्वामी, मुक्त-स्वरूप, समर्थ, व्यापक, ब्रह्म, वेद-मूर्ति! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे जन्म रहित, निर्गुण,

सकल्प विकल्प-रहित सदा-सहित, ज्ञानस्वरूप सूक्ष्म और आकाशों में पसम वाले ! आपको भजता हूं।"

"हे उमा नाथ ! जब तक आपके चरण-कमलों का स्मरण न कर तब तक मनुष्यों को इस लोक और परलोक में सुख शान्ति नहीं होती है और न सताप का नाश होता है। इस लिये, हे सब-प्राणियों में व्यापक प्रभु ! आप प्रसन्न होओ।"

* * * *

सर्वेश महादेव जी विनती सुन कर और ब्राह्मण की प्रीति देख कर प्रसन्न हुये और मन्दिर म फिर आकाश वाणी हुई कि-हे ब्राह्मण ! 'वरदान मांग' तब गुरु बोले—

'हे स्वामी ! जो मुझ पर प्रसन्न हो और दीन पर प्रेम है, तो-हे नाथ ! अपने चरणों की भक्ति दो। हे कृपासिंधु भगवान्! और दूसरा वरदान यह दो कि-यह मूर्ख जीव आपकी माया के वश निरंतर भूला हुआ फिरता है। हे प्रभो! इस पर क्रोध नहीं करना चाहिये हे दीनदयालु शंकर! अब इस (मेरे शिष्य) पर वैसी कृपा करो जिससे—हे नाथ! थोड़े ही समय में यह शाप मिट जाय। हे दयासागर ! इसका अत्यन्त कल्याण हो, वही करो।" ब्राह्मण की परोपकार-युक्त वाणी सुन कर आकाश-वाणी हुई—"एवमस्तु" अर्थात्-ऐसा ही होय। यद्यपि इसने कठिन पाप किया और फिर मैंने भी क्रोध करके शाप दे दिया तो भी तुम्हारी साधुता देख कर इस पर बहुत कृपा करूंगा। हे भाई ! अब मेरे सत्य

वचन सुन, ब्राह्मण (गुरु) की सेवा करना यही भगवान् को प्रसन्न करने का व्रत है। अब ब्राह्मण का निरादर मत करना और संतों को भगवान् के समान जानना। हे ब्राह्मण! मेरा शाप निष्फल तो नहीं जायगा, और हजार जन्म तक यह उसे अवश्य भोगेगा। परन्तु, जन्म लेने में और मरने में जो कठिन दु:ख होता है, वह इसको कुछ भी नहीं व्यापेगा।" गुरु ने प्रेमयुक्त हो महादेव जी के वचन सुने और "ऐसा ही होगा" यों कह कर मुझे समझाया, और महादेव के चरणों को हृदय में रख के घर को गये। काल की प्रेरणा से मैं विन्ध्याचल में सर्प हुआ। फिर कुछ समय बीतने पर अनायास ही वह शरीर छोड़ दिया। हे गरुड जी! इसी प्रकार नानाप्रकार के शरीरों को धारण कर छोड़ता रहा, पर श्री गुरुदेव की कृपा से मेरा ध्यान स्थिर रहा।"

गुरुकीर्ति अपरोक्ष करने की रीति।

श्लोकः—श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकाम्, हतो यो ब्रह्मवित्तमः॥
ब्रह्मण्यः पुरतः शान्तो, निरिन्धन इवानलः।
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्॥
तमाराध्य गुरुं भक्त्या, प्रह्वप्रश्रयसेवनै।
प्रसन्न तमनुप्राप्य, पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मन.॥

अर्थात्—जो श्रोत्रिय हों, जाने-आने वाले न हों, निष्काम हों, ब्रह्मवित् हों, ब्रह्मनिष्ठ हों, निरिन्धन अग्नि के समान शान्त हों, अहेतुक दयासिंधु हों और शरणापन्न सज्जनों के बन्धु

(हितैषी) हाँ। उन गुरुदेव की विनीत और विनम्र सेवा से आराधना करके उनके प्रसन्न होने पर निकट जाकर अपना वक्तव्य इस प्रकार पूछे—

> स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो,
> 　　कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ।
> मामुद्धरात्मीय कटाक्ष दृष्ट्या,
> 　　ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या॥

अर्थात्—"हे शरणागत वत्सल करुणासागर प्रभो! आपको नमस्कार है। संसार-सागर में पड़े हुये मेरा अपनी कारुण्यामृतवर्षिणी अति सरल कृपा कटाक्ष से उद्धार कीजिये।

—(विवेकचूडामणि)

(ध) उपगम्य गुरुं विप्रमाचार्यं तत्त्ववेदिनम्।
ज्ञानिनं सद्गुणोपेतं ध्यानयोगपरायणम्॥
सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वशास्त्रविदव्ययम्।
सर्वोपायविधिज्ञोऽपि तत्त्वहीनस्तु निष्फलः॥
यस्याप्रभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्र प्रवर्तते।
तस्यावलोकमात्रेण परानन्दोऽभिजायते॥
तस्माद्यस्यैव सम्पर्कात् यथाधानन्द सम्भवः।
गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान्नरः" ॥

—(शिवपुराण वि० सं० अ० १३।४८-४९-५४-५५)

ॐ गुरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, लक्षण श्रुति कहती,
ॐ लक्षण श्रुति कहती। अभयदान के दाता,

भावार्थः—सर्व शास्त्र मे पारंगत, तत्त्व को जानने वाले, सद्‌गुण सम्पन्न और ध्यान योग मे निपुण, ब्रह्मविद्, आचार्य के पास कल्याण की दीक्षा लेनी चाहिये। जो ब्राह्मण सर्व लक्षण सम्पन्न होने पर भी तत्त्वज्ञान से रहित हो जिसके दर्शन से आनन्द न आवे, जिसके दर्शन से ज्ञान न होता हो, वह कदापि गुरु बनने योग्य नहीं। वास्तविक अपरोक्ष ज्ञान-रहित होने पर शेष सब लक्षण निष्फल है।

(१०) कु-त्रकः—

कर्मणा मनसा वाचा गुरुं यो नावमन्यते।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान्॥

भावार्थ· जो पुरुष शरीर, मन और वाणी द्वारा ब्रह्म विद्या देने वाले गुरु की अवज्ञा करता है, वह महान् नरक में रौरव नरक में पड़ता है। अपने शरीर द्वारा गुरु को खेद पहुँचाना शरीर से करी हुई अवज्ञा करना है। अपने मन मे गुरु के सम्बन्ध में कुतर्कना करना, अथवा—उनके वचनामृत का खोटा अर्थ लगाना, अथवा—गुरु के दोषों का चिन्तन करना, यह मन कृत अवज्ञा है। शब्द द्वारा गुरु की निन्दा करना यह वाणी की अवज्ञा है।

—'यह कु-त्रक कहलाते है'।

—(आत्मपुराण)

ॐ अभयदान के दाता, गुरु सम नहीं कोई ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥४॥

भावार्थः—हे शिष्य ! वास्तव में गुरु श्रुति सिद्धान्तानुसार केवल श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ही वरन् अभयदान का दाता भी होना चाहिये, अर्थात् स्वयं ही मुक्त होकर न रह जाय वरन् परोपकार वृत्ति धारण कर जन-कल्याणकारी बने ऐसे अभयदान के दाता गुरुदेव के समान संसार में दूसरा कोई नहीं है। ऐसे नित्य-आनन्द स्वरूप केवल गुरुदेव की जय-जय जय करके हे मेरे प्रिय आत्मा ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! ॥४॥



* ॐ *

आवरण ।

"ब्रह्मरूप आत्मा को मैं नहीं जानता हूँ" इस व्यवहार का जो हेतु है सो अज्ञान है। जिसके चित्त में ऐसी प्रतीति होवे है, सो पुरुष अज्ञानी है। उसको तत्त्वज्ञान सम्पादन करना योग्य है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, अन्य साधन से नहीं।

अज्ञानः—आवरणशक्ति और विक्षेप शक्ति वाला अनादि, अनिवर्चनीय भावरूप अज्ञान पदार्थ है। ब्रह्म और आत्मा का आच्छादन-आवरण है। उसके करने की शक्ति कहिये सामर्थ्य सो आवरण शक्ति है। प्रपंच और उसका अज्ञान विक्षेप है, उसके उपजाने का सामर्थ्य सो आवरण-विक्षेप शक्ति है। उत्पत्ति रहित को अनादि कहते हैं। घटादि कार्य के प्रागभाव की न्यांई अज्ञान की उत्पत्ति नहीं है। इससे अज्ञान अनादि है। सत् और असत् से विलक्षण (बोध योग्य, स्वरूपवान्) होने से अज्ञान अनिवर्चनीय है। इसी को मिथ्या कहते हैं। अस्ति व्यवहार का जो हेतु सो भावरूप है। अज्ञान जाते जगत् का उपादन कारण होने से अस्ति (है) इस व्यवहार का हेतु है, इससे भावरूप (है)। अनिवर्चनीय, हुआ जो

ॐ अभयदान के दाता, गुरु सम नहीं कोई ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥४॥

भावार्थ—हे शिष्य ! वास्तव में गुरु श्रुति सिद्धान्तानुसार केवल श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ही वरन् अभयदान का दाता भी होना चाहिये अर्थात् स्वयं ही मुक्त होकर न रह जाय वरन् परोपकार वृत्ति धारण कर जन-कल्याणकारी बने, ऐसे अभयदान के दाता गुरुदेव के समान संसार में दूसरा कोई नहीं है। ऐसे नित्य आनन्द स्वरूप केवल गुरुदेव की जय जय जय करके हे प्रबुद्ध प्रिय आत्मा ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! ॥४॥



ध्यान अर्थात् चित्त की एकाग्रता, ये छः मिलकर तीसरा साधन षट्-सम्पत्ति है ।

४—मुमुक्षुताः—संसार के बन्धन से मुक्त होने की दृढ़ इच्छा है ।

इस प्रकार आत्मा के साधनों मे तीसरा साधन षट्-सम्पत्ति कहा है। उसमें प्रथम शम कहा है, जिसके धारण करने से ही काम क्रोधादिक (काम, क्रोध, लोभ, मोहमत्सर) के त्याग रूप वासना का त्याग होता है। उसी प्रकार इसी के छठे साधन समाधान द्वारा मनोराज्य के त्याग रूप चित्त की एकाग्रता को वर्णन किया है। इसलिये प्रथम अवस्था मे ही कामक्रोधादिक का त्याग करके बोध सम्पादन करना चाहिये, और बोध होने के पश्चात् भी जीवन्मुक्ति के सुख की प्राप्ति के लिये उनका त्याग करना उचित है। क्योंकि-काम क्रोधादिरूप क्लेश से बधवान् पुरुष, जीवन्मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं कर सकता। सो काम क्रोधादि के त्याग न करने से जीवन्मुक्ति की असिद्धि ही है। इसलिये तीव्र मनोमय द्वैत और काम क्रोधादि सर्व दोषों मे दोषदृष्टि करके इनका त्याग कर तथा—सर्व अनर्थों के मूल भूत मनोमय द्वैतरूप—मनोराज्य, अर्थात्—मन के रचे हुए अनेक प्रकार के विषयों के संकल्पों को छोड़कर सच्चिदानन्द, परिपूर्ण, परमात्मा में अभेद-स्थिति-रूप जीवन्मुक्ति के सुख को सम्पादन करना चाहिये।

—(पचीकरण)

भावरूप होता है, सो अनिर्वचनीय भावरूप कहिये है। तिस ही अज्ञान को कारण, दह और अविद्या आदि नामों करि कहते हैं। इसके अनेक भेद-नाम हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान अधिकारी को प्राप्त होता है सो अधिकारी यह है:—

जिसका इस जन्म विषे या जन्मान्तर विषे किये निष्काम कर्म और उपासना से 'मल' और 'विक्षेप' दोष नाश हुआ है, और तीसरा 'अज्ञान' दोष शेष रहा है और इसी से जो विवेक आदिक चारों साधन करि संयुक्त हुआ है सो पुरुष विचार द्वारा आत्मज्ञान का और आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष का अधिकारी है।

—(वृ० वा० बो०)

चार साधन—विवेक, वैराग्य षट सम्पत्ति और मुमुक्षता।

१—विवेकः—आत्मा सत्य और सब जगत् अनित्य है, ऐसा दृढ़ निश्चय करने का नाम विवेक है।

२—वैराग्यः—अर्थात्-इस लोक तथा परलोक के भोगों में अनिच्छा का होना वैराग्य है।

३—षट् सम्पत्तिः—अर्थात् (१) शम-अर्थात् वासना का त्याग (२) दमः अर्थात्-बाहरी इन्द्रियों को विषयों की प्रवृत्ति से रोकना (३) उपरतिः-अर्थात् प्रपंच से निवृत्ति (४) तितिक्षाः-अर्थात्-शीतोष्णादि द्वन्द्वधर्मों की सहनशीलता (५) श्रद्धाः-ब्रह्मनिष्ठ गुरु तथा-वेदान्त वाक्यों में विश्वास (६) समा-

ध्यान अर्थात् चित्त की एकाग्रता, ये छः मिलकर तीसरा साधन षट्-सम्पत्ति है।

४—मुमुक्षुताः—संसार के बन्धन से मुक्त होने की दृढ़ इच्छा है।

इस प्रकार आत्मा के साधनों में तीसरा साधन षट्-सम्पत्ति कहा है। उसमें प्रथम शम कहा है, जिसके धारण करने से ही काम क्रोधादिक (काम, क्रोध, लोभ, मोहमत्सर) के त्याग रूप वासना का त्याग होता है। उसी प्रकार इसी के छठे साधन समाधान द्वारा मनोराज्य के त्याग रूप चित्त की एकाग्रता को वर्णन किया है। इसलिये प्रथम अवस्था में ही कामक्रोधादिक का त्याग करके बोध सम्पादन करना चाहिये, और बोध होने के पश्चात् भी जीवन्मुक्ति के सुख की प्राप्ति के लिये उनका त्याग करना उचित है। क्योंकि-काम क्रोधादिरूप क्लेश से वधवान् पुरुष, जीवन्मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं कर सकता। सो काम क्रोधादि के त्याग न करने से जीवन्मुक्ति की असिद्धि ही है। इसलिये तीव्र मनोमय द्वैत और काम क्रोधादि सर्व दोषों मे दोषदृष्टि करके इनका त्याग कर तथा-सर्व अनर्थों के मूल भूत मनोमय द्वैतरूप-मनोराज्य, अर्थात्—मन के रचे हुए अनेक प्रकार के विषयों के सकल्पों को छोड़कर सच्चिदानन्द, परिपूर्ण, परमात्मा में अभेद-स्थिति-रूप जीवन्मुक्ति के सुख को सम्पादन करना चाहिये।

—(पञ्चीकरण)

—o—

अवधूत महाप्रभु श्री १०८ श्री नित्यानन्द जी महाराज की

आरती नं० ५

[जीव भाव]

ॐ[1] केवल गुरुदेव।

ॐ केवल गुरुदेवं, भवसागर से कर प्रीति,

ॐ भवसागर से कर प्रीति, करै परली पार॥

ॐ जय जय जय गुरुदेव॥ टेक॥

भावार्थ—हे प्रणव परमात्मस्वरूप गुरुदेव! आप 'केवल स्वरूप' हैं निश्चय करके आप 'केवल स्वरूप' ही हैं। हाथ पकड़ करके इस संसार सागर से परली पार करने वाले केवल आप ही हैं—निश्चय करके संसार-सागर से परली पार आप ही करते हैं।

हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! (टेक)

---

१ (अ)—ॐ एकाक्षर ओंकार रूप ब्रह्म है। मुमुक्षु को चाहिए कि—यह प्रणव को ही सर्व का कारण निर्विकार, निर्गुण शिवस्वरूप समझे।

—(महाविष्णु पुराण–ॐ मं अ. ३ १-७)

(ब) "   । स यो ह वैतद्भगवन्! मनुष्येषु प्रायणा-न्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव सतेन लोकं जयतीति ॥१।५३॥

तस्मै सहोवाच। एतद्वै सत्यकाम ! परश्चापरश्च ब्रह्म यदोङ्कारः तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥ २।५४ ॥
—(प्रश्नोपनिषद्)

भावार्थ.—सत्यकाम ने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया:- "हे गुरु महाराज ! जो मनुष्य जीवन पर्यन्त मन और इन्द्रियों को रोक कर ॐकार का ध्यान करता है, अथवा-जिसको ओङ्कार कहते हैं, उसमें मन को लगाता है, वह इस कर्म से किस लोक को जाता है?" उत्तर में पिप्पलादि ऋषि ने कहा:—

"हे सत्यकाम ! जगत् में दो प्रकार की वासना है। एक तो सब से श्रेष्ट मुक्ति की वासना है, दूसरी-इन से न्यून सांसारिक-राज्यादि की वासना है। अतः-जो ओङ्कार का नियम-पूर्वक ध्यान करता है उसकी जिस प्रकार की वासना हो वह पूरी होजाती है"। अर्थात्-ज्ञानी पुरुष जिस विचार से ब्रह्म 'ॐ' की उपासना करता है, उसमें वह सफल होजाता है। उसको पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं रहती, वह तो इसी जन्म में सब सुखों को प्राप्त कर लेता है।

प्रणव सम्बन्धी श्री धर्मकल्पद्रुम तृतीय खंड में कथन।

जहां कुछ कार्य है वहां कम्पन अवश्य होगा, जहां कम्पन

है वहाँ शब्द भी अवश्य होगा। सृष्टि क्रिया भी एक प्रकार का कार्य है इसलिये सृष्टि कार्य के समय प्रकृति के प्रथम स्पन्दन द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है वही मंगलकारी ॐकार रूप प्रणव है। सत्व, रज, तम तीनों की साम्यावस्था से जब वैषम्यावस्था होना प्रारम्भ हुआ तो सब से प्रथम हिलोर जो हुआ, जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुए उस हिलोर की ध्वनि ही ॐकार है। जिस प्रकार साम्यावस्था से संबन्ध रखने वाली प्रकृति का शब्द ब्रह्म विष्णु शिवात्मक ॐकार है उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृति के नाना शब्द हैं, ये ही नाना शब्द उपासनाओं के अनेक बीज मन्त्र हैं। वेद में ॐ को उद्गीथ कहा गया है, यथा—छान्दोग्योपनिषद् में—

'ओमित्येतदक्षर मुद्गीथ मुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्'

ॐ इस उद्गीथ अक्षर की उपासना करनी चाहिये। ॐ कार इस शब्द को मुख्य रखकर ही भगवान् की स्तुति होती है इसलिये ॐकार का नाम उद्गीथ है भगवान् श्री शंकराचार्य जी ने भी लिखा है:—

"ॐ इत्यारभ्य हि यस्माद् उद्गायति अतः उद्गीथ ॐ कारं इत्यर्थः

भगवान् पतञ्जलि जी ने ॐकार को ईश्वर का वाचक कहा है यथा योगदर्शन में:—

"तस्य वाचकः प्रणवः" "तज्जपस्तदर्थ भावनम्"
"ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

ॐकार ईश्वर का वाचक है, ॐकार का जप तथा अर्थ भावना के द्वारा ईश्वर प्राप्ति तथा विघ्न विनाश हुआ करता है। इसी के अनुसार श्री भगवान् शंकराचार्य जी ने लिखा है:—

"तस्मिन हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति
प्रियनाम ग्रहणेनेवलोकः"

जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारने से लोग प्रसन्न हो-कर उत्तर देते हैं उसी प्रकार श्री भगवान् का प्रिय नाम ॐ कार उच्चारण करके बुलाने से भगवान् भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं।

* * * *

परब्रह्म रूप ओंकार समस्त मन्त्रों का नायक परम पवित्र मंगलमय तथा सकल कामनाओं का साधक है तीनों वेदों की प्रतिष्ठा इसी आदि मंत्र में है और सकल मन्त्रों के प्रयोग में ओंकार का प्रयोग प्रथम होता है। अन्य मन्त्रों के साथ प्रथम ओंकार का उच्चारण होने से मन्त्रों का फल यथावत् प्राप्त होता है। "संसार की समस्त वाणी ॐकार में ही संग्रथित है" छांदोग्योपनिषद् के इस सिद्धान्त का बड़ा ही सुन्दर लिंग पुराण में मन्त्रोत्पत्ति के प्रसंग में किया गया है। यथा:—

है वहाँ शब्द भी अवश्य होगा। सृष्टि क्रिया भी एक प्रकार का कार्य है इसलिये सृष्टि कार्य के समय प्रकृति के प्रथम स्पन्दन द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है वही मंगलकारी ॐकार रूप प्रणव है। सत्व, रज, तम तीनों की साम्यावस्था में जब वषम्यावस्था होना प्रारंभ हुआ तो सब से प्रथम हिल्लोल या हुआ, जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुए उस हिल्लोल की ध्वनि ही ॐकार है। जिस प्रकार साम्यावस्था से संबन्ध रखने वाली प्रकृति का शब्द ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ॐकार है उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृति के नाना शब्द हैं, वे ही नाना शब्द उपासनाओं के प्रमाण बीज-मन्त्र है। वेद में ॐ को उद्गीथ कहा गया है, यथा—छान्दोग्योपनिषद् में—

'ओमित्येतदक्षर मुद्गीथ मुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्'

ॐ इस उद्गीथ अक्षर की उपासना करनी चाहिये। ॐ कार इस शब्द को मुख्य रखकर ही भगवान् की स्तुति होती है इसलिये ॐकार का नाम उद्गीथ है भगवान् श्री शंकराचार्य जी ने भी लिखा है:—

'ॐ इत्यारभ्य हि यस्माद् उद्गायति अतः उद्गीथ ॐ कार इत्यर्थः

भगवान् पतञ्जलि जी ने ॐकार को ईश्वर का वाचक कहा है यथा योगदर्शन में—

"स्वाध्यायादिष्ट देवता सं प्रयोगः।"

स्वाध्याय के द्वारा इष्ट देवता का दर्शन होता है। यहाँ स्वाध्याय का अर्थ श्री भगवान् वेदव्यास कृत योगदर्शन भाष्य में मंत्र-जप लिखा है। और भी सामवेद सहिता भाष्य में मंत्र ज़प लिखा है। और भी सामवेद सहिता मेः—

"उपह्वरे गिरिणा ॐ स मे नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत्॥"

पर्वत प्रान्त तथा नदी संगम स्थान पर स्तुति करने से इन्द्र प्रकट होते हैं।

समष्टि प्रकृति के साथ व्यष्टि प्रकृति का एकत्व संवन्ध होने से समष्टि प्रकृति के स्पन्दन जनित सारे शब्दों का आविर्भाव व्यष्टि प्रकृति के द्वारा भी अनुभव होता है। अर्थात् ओंकार से लेकर समस्त वर्णों का और मंत्रों का उच्चारण जीव शरीर के भिन्न भिन्न अकों द्वारा होता है। जिस प्रकार समष्टि प्रकृति के गर्भ से उत्पन्न होता है उसी प्रकार व्यष्टि शरीर में भी प्रकृति का स्थान मूलाधार चक्र स्थित कुल कुण्डलिनी में होने के कारण आदिनाद प्रणव की उत्पत्ति कुण्डलिनि से होती है। और अन्यान्य समस्त नाद वहां से ही निकल कर इड़ा पिंगला और सुषुम्ना रूपी त्रिविधि योग नाडी के द्वारा भिन्न भिन्न पथ में प्रवाहित होकर मंत्र और वर्ण रूप से हृदय तालु कण्ठ जिह्वा ओष्ठ दत आदि स्थानों के द्वारा प्रकट होते है। यथा-शारदादि निलक मे लिखा है—कुण्डलिनी में से

सुषुम्णा और स्थूल लक्षण ॐ नाद का प्रकाश हुआ। जिस के सर्वतः स्थित इस प्रकार के नाद का स्वरूप निम्न लिखित है। उसका आद्यवर्ण अकार है जो कि दक्षिण की ओर स्थित और सूर्यमण्डलवत् दीप्तिमान् है। उत्तर की ओर अग्निसम उकार की स्थिति है और मध्यस्थल में चन्द्रमण्डल की तरह तेजोमय मकार की स्थिति है। इन तीनों के ऊपर शुद्ध स्फटिक की तरह भासमान ॐकार रूपी परम पुरुष विराजमान है। वे तुरीयातीत अमूर्त निष्कल, आत्मरूप और शब्द विहीन और आकाशवत् तथा बाह्य और आभ्यन्तर में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं। ॐकार रूपी उस परमात्मा के विराट पुरुष के सप्तधातु हैं रकार उनका आत्मरूप है और अक्षर कोषरूप है। इस प्रकार से ओंकार से समस्त वर्णों की उत्पत्ति आर्यशास्त्र बताई गई है। यही सब वर्ण विराट् पुरुष के भिन्न २ अंग से उत्पन्न होने के कारण प्रकृति के स्पन्दन-जनित मन्त्र हैं और इन मन्त्रों के साथ तत्तत्-जनित् प्रकृति के देवताओं का अविशेष सम्बन्ध है। इस लिए जिस प्रकार समष्टि प्रकृति के स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द ॐ परमेश्वर का वाचक नाम है—जिसके जप और अर्थ भावना द्वारा परमात्मा प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार प्रकृति के भिन्न २ विभाग के स्पंदन द्वारा उत्पन्न शब्द भी तत्तत् प्रकृति के देवताओं के वाचक नाम हैं जिनके जप और अर्थ भावना द्वारा तत्तद् देवता प्रसन्न होते हैं और दर्शन दिया करते हैं।

• • • •

अ–से अः पर्यन्त समस्त वर्णमाली ईड़ा नाडी से प्रवाहित होती है। क से म पर्यन्त समस्त वर्ण माला पिंगला नाड़ी से प्रवाहित होती है। और य से क्ष पर्यन्त समस्त वर्ण माला सुषुम्ना पथ में प्रवाहित होती है। इस प्रकार ॐ से लेकर समस्त मंत्रों की उत्पत्ति समष्टि प्रकृति की ही प्रति कृति या प्रतिबिम्ब होने से समष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन का या प्रतिबिम्ब होने से समष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन का आघात व्यष्टि प्रकृति में होती है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु व्यष्टि प्रकृतिमें और व्यष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दनका आघात समष्टि प्रकृति में होता है। और व्यष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्वर का सम सबन्ध समष्टि प्रकृति के उसी अधिकार के स्नेह के साथ रहता है इसलिये इसके नाद का प्रतिबिम्ब उसमें और उसके नादका प्रतिबिम्ब इसमे आगिरता है। इसलिये साधक अपनी व्यष्टि प्रकृति के जिस जिस स्तर पर चित्र को सपत करता है उसी से ही समष्टि प्रकृति के तत्तत् स्तर का नाद सुन सकता है। दृष्टांत रूप से समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृति का प्रथम अक्षर प्रणव होने जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृति को भी साम्यवस्था पर पहुंचावेगें। उसी समय अपनी प्रकृति में ही समष्टि प्रकृति के प्रथम नाद ॐकार को सुन सकेंगे। यह नाद मूलाधार चक्र स्थित कुल कुण्डलिनी से स निकलकर सहस्रादल में जा लय हो जायगा। इसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृति को पूर्ण साम्यावस्था के अतिरिक्त जिस जिस स्तर पर संयम करेंगे उस स्तर के साथ समष्टि प्रकृति के जिस स्तर का सम्बन्ध है उस स्तर के नाद का प्रतिबिम्ब

प्रकाशित परानाम्नी अविनाशी वाक् से शब्द की उत्पत्ति होती है। जो जीव शरीर में अनेक प्रकार से घूम करके गद्य पद्यादि भेद से विविध वर्णों में प्रकाशित होता है। और भी—

परमात्मा की इच्छा शक्ति रूपिणी मूलाधार पद्म स्थिता कुल कुण्डलिनी की शक्ति से उक्त पद्म में प्रथम परानाद की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर यह नाद स्वाधिष्ठान पद्म में बढ़कर पश्यन्ति आख्या को प्राप्त होता है। तदनन्तर धीरे २ और भी ऊपर आकर अनाहत पद्म में बुद्धि तत्त्व के साथ मिलकर उस नाद का नाम मध्यमा होता है। उसके ऊपर कण्ठ स्थित विशुद्ध चक्र में उस नाद का नाम वैखरी होता है, यही शब्द निनाद वैखरी नाद कण्ठ मस्तक तालु ओष्ठ दन्त जिह्वामूल, जिह्वाग्र जिह्व पृष्ठ तथा नासाग्र द्वारा क्रमशः अग्रसर होता हुआ कण्ठ तालु ओष्ठ और कण्ठोष्ठद्वय, द्वारा प्रकाशित होकर अकार से क्षकार तक वर्ण मालाओं का विकाश करता है। जीव शरीर में कुल कुण्डलिनी प्राण शक्तिरूप है। इसी के साथ इड़ा पिंगला और सुषुम्ना का सम्बन्ध है और इन तीनों नाड़ियों के द्वारा ही प्राण अपान समान उदान आदि दशविध वायु का प्रवाह समस्त शरीर में व्याप्त होता है। प्राणशक्ति के द्वारा प्राणादि वायु संचालित होकर समस्त शब्द को प्रकाशित करता है। उल्लिखित तीनों नाड़ियों के साथ समस्त वायु का संबन्ध होने से प्रकृति स्पन्दन जनित अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त समस्त वर्ण मालों की उत्पत्ति इन तीनों नाड़ियों के द्वारा होती है। यथा:—

अ-से अः पर्यन्त समस्त वर्णमाली ईड़ा नाड़ो से प्रवाहित होती है। क से म पर्यन्त समस्त वर्ण माला पिंगला नाड़ी से प्रवाहित होती है। और य से क्ष पर्यन्त समस्त वर्ण माला सुषुम्ना पथ में प्रवाहित होती है। इस प्रकार ॐ से लेकर समस्त मंत्रों की उत्पत्ति समष्टि प्रकृति की ही प्रति कृति या प्रतिबिम्ब होने से समष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन का या प्रतिबिम्ब होने से समष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन का आघात व्यष्टि प्रकृति में होती है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु व्यष्टि प्रकृतिमे और व्यष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दनका आघात समष्टि प्रकृति में होता है। और व्यष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्वर का समसबन्ध समष्टि प्रकृति के उसी अधिकार के स्नेह के साथ रहता है इसलिये इसके नाद का प्रतिबिम्ब उसमें और उसके नादका प्रतिविम्ब इसमे आगिरता है। इसलिये साधक अपनी व्यष्टि प्रकृति के जिस जिस स्तर पर चित्र को सपत करता है उसी से ही समष्टि प्रकृति के तत्तत् स्तर का नाद सुन सकता है। दृष्टांत रूप से समझ सकते है कि साम्यावस्था प्रकृति का प्रथम अक्षर प्रणव होने जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृति को भी साम्यवस्था पर पहुंचावेगें। उसी समय अपनी प्रकृति में ही समष्टि प्रकृति के प्रथम नाद ॐकार को सुन सकेंगे। यह नाद मूलाधार चक्र स्थित कुल कुण्डलिनी से स निकलकर सहस्रादार में जा लय हो जायगा। इसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृति को पूर्ण साम्यावस्था के अतिरिक्त जिस जिस स्तर पर सयम करेंगे उस स्तर के साथ समष्टि प्रकृति के जिस स्तर का सम्बन्ध है उस स्तर के नाद का प्रतिविम्ब

अपनी प्रकृति में अनुभव करेंगे। इसी प्रकार से महर्षि गण अपनी प्रकृति में ही समष्टि प्रकृति के भाव को सुनते हैं और उन्हीं भावों के अनुसार ही श्री भगवान् तथा उनकी शक्ति स्वरूप भिन्न २ देवताओं के साधनार्थ मंत्र समूह और समस्त वर्णमालाओं का आविष्कार उन सब अतीन्द्रिय दर्शी महर्षियों के द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृति के प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणव मंत्र की उत्पत्ति के अनन्तर द्वितीय स्पन्दन में जो गीतोक्त वचन के अनुसार अष्टप्रकृति का स्पन्दन हुआ उससे अष्ट बीज की उत्पत्ति हुई है। इनके नाम व मंत्र शास्त्र में यथा-बीज मंत्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं, यथा गुरु बीज, शक्ति बीज रमाबीज कामबीज योगबीज, तेजबीज शान्तिबीज और रक्षाबीज। क ल, ई, और मकार से कामबीज का अनुभव होता है। क, र, ई और मकार से योगबीज का अनुभव होता है। आ, ए और मकार से गुरु बीज का अनुभव होता है। हकार रकार, ईकार, और मकार से शक्ति बीज का अनुभव होता है। शकार, रकार ईकार और मकार से रमाबीज का अनुभव होता है। तकार, रकार ईकार, और मकार से तेज बीज का अनुभव होता है। सकार, तकार, रकार ईकार और मकार से शान्ति बीज का अनुभव होता है। और हकार लकार ईकार और मकार से रक्षाबीज का अनुभव होता है। योगशास्त्र में लिखा है कि-जिस प्रकार कारण ब्रह्म की आठ प्रकृति हैं जिससे कार्य ब्रह्म उत्पन्न हुआ है वैसे ही शब्द ब्रह्म के ये आठ बीज आठ प्रकृति हैं। ये ही प्रधान बीज कहाते हैं। ये सब प्रकार की उपासना में कल्याण कारी हैं। शास्त्रान्तर

में इनके नाम भेद भी पाये जाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृति के विस्तार के साथ २ अनेक मंत्र निर्णीत किये जाते हैं। जो भिन्न २ देवताओं के प्रीत्यर्थ निर्दिष्ट हैं शास्त्र में मंत्रों की असाधारण शक्ति बताई गई है। जिससे भगवान् प्रसन्न देवता वशीभूत और अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

एक समय राजा जनक घूमते २ तमाल वनके कुञ्जमें चले गये। वहा उन्हें नित्य एकान्त ही में रहने वाले तथा गिरि गुफाओं मे घूमने वाले अदृश्य सिद्ध लोकों के दर्शन हुए। उन के मुखारविन्द से श्रवणमात्र से आत्मा का साक्षात्कार करादें ऐसे गीताएं श्रवण करने मे आईं।

१—कितने ही सिद्धों ने कहा—जो आत्मा दृष्टापन तथा दृश्य के अभ्यास म तुच्छ विषयों के आनन्द ही को पुरुषार्थ मानकर जन्म मरण पाया करता है, उसी आत्मा को हम श्रवणादिक से हुई अखण्डकार वृत्ति द्वारा परब्रह्म समझकर उसी का अनुसंधान किया करते हैं।

२—कितने ही सिद्धों ने कहा—द्रष्टा को, दर्शनों को, दृश्यों को और उनकी वासनाओं को भी छोडकर हम इन सर्व के उत्पत्ति के साक्षिरूप से इन सर्व से प्रथम ही सिद्ध होते आत्मा का निरन्तर अनुसंधान किया करते हैं।

३—कितने ही सिद्धों ने कहा—जो आत्मा जगत् है और जगत् नहीं है। इन दोनों पक्षों का अधिष्ठान रूप है। और

अपनी प्रकृति में अनुभव करेंगे। इसी प्रकार से महर्षि गण अपनी प्रकृति में ही समष्टि प्रकृति के नाद को सुनते हैं और उन्हीं नादों के अनुसार ही श्री भगवान् तथा उनकी शक्ति स्वरूप भिन्न २ देवताओं के साधनार्थ मंत्र समूह और सस्कृति वर्णमालाओं का आविष्कार उन सब अतीन्द्रिय दर्शी महर्षियों के द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृति के प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणव मंत्र की उत्पत्ति के अनंतर द्वितीय स्पन्दन में जो गीतोक्त वचन के अनुसार अष्टप्रकृति का स्पन्दन हुआ उसमें आठ बीज की उत्पत्ति हुई है। इनके नाम व मंत्र शास्त्र में यथा—बीज मंत्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं यथा गुरु बीज, शक्ति बीज रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज शान्तिबीज और रक्षाबीज। क ल, ई, और मकार से कामबीज का अनुभव होता है। क र ई और मकार से योगबीज का अनुभव होता है। आ, ए, और मकार से गुरु बीज का अनुभव होता है। हकार रकार ईकार और मकार से शक्ति बीज का अनुभव होता है। शकार, रकार ईकार और मकार से रमाबीज का अनुभव होता है। टकार, रकार ईकार और मकार से तेज बीज का अनुभव होता है। सकार तकार रकार ईकार और मकार से शान्ति बीज का अनुभव होता है। और हकार लकार ईकार और मकार से रक्षाबीज का अनुभव होता है। यामलशास्त्र में लिखा है कि—जिस प्रकार कारण ब्रह्म की आठ प्रकृति हैं जिससे कार्य ब्रह्म उत्पन्न हुआ है वैसे ही शब्द ब्रह्म के ये आठ बीज आठ प्रकृति हैं। ये ही प्रधान बीज कहाते हैं। ये सब प्रकार की उपासना में कल्याण कारी हैं। शास्त्रान्तर

फिर वासना बांधता है, उस दुर्मति वाले पुरुष को मनुष्य नहीं वरन् गर्धभ समझना।

९—कितने ही सिद्धों ने कहा—जैसे इन्द्रवज्र से पर्वतों को तोड डालते हैं वैसे ही इन इन्द्रिय रूपी सर्पों को जैसे २ वे उठती आवें वैसे वैसे ही वारम्वार विवेक रूपी शस्त्र से तोड डालना चाहिये।

१०—कितने ही सिद्धों ने कहा—इन्द्रियों का उपशम रूप उत्तम सुख प्राप्त करना चाहिये कि जिस सुख से चित्त भली प्रकार प्रशान्त होता है। जिसका चित्त प्रशान्त होता है उस पुरुष की परम सुखरूप स्वस्वरूपमें अखंड उत्तम स्थिति होती है।

—(सिद्धगीता—योगवासिष्ठ)

—— :o: ——

प्रणव।

तीन लोक, तीन वेद, तीन संध्या, तीन देव, तीन अग्नि और तीनों गुण यह सब तीन अक्षर रूप प्रणव में सिद्ध हैं। जिस प्रकार पुष्प मे गन्ध, दूध में घी, तिल में तेल और पाषाण में सोना है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्व है। पक्षी जैसे घोंसले मे रहता है वैसे ही हृदय देशमें अधोमुख हृदय कमल है, उसमें मन रहता है, यह हृत्पद्म 'बन्द' रहता है-होता है, जिस प्रकार पुष्प की कली होती है। अकार के उच्चारण से यह अव्यक्त शब्द को ग्रहण करने में समर्थ होती है। और

समस्त भाव तथा अभाव का प्रकाशक है उस ही का निरन्तर अनुसंधान किया करते हैं।

४—कितने ही सिद्धों ने कहा—यह समस्त ब्रह्माण्ड जिस में है जिसका है जिसके लिये है, जिसके किये-द्वारा है, और जो ब्रह्माण्ड रूप है उस सत्य आत्मा का ही निरंतर अनुसंधान किया करते हैं।

५—कितने ही सिद्धों ने कहा—हमारा आत्मा कि जो समस्त ब्रह्माण्ड रूप से रहते हुये भी उपनिषदों को भी अगम्य है और निरन्तर श्वासोच्छ्वास के मिष से 'सोऽहं सोऽहं' [वह परमात्मा मैं हूँ वह परमात्मा मैं हूँ] ऐसा शब्द बोला करता है उसी का हम निरन्तर अनुसन्धान किया करते हैं।

६—कितने ही सिद्धों ने कहा—जो पुरुष हृदय रूपी गुफा के स्वामी अन्तर्यामी देवको छोड़ देकर दूसरे देवके पास जाते हैं वे अपने हाथ में रहे कौस्तुभ मणि को छोड़ देकर दूसरे रत्न की इच्छा करते हैं।

७—कितने ही सिद्धों ने कहा—सब आशाओं का छोड़ देना से ऐसा फल मिलता है कि जिस फल से आशाओं रूपी जहरी लताओं के मूल की पंक्ति ही कट जाती है।

८—कितने ही सिद्धों ने कहा—जो पुरुष भोग्य पदार्थों में अत्यन्त विरस (रस रहित) पन जानकर भी उन पदार्थों में

फिर वासना बांधता है, उस दुर्मति वाले पुरुष को मनुष्य नहीं वरन् गर्धभ समझना।

९—कितने ही सिद्धों ने कहा—जैसे इन्द्रवज्र से पर्वतों को तोड डालते हैं वैसे ही इन इन्द्रिय रूपी सर्पों को जैसे २ वे उठती आवें वैसे वैसे ही बारम्बार विवेक रूपी शस्त्र से तोड डालना चाहिये।

१०—कितने ही सिद्धों ने कहा—इन्द्रियों का उपशम रूप उत्तम सुख प्राप्त करना चाहिये कि जिस सुख से चित्त भली प्रकार प्रशान्त होता है। जिसका चित्त प्रशान्त होता है उस पुरुष की परम सुखरूप स्वस्वरूपमें अखंड उत्तम स्थिति होती है।

—(सिद्धगीता—योगवासिष्ठ)

—— •०• ——

प्रणव।

तीन लोक, तीन वेद, तीन संध्या, तीन देव, तीन अग्नि और तीनों गुण यह सब तीन अक्षर रूप प्रणव में सिद्ध हैं। जिस प्रकार पुष्प में गन्ध, दूध में घी, तिल में तेल और पाषाण में सोना है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्व है। पक्षी जैसे घोंसले में रहता है वैसे ही हृदय देशमें अधोमुख हृदय कमल है, उसमें मन रहता है, यह हृत्पद्म 'बन्द' रहता है-होता है, जिस प्रकार पुष्प की कली होती है। अकार के उच्चारण से वह अव्यक्त शब्द को ग्रहण करने में समर्थ होती है। और

अर्धमात्रा के अभ्यास से यह निश्चल होती है। ध्यान करने वाला निर्मल ध्येय का अनुभव करता है।

—(योग तत्त्वोपनिषद्)

(ब) ॐ यह आत्मा है ऐसा चिन्तन करना यह प्रणव रूप अक्षर पुण्यप्रद और मोक्षप्रद है। इस प्रकार के परायण होने से अभ्युदय या मोक्षरूप फल होता है।

—(मैत्रायणी उपनिषद्)

(स) ऋग्वेद पृथ्वी गार्हपत्य तथा ब्रह्मा अकार रूप हैं, यजुर्वेद अन्तरिक्ष दक्षिणाग्नि तथा विष्णु उकार रूप हैं, और सामवेद, स्वर्ग आहवनीय और महेश्वर मकार रूप हैं। नाद रूप से प्रणव सर्व में व्याप्त होकर स्थित है। ॐकार का जप प्लुत स्वर से करना चाहिये। प्रणव के वाच्य ब्रह्म का जो एकाग्रता पूर्वक चिंतन करता है वह मोक्ष प्राप्त करता है।

—(ब्रह्मविद्योपनिषद्-सार)

पिप्पलाद ऋषियों ने भगवान् अथर्वा से पूछा कि—हे भगवान! ध्यान करने योग्य मंत्र कौन? उस ध्येय मंत्र का ध्यान क्या? ध्यान करने का अधिकारी कौन? और ध्येय देव कौन है? यह कहा। इसके उत्तर में भगवान् अथर्वा कहते हैं —ॐ यह मंत्र ध्यान करने योग्य है। ॐ इस अक्षर के चार पाद चार देव चार वेद चार पद ध्यान करने योग्य हैं। चार पाद वाला यह अक्षर परब्रह्म है। इसकी पृथ्वीरूप प्रथम

मात्रा अकार है। वह ऋचाओं द्वारा ऋग्वेद है उसका अधि-ष्ठाता ब्रह्मा गण, देवता वसुओं छंद गायत्री है और अग्नि गार्हपत्य है। दूसरी मात्रा अंतरिक्ष रूप उकार है। वह यजु-षाओं द्वारा यजुर्वेद है। इसके अधिष्ठाता रुद्र गण देवता रुद्रो छंद त्रिष्टुप और अग्नि दक्षिणाग्नि है। तीसरी मात्रा स्वर्ग रूप मकार है। वह साम द्वारा सामवेद है उसके अधिष्ठाता विष्णु गण देवता आदित्यो छंद जगति और अग्नि आह्वनीय है। अन्त मे जो इसकी चौथी धर्म मात्रा है वह लुप्त मकार यानी नाद है। वह अथर्वण देवता मरुतो छंद विराट और अग्नि एक ऋषि है। यह चौथी मात्रा स्वयं प्रकाश वाली और अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखने वाली है। पहली मात्रा राती ब्राह्मी और ब्रह्मरूप देवता वाली है। दूसरी मात्रा अति श्वेत रौद्री और रुद्र देवता वाली है। तीसरी मात्रा काली वैष्णवी और विष्णु देवता वाली है और चौथी मात्रा बिजली सरीखी सर्व वर्ण वाली और ईश्वर देवता वाली है। वह यह ॐकार, अकार उकार मकार और धर्म मात्रा रूप चार पाद वाला गार्हपत्य दक्षिणाग्नि आवाहनीय और एक ऋषि रूप चार उत्तम अग वाला है। चौथी मात्रा धर्म मात्रा यह सूक्ष्म प्रणव है और ह्रस्व ॐ और दीर्घ ॐ तथा प्लुत् ॐ यह स्थूल प्रणव है। चौथा पाद रूप शान्तात्मा प्लुत् प्रयोग मे अभिव्यक्त होता है। वह आत्म ज्योति अनुपम है वह प्रणव रूप अनाहत शब्द एक बार आवर्तन करने योग्य है। वह एक बार उच्चार किया हुआ प्रणव ॐ सर्व प्राणों को षट्चक्र के भेदन द्वारा सुषुम्णा द्वारा ब्रह्मरंध्र के प्रति लेआता है। वह इन प्राणों को ऊपर

अर्धमात्रा व उच्चारण से वह निश्चल होती है। ध्यान करने वाला निर्मल ध्येय का अनुभव करता है।

—(योग तत्त्वोपनिषद्)

(ग) ॐ यह आत्मा है ऐसा चिन्तन करना यह प्रणव का प्रकार पुण्यप्रद और मोक्षप्रद है। इस प्रकार के परायण होने से अभ्युदय का मोक्षरूप फल होता है।

—(मैत्रायणी उपनिषद्)

(ख) ऋग्वेद पृथ्वी गार्हपत्य तथा ब्रह्मा अकार रूप हैं, यजुर्वेद अन्तरिक्ष दक्षिणाग्नि तथा विष्णु उकार रूप हैं, और सामवेद स्वर्ग आहवनीय और महेश्वर मकार रूप हैं। नाद रूप से प्रणव सर्व में व्याप्त होकर स्थित है। ॐकार का प्लुत तर करना चाहिये। प्रणव के वाच्य ब्रह्म का जो एकाग्रता पूर्वक चिंतन करता है वह मोक्ष प्राप्त करता है।

—(ब्रह्मविद्योपनिषद्-सार)

पिप्पलाद ऋषियों ने भगवान् अथर्वा से पूछा कि—हे भगवान्! ध्यान करने योग्य मंत्र कौन? उस ध्येय मंत्र का ध्यान क्या? ध्यान करने का अधिकारी कौन? और ध्येय देव कौन है? यह कहो। इसके उत्तर में भगवान् अथर्वा कहते हैं:—ॐ यह मंत्र ध्यान करने योग्य है। ॐ इस अक्षर के चार पाद चार देव और चार पद ध्यान करने योग्य हैं। चार पाद वाला यह अक्षर परब्रह्म है। इसकी पृथ्वीरूप प्रथम

पति, यज्ञ, व्यापक, प्राण, हिरण्यगर्भ, गरुड़, इन्द्र, रुद्र, जीवों की बुद्धि में स्थित, पवन, रात्रि, दिवस, भूत, भविष्य, वर्तमान, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को प्रगट करने वाला, वसु, अन्तरिक्ष, दैत्यगण, अग्निदेवो, प्रजापति, स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वरुण, अर्यमा, चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग हैं। जो बुद्धि मे रहे हुए परमात्मा को इस रीति से सर्व रूप जानता है वह बुद्धिमान बुद्धि का उल्लंघन करके परम गति को पाता है। —(एकाक्षरोपनिषद्)

॥ ॐ ॥

(अ) स्वाधिष्ठान सन्मात्रे निर्विकल्पे चिदात्मने ॥
यो जीवति गत. स्नेह स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
—(अन्नपूर्णा उ २। २७)

जो समस्त पदार्थों के आश्रय स्थल निर्विकल्प चिन्मय सत्य स्वरूप आत्मा के अंदर जीवन धारण करते है वही जीवन्मुक्त है।

बाह्य जगत् के त्याग के अभ्यास से चित्त शान्त होता है और उसी को चित्त का नाश कहते है। प्रत्यक् चेतन में स्थित होना भी इसीका नाम है। वही परमानन्द स्थल है जहां पवन जाने पर फिर पुनर्जन्म की आशंका नहीं रहती और जिसे अमृत्व की प्राप्ति भी कहते है उपनिषदों के घोषण है सर्व व्यापी प्रत्यक चेतन रूप आत्मा की दृढ़ धारणा से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है।

समाता है। इससे ॐकार कहलाता है और सर्व प्राणों को नमाता है। इससे प्रणव कहलाता है। यह प्रणव चार वेद और चार वेद का कारणरूप होने से चार प्रकार से स्थित है ऐसा ध्यान करना इन पादादि को बुद्धि में धारण करने वाला पुरुष प्राणियों को सर्व दुःखों से तथा भयों से सभी प्रकार तारता है। तारण करने वाले सब पादादि का विष्णु ध्यान करते भय। इस रीति से ध्यान करने वाला सबको जीत है। सर्व इन्द्रियों को स्थिर कर ध्यान करने से ब्रह्मा महत्व पद को पाये हैं। जो ऐसे फल की इच्छा वाला हो ध्याता जानना। श्री महेश्वर ध्यान करने योग्य देव है। कि इनसे से सब उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर ब्रह्म ऐसे पांच प्रकार का पांच देवता वाला प्रणव कहला है। तथाधिकं एणमेकमास्या वसुशतस्यापि फलं मवाप्नोति इत्स्नमोंकार गतं ॥" अर्थात् इसमें ॐकार में रहे हुए पादा का एक क्षण ध्यान करके पुरुष यज्ञ से भी अधिक फल पा है। इस प्रकार कल्याण करने वाला परमात्मा ही रूप है।   —(अथर्वशिखोपनिषद्-सा

—प्रत्यगात्म ब्रह्म या पुरुष यह प्रणव स्वरूप है। अक उकार, तथा मकार यह अक्षर प्रणव है चार यह प्रणव ॐ है। इसको धारण करके योगी संसार रूप बन्धन से जाता है।   —(आत्म प्रबोधोपनिष

ॐ यह एकाक्षर परमात्मा रूप है। वह परमात्मा वि का कारण भुवनपति प्राचीन भुवन के रक्षक, सर्वज्ञ, सु

पति, यज्ञ, व्यापक, प्राण, हिरण्यगर्भ, गरुड़, इंद्र, रुद्र, जीवों की बुद्धि मे स्थित, पवन, रात्रि, दिवस, भूत, भविष्य, वर्तमान, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को प्रगट करने वाला, वसु, अन्तरिक्ष, दैत्यगण, अग्निदेवो, प्रजापति, स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वरुण, अर्यमा, चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग है। जो बुद्धि मे रहे हुए परमात्मा को इस रीति से सर्व रूप जानता है वह बुद्धिमान बुद्धि का उल्लघन करके परम गति को पाता है। —(एकाक्षरोपनिषद्)

॥ ॐ ॥

(अ) स्वाधिष्ठान सन्मात्रे निर्विकल्पे चिदात्मने ॥
यो जीवति गतः स्नेह स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
—(अन्नपूर्णा उ २। २७)

जो समस्त पदार्थों के आश्रय स्थल निर्विकल्प चिन्मय सत्य स्वरूप आत्मा के अंदर जीवन धारण करते है वही जीवन्मुक्त है।

बाह्य जगत् के त्याग के अभ्यास से चित्त शान्त होता है और उसी को चित्त का नाश कहते है। प्रत्यक् चेतन में स्थित होना भी इसीका नाम है। वही परमानन्द स्थल है जहां पवन जाने पर फिर पुनर्जन्म की आशका नहीं रहती और जिसे अमृत्व की प्राप्ति भी कहते है उपनिषदों के घोषण है सर्व व्यापी प्रत्यक चेतन रूप आत्मा की दृढ़ धारणा से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथाऽरस नित्यमगंध चवचत्।
अनाद्यनंत महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते।
—(कठ. उ १। ३। १५)

अर्थात्—अशब्द अस्पृश्य अरूप, अव्यय रस रहित नित्य अगंधवत् अनादि अनंत और बाह्य प्रपञ्च के अपर अवस्थित नित्य वस्तु का ज्ञान कर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त होता है।

(ख) तस्मात् यत्नः सदाकार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः।
कामक्रोधादयस्तत्र शत्रवः शत्रु सूदनः॥
तथापिकार्थ एताह मोक्ष विघ्नाय सर्वदा। (अ रा)

—संसार में जो लोग अक्षय दुःखों का नहीं चाहते और जो वृथा कर भी उससे मुक्त होना नहीं चाहते उनका क्या मनुष्य कहना है? नहीं। यदि मुक्त होना चाहते हैं तो सदा सर्वदा विद्याभ्यास का यत्न करना चाहिये। स्मरण रहे इतर जपन स जो कुछ पढ़ लेना का नाम विद्या नहीं है।

माहं देहाश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते

"मैं देह नहीं हूँ चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ, इस बुद्धि का नाम विद्या है। इस विद्या के लिये निरंतर अभ्यास करना चाहिये। काम क्रोध और लोभादि इस विद्या के प्रबल शत्रु हैं। इनमें भी क्रोध तो मोक्ष मार्ग में सर्वदा ही विघ्नकारी है।"

ॐ गुरु-गुरु में शिष भेद, अल्प मति मोरी,
ॐ अल्प मति मोरी। चारों वरण समान,
ॐ चारों वरण समान, सम पर-उपकारी ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥१॥

भावार्थ—हे प्रणवरूप सद्गुरुदेव! मेरी बुद्धि की यह क्षुद्रता ही है कि—जो आप में और परमात्मा मे भेद समझता हूँ, तथा—यह ख्याल करता हूँ कि—आप मुझ से भेद रखते हैं। पर नहीं प्रभो! आपको तो चारों वर्ण समान हैं, आप प्राणी मात्र पर एक समान उपकार करने वाले हैं। निश्चय करके सब पर समान उपकार करने वाले हैं।

हे सद्गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! ॥१॥

---

(२) सोरठाः—वंदौ गुरु-पद-कंज, कृपासिन्धु नर-रूप-हरि।
महामोह-तम-पुञ्ज, जासु वचन रविकर निकर ॥

चौपाईः—वंदौ गुरुपद पद्म परागा।
सुरुचि सुवास सरस अनुरागा ॥
अमिय मूरिमय चूरण-चारू।
शमन सकल भवरुज परिवारू ॥

अर्थः—श्री गुरुदेव के चरण कमलों को वंदन करता हूँ कि—जो गुरु कृपा के समुद्र और मनुष्य-रूप धारण किये विष्णुरूप, हैं महा अज्ञान मानो अंधकार है—उसके समूह के

दूर करने के लिये जिनके वचन सूर्य की किरणों के समूह के समान हैं। अर्थात्–जैसे सूर्य की किरणों से अंधेरा मिट जाता है, वैसे ही गुरु के उपदेश से हृदय का अज्ञान मिट जाता है। गुरुदेव के चरण कमलों की रज को प्रणाम करता हूँ कि–जो सुन्दर प्रकाश-मान्, सुगन्धित रसयुक्त और भक्ति का उत्पन्न करने वाली है। अमिय-मूरिमय अर्थात्–अमृत की जड़ उसका नाम है और वह सुन्दर चूर्णरूप है और संसार के जन्म मरणादि सम्पूर्ण रोगों के प्रकारों को नाश कर देती है।

चौपाई।—सुकृत संभुतन बिमल बिभूती।
मंजुल मंगल मोद प्रसूती ॥१॥
जन-मन मंजु मुकुर मलहरनी।
किये तिलक गुणगण बसकरनी ॥२॥

अर्थ: वह गुरु चरण कमलों की रज कैसी है कि–महादेव जी के शरीर में लगी हुई उज्ज्वल भभूत के समान है, और सुन्दर मंगल और आनन्द को उत्पन्न करने वाली है ॥१॥ और सज्जनों का चित्त मानो दर्पण है उसके मल को दूर करने वाली है, और तिलक करने से गुणों के समूह का वश में करने वाली है। भावार्थ यह है कि जो भक्त जन गुरुचरण की रज का सेवन करते हैं उनका चित्त दर्पण के समान निर्मल होजाता है और जो उसको अपने मस्तक में लगाकर किसी राजा के पास जाते हैं तो वे अपने वश में होजाते हैं।

चौपाई—श्रीगुरु-पद-नख मणिगण ज्योती ।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥५॥
दलन मोह तम हंस प्रकासू ।
बडे भाग्य उर आवहिं जासू ॥६॥

अर्थः—यहाँ तक चित्त के रोगों को दूर करने की औषधी कही, अब आगे जिन रोगों के कारण चित्त की दृष्टि मन्द हो गई थी, उसकी ज्योति बढ़ाने के लिये गुरु के चरण नखों की वन्दना करते हैं। श्री गुरु के चरणों के नखों की ज्योति मणियों के समूह के प्रकाश के समान है-कि जिनके स्मरण करते ही हृदय में दिव्य दृष्टि होजाती है ॥५॥ और उसका प्रकाश मोहरूपी अन्धकार को दूर करने में सूर्य के समान है, और वह जिसके हृदय मे आवे वह बडभागी है ॥६॥

चौपाई— उघरहिं विमल विलोचन ही के ।
मिटहिं दोष दुःख भवरजनी के ॥७॥
सूझहिं रामचरित मणि मानिक ।
गुप्त प्रगट जहं जो जेहि खानिक ॥८॥

अर्थ.—हृदय में आते ही हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते है, और संसार रूप रात्रि के दोष अर्थात् अन्धकार और दुःख कहिये जन्म मरणादि मिट जाते हैं ॥७॥ और राम-चरित्ररूपी मणि और माणिक गुप्त और प्रगट जहा जो जिस खान के हैं वे दीखने लगते है ॥८॥

दोहा—यथा सुअञ्जन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं शैल वन भूतल भूरि निधान ॥९॥

अर्थ—जैसे सिद्धता का अञ्जन नेत्रों में आँज कर साधक लोग सिद्ध हो जाते हैं और उसमें पृथ्वीतल पर पर्वत वन आदि बहुत से स्थानों में कौतुक देखते हैं ॥९॥

चौपाई—गुरु-पद-रज मृदु मञ्जुल अंजन।
नयन अमिय दृग दोष विभंजन ॥१॥
तेहि करि विमल विवेक विलोचन।
वरणौं रामचरित भवमोचन ॥२॥

अर्थ—उसी प्रकार गुरु के चरण की रज सुन्दर अञ्जन है और नयनामृत उसका नाम है, अर्थात् नेत्रों का अमृत के तुल्य शीतल और ठण्डा करने वाली है (और उसका गुण है) कि नेत्रों के विकार का नाश कर देती है ॥१॥ उसी रजरूपी अञ्जन से ज्ञान व विचाररूपी नेत्रों को निर्मल करके आवागमन छुड़ानेवाले राम (आत्म) + चरित्र (ज्ञान) का अभेद स्वरूप प्राप्त होजाता है।

—(रामायण)

गुरु महिमा।

जय गुरु आद्य निरञ्जन ईश्वर।
जय गुरु पारब्रह्म परमेश्वर ॥१॥

जय गुरु अज अखंड अविनाशी ।

जय गुरु राम सकल उरवासी ॥२॥

जय गुरु सर्वेश्वर सचराचर ।

जय गुरु देव दया करुणाकर ॥३॥

जय गुरु साक्षी रूप सततर ।

जय गुरु व्यापिक भीतर बाहर ॥४॥

जय गुरु तत्त्व मसी पद तुरिया ।

जय गुरु ईश एक रस भरिया ॥५॥

जय गुरु शब्दातीत शुद्ध चेतन ।

जय गुरु पुरणानंद पुरुषोत्तम ॥६॥

जय गुरु ज्ञान ध्यान विज्ञाता ।

जय गुरु भक्ति मुक्ति के दाता ॥७॥

जय गुरु जप तप वेद पुराणा ।

जय गुरु ब्रह्मरूप भगवाना ॥८॥

जय गुरु चतुर बीस अवतारा ।

जय गुरु मंत्र अधम ओधारा ॥९॥

जय गुरु सकल सृष्टि के करता ।

जय गुरु अष्ट योग के धरता ॥१०॥

जय गुरु कल्पद्रुम सुर सरिता ।

जय गुरु पावन परम पुनीता ॥११॥

जय गुरु तीरथ राज प्रयागा।
जय गुरु संयम बृत वैरागा ॥१२॥
जय गुरु चिन्तामणि सुर धनु।
जय गुरु शिष धरे ब्रज शिररेणु ॥१३॥
जय गुरु जगत पिता कू मेटे।
सत्य शोक सकल दुख मेट ॥१४॥
जय गुरु नारद कं समझाई।
जाय शरण परम पद पाई ॥१५॥
वेद व्यास कू मिले गुरु जबही।
अन्तर पाप टले सब तबही ॥१६॥
श्रीमुख वच किये गुरु जाई।
जीवन्मुक्त भये निधि पाई ॥१७॥
पारवती गुरु जब ही कीना।
अमर आत्मा तबही कीना ॥१८॥
रामचन्द्र पूरण प्रभु होई।
गुरु वसिष्ठ ईष किये सोई ॥१९॥
अलख नाम सहजी अगाहरना।
सा सपे सतगुरु के चरणा ॥२०॥
कहाँ लौ कहूँ गुरु की महिमा।
पारन पाय हरिहर ब्रह्मा ॥२१॥

श्रीगुरु सुजस करू विस्तारा।
होय रसना जो अनन्त अपारा ॥२२॥
जैसे रवि विन रात न जाई।
गुरु विन सुपनन्तर हरि नाहीं ॥२३॥
गुरु के चरण प्रीति नहीं लागी।
सो प्राणी महामद अभागी ॥२४॥
सूकर कूकर काक मझारा।
गुरु की भक्ति विन धिक अवतारा ॥२५॥
उपजे खपे जनम वहुवारा।
गुरु कृपा विन नहिं निस्तारा ॥२६॥
गुरु निन्दक नर जे ससारा।
गये नरक सो मूढ़ गवांरा ॥२७॥
गुरु निन्दा जे सुनहीं काना।
अधम नहीं काय ताहि समाना ॥२८॥
श्रीगुरु चरण पादुका चपे।
वाके दोष त्रिभुवन कपे ॥२९॥
जे गुरु की सेजें पगधारे।
वाको पातिक कौन निवारे ॥३०॥
गुरु मरजाद न राखे कोई।
अते बुद्धि असुर की होई ॥३१॥

गुरु को आप बराबर देखे।
ताको हरि शत्रु सम लेखे ॥३२॥
सद्गुरु सेवक जे सुख पावे।
इन्द्रादिक कू सुपन ना आवे ॥३३॥
तन मन धन सुवन सुत दारा।
संपत मोत सहित कह वारा ॥३४॥
गुरु चरनन निवदन कीजे।
सब भाव काम-सुख कीजे ॥३५॥
गुरु कू ब्रह्म रूप जे जोई।
ब्रह्म भाव आपे ब्रह्म होई ॥३६॥
ताकू दोष लेश नहिं कोई।
जो सेवक सद्गुरु का होई ॥३७॥
सद्गुरु देव दया जब करहीं।
सो प्राणी भवसागर तरहीं ॥३८॥
जो सद्गुरु पद प्रेम पूजे।
ताकू अगम निगम सब सूझे ॥३९॥
तीनकाल कराव ज्ञाना।
जामे भूत भविष्य वर्तमाना ॥४०॥
मुक्ति चतुर्थी दासी होई।
त्रिभुवन वश्य सब कोई ॥४१॥

सद्गुरु शब्द सुधारस पीवे।
चार पदारथ कूं नहिं छीवे ॥४१॥

इन्दु-कमल भू शिव षड़ानन।
गुरु आधार रहे गिरि कानन ॥४२॥

सप्त द्वीप सब सरिता सागर।
उडगन इन्दु देव दिवाकर ॥४३॥

गगन पवन गुरु के आधारा।
तेज तोय वसुधा विस्तारा ॥४४॥

स्थावर जंगम जीव है जेते।
गुरु आधार रहे सब तेते ॥४५॥

आद्य अंत मध्य हरि गुरु होई।
गुरु से अवर अधिक नहिं कोई ॥४६॥

गुरु नारायण नर के रूपा।
शब्द बोधमय तत्त्व अनूपा ॥४७॥

शीतल कोमल वचन रसाला।
कहे प्रीतम गुरु परम दयाला ॥४८॥

सद्गुरु चरण कमल पूज सेवे।
ऐसे अखण्ड अभैपद लेवे ॥४९

प्रीतम सोई परम पद पावे।
जो सद्गुरु के शरणे जावे ॥५०॥

गुरु का आप बराबर देखे।
ताको हरि शत्रु सम लेखे ॥१२॥
सद्गुरु सेवक जे सुख पावे।
इन्द्रादिक कू सुपने ना आवे ॥१३॥
तन मन धन सुवन सुत दारा।
संपत प्रीत सहित कर वारा ॥१४॥
गुरु चरणन निवेदन कीजे।
सब भाव लाभ-सुख लीजे ॥१५॥
गुरु कू ब्रह्म रूप जो जोई।
ब्रह्म आप आपे ब्रह्म होई ॥१६॥
ताकू दोष लेश नहिं कोई।
जो सेवक सद्गुरु का होई ॥१७॥
सद्गुरु दया दया जब करहीं।
सो प्राणी भवसागर तरहीं ॥१८॥
जो सद्गुरु पद प्रेम पूजे।
ताकू अगम निगम सब सूझे ॥१९॥
नीलकमल कहाय दाना।
जान भूत भविष्य वर्तमाना ॥२०॥
मुक्ति चतुर्थी दासी होई।
त्रिभुवन वन्द सब कोई ॥२१॥

सद्गुरु शब्द सुधारस पीवे।
चार पदारथ कू नहिं छीवे ॥४१॥

इन्दु-कमल भू शिव षडानन।
गुरु आधार रहे गिरि कानन ॥४२॥

सप्त द्वीप सब सरिता सागर।
उडगन इन्दु देव दिवाकर ॥४३॥

गगन पवन गुरु के आधारा।
तेज तोय वसुधा विस्तारा ॥४४॥

स्थावर जंगम जीव है जेते।
गुरु आधार रहे सब तेते ॥४५॥

आद्य अंत मध्य हरि गुरु होई।
गुरु से अवर अधिक नहिं कोई ॥४६॥

गुरु नारायण नर के रूपा।
शब्द ओअमय तत्त्व अनूपा ॥४७॥

शीतल कोमल वचन रसाला।
कहे प्रीतम गुरु परम दयाला ॥४८॥

सद्गुरु चरण कमल पूज सेवे।
ऐसे अखण्ड अभैपद लेवे ॥४९

प्रीतम सोई परम पद पावे।
जो सद्गुरु के शरणे जावे ॥५०॥

ॐ वेदव्यास खुद आप, गुण गुरु का गावे,
ॐ गुण गुरु का गावे। ब्रह्म-विद्या ब्रह्म-ज्ञान,
ॐ ब्रह्म-विद्या ब्रह्म-ज्ञान, गुरु बिन नहिं आवे॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥७॥

भावार्थ—हे ब्रह्मरूप गुरु परमात्मा! हम तो क्या पर स्वयं वेदव्यास जी भी आपके गुणों का गान करते हैं, निश्चय से आप के गुण गान करते हैं कि ब्रह्मविद्या-ब्रह्मज्ञान बिना गुरु के प्राप्त नहीं होता। निश्चय करके बिना गुरु कृपा के ब्रह्मविद्या ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। कृपा कर मेरे अज्ञान बन्धन का दूर कीजिये।

हे सद्गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! ॥७॥

गुरु महिमा सुने अरु गावे।
सो बहोर गर्भवास नहिं आवे ॥५१॥

० ॐ तत्सत् ०

(३) श्लोक—शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कोऽपि वा।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

भावार्थ—शिव के रुष्ट होजाने पर तो गुरु बचा लेते हैं परन्तु गुरु के रुष्ट होजाने पर फिर कोई रक्षक नहीं होता—गुरु ही एक परब्रह्म है—उस गुरु देव को नमस्कार है।
—(व्यास)

ॐ विषम दृष्टि होय अङ्ग, शून्य गुरु गुरु-पद से,
ॐ शून्य गुरु गुरु-पद से। दंभि सकामी जान,
ॐ दंभि सकामी जाण, तज कर दृढ़ सत्संग[४] ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥३॥

भावार्थः—हे प्रणवरूप सद्गुरु देव! ऐसी विषम दृष्टि वाला होने से प्रिय होते हुए भी गुरु तथा–उनके चरण कमलों से शून्य–विमुख रहता है, निश्चय करके आपके चरण कमलों से विमुख रहना है। (यह जानते हुए भी हे नाथ! क्या करें? यह दुर्गुण छूटते नहीं। इन से पिण्ड छुड़ाने को ही आपकी शरण में पडे हैं। दया कीजिये–शरण दीजिये) हम जो भी

(ब) "चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदं।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठ योगिदुर्लभम्" ॥

भावार्थः—चिन्तामणि से सांसारिक सुख तथा कल्पवृक्ष से स्वर्ग की सम्पदा प्राप्त होनी है परन्तु गुरुभक्त को तो वह वैकुण्ठ मिलता है, जो योगियों को भी दुर्लभ है।

—(व्यास)

(४) (अ) श्लोकः—पापं खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातु।
किं रक्षया कृतमतेरकुतो भयस्य ॥
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा।
तस्मात्तवास्मिसुतरामनुकम्पनीयः ॥

संगी और सकामी हों तो भी आप हमारे दुर्गुणों का तज-अर्थात् उनकी ओर दुर्लक्ष्य कर अपने दृढ़ सत्-संग में अङ्गीकार करने की कृपा कीजिये—अज्ञानावरण का दूर कर स्व-स्वरूप का ज्ञान कराइये।

हे गुरुदेव ! आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥३॥

भावार्थ—हे गुरुदेव ! मैं पापी हूँ, मैं दुष्कर्मकारी हूँ। क्या यह समझ कर ही आप मेरा परित्याग कर रहे हैं ? नहीं नहीं ऐसा करना तो मुनासिब न होगा। क्यों कि, भय रहित प्राप्त और सुखकारी को रक्षा से क्या प्रयोजन ? रक्षा तो पापियों अनाथों और दुःखों ही की की जाती है। जो स्वयं रक्षित है, उसकी रक्षा नहीं की जाती है, रक्षा तो अ-रक्षितों ही की की जाती है। मुझ महापापी महा अधम और महाअसाधु की रक्षा आप न करेंगे तो फिर करेंगे किसकी ? मैं ही तो आपकी दया—आपके प्राण की मई रक्षा—का सबसे अधिक अधिकारी हूँ। आप ही कहिये हूँ या—नहीं ?

आगे गह गणिका गज गीध सु तो अब कोऊ दिखात नहीं है। पापपरायन ताप भर पन्ताप समान न आन कहीं है। ह मुगदायक ! प्रभमिध ! जग यों तो भले औ बुरे सबही हैं। दीनदयाल औ दीन प्रभो ! तुमसे तुमही हमसे हमही हैं ॥१॥
—(कल्याण)

(क) धनमान भावी विपत्ति सम्म नयत नाश ।
ज्यों गंगाजल पावत कुगति ज्यास विनाश ॥१॥

ॐ गुरु देवन के देव, हैं राजन पतिराजा,
ॐ हैं राजन पति राजा। अधिकारी जनों बोध,
ॐ अधिकारी जनों बोध, खरो निज मति[५] धारो।
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ ४ ॥

भावार्थः—हे प्रणवरूप गुरुदेव ! आप देवों के देव महादेव हैं, राजाओं के राजाधिराज परमेश्वर हैं; निश्चय करके आप सदाशिव-परमेश्वर हैं; अतः हम अनुयायियों को बोध प्रदान कर अधिकारी बनाइये-निश्चय करके सत्य बोध प्रदान द्वारा सच्चा अधिकारी बना निज हृदय में स्थान प्रदान करने की कृपा कीजिये।

हे गुरुदेव आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो ! ॥४॥

चन्दन शीतल लोक में, चन्दन ते शशि शीत।
चन्दन चन्दहि युगल ते, शीतल सतसँगनीत ॥२॥
—(सार सूक्तावली।)

५—(अ) श्लोकः—

अनेनैव प्रकारेण, बुद्धिभेदो न सर्वगः।
दाता च धीरतामेति, गीयते नामकोटिभि॰ ॥
गुरुप्रज्ञाप्रसादेन, मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्यते तत्त्व, विरक्तो भवसागरात् ॥

भावार्थः - इसी पूर्वोक्त प्रकार (जो इसके थम उपदेश

कुमी और सकामी हों तो भी आप हमारे दुर्गुणों को तज अर्थात् उनकी ओर दुर्लक्ष्य कर अपने इस सत्-संग में आने का करने की कृपा कीजिये-अज्ञानावरण को दूर कर स्वरूप का ज्ञान कराइये।

हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! ॥५॥

भावार्थः—हे गुरुदेव! मैं पापी हूँ, मैं दुष्कर्मकारी हूँ। क्या यह समझ कर ही आप मेरा परित्याग कर रहे हैं? नहीं महा ऐसा करना तो मुनासिब न होगा। क्यों कि, मम सहित पाप और सुकृतकारी की रक्षा से क्या प्रयोजन? रक्षा तो पापियों अपातों और मतों की की की जाती है। जो स्वयं रक्षित है उसकी रक्षा नहीं की जाती है, रक्षा तो अरक्षितों ही की की जाती है। मुझ महापापी महा अधम और महाअसाधु की रक्षा आप न करेंगे तो फिर करेंगे किसकी! मैं ही तो आपकी दया-व्यापक द्वारा की गई रक्षा-का सबसे अधिक अधिकारी हूँ। आप ही कहिये हूँ या—नहीं!

भाग गई गणिका गज गीध सु जो अब कोऊ दिखात नहीं है।
पापपरायण नाप भर परताप समान न आन कहीं है॥
हे सुखदायक! प्रभनिध! जग यों तो मस औ बुर सबही है।
दीनदयाल औ बोल प्रभा! तुमसे तुमही हमसे हमही हैं॥१॥
—(कल्याण)

थ) धर्मधाम भापी पिगति मम नपत गाए।
ज्यों गगारक पावन दुगति व्याम पिनाय॥१॥

की शरण जाऊंगा ? क्या आप से बढ कर भी कोई ऐसा है जो मुझ सदृश पापी को पार लगा सके ?

—(जगद्धरभट्ट)

(स) श्लोकः—ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदाद्विभागिने ।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥१॥

भावार्थः—ईश्वर, गुरू और आत्मा ऐसे मूर्तिभेद कर विभाग को प्राप्त, और आकाश की नाईं व्याप्त है देह जिसका, ऐसे दक्षिणामूर्ति कल्याणस्वरूप गुरुदेव ! आपके प्रति-प्रणाम है, वारम्बार प्रणाम है ।

—(श्रीशंकराचार्य ।)

(ड)

रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाऽग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

भावार्थः—जड़ भरत ने राजा रहूगण को उपदेश करते हुए कहा हैः—यह परम-ज्ञान तप से, यज्ञ से, अन्न सतर्पण से, गृहस्थाश्रम में रह कर लोकोपकार करने से, वेदाध्ययन से, जल, अग्नि और सूर्य की उपासना से-किसी से भी-नही प्राप्त होता, केवल महत्पादरजोभिषेक अर्थात्—सत्पुरुष के चरणों की धूल मस्तक पर धारण करने से ही प्राप्त होता है ।

सद्गुरु की कृपा बिना तत्त्वमस्यादि वाक्यों द्वारा आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता । भगवान् शंकराचार्य अपने वेदान्त ग्रन्थ श्री स्वात्म निरूपण मे आज्ञा करते हैं.—

दिया है—कि एक आत्मतत्त्व ही सत्य है) उनके सर्वगत चेतन में किसी प्रकार से भी भेद की कल्पना नहीं बन सकती है। जो विद्वान् जिज्ञासुओं के प्रति उस ब्रह्म चेतन के अभेदभाव का ज्ञान करता है, वह चेतना को प्राप्त होता है, वह करोड़ों नामों करके गायन किया जाता है अर्थात्—जिज्ञासुजन तिस को करोड़ों नामों करके स्तुति करते हैं।

मूर्ख हो अथवा पण्डित हो, गुरु की कृपा से जो आत्म-तत्त्व को यथार्थ रूप से जान लेता है वह शीघ्र ही संसाररूपी समुद्र से विरक्त अर्थात्–उपरामयुक्त होकर जन्म मरण से छूट जाता है फिर संसारचक्र में नहीं आता है। गुरुदेव की ऐसी ही महिमा है।

—(अष्टा० गीता २–१२–२१)

(ख) श्लोक:—त्वावत्प्रसीद कुरु मः करुणामनल्प-
मज्ञानकमिद्युपरं । मयि मा विहासी।
ब्रूहि त्वमेव भगवन् ! करुणापावन-
त्वत्पादास्तया कमपरं शरणं प्रयामः ॥१॥

भावार्थः—हे गुरुदेव विश्वपति ! मृत्यु काल के प्रथम ही आप मुझ पर कृपा कर दीजिये मेरे इस नाम विज्ञान पर कुछ तो ध्यान दीजिये। मेरी प्रार्थना सुन लीजिये ! भगवन् ! मुझे रक्षा कीजिये ! आप ही कहिये ! यदि आपके सदृश करुणा-सागर ने भी मेरी रक्षा न की, तो मैं फिर और किस

की शरण जाऊंगा ? क्या आप से बढ कर भी कोई ऐसा है जो मुझ सदृश पापी को पार लगा सके ?

—(जगद्धरभट्ट)

(स) श्लोकः—ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदाद्विभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय, दक्षिणामूर्तये नमः ॥१॥

भावार्थ.—ईश्वर, गुरू और आत्मा ऐसे मूर्तिभेद कर विभाग को प्राप्त, और आकाश की नाईं व्याप्त है देह जिसका, ऐसे दक्षिणामूर्ति कल्याणस्वरूप गुरुदेव ! आपके प्रति-प्रणाम है, बारम्बार प्रणाम है।

—(श्रीशंकराचार्य।)

(ड)

रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाऽग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

भावार्थः—जड भरत ने राजा रहूगण को उपदेश करते हुए कहा हैः—यह परम-ज्ञान तप से, यज्ञ से, अन्न सतर्पण से, गृहस्थाश्रम में रह कर लोकोपकार करने से, वेदाध्ययन से, जल, अग्नि और सूर्य की उपासना से–किसी से भी–नही प्राप्त होता, केवल महत्पादरजोभिषेक अर्थात्–सत्पुरुष के चरणों की धूल मस्तक पर धारण करने से ही प्राप्त होता है।

सद्गुरु की कृपा बिना तत्त्वमस्यादि वाक्यों द्वारा आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। भगवान् शंकराचार्य अपने वेदान्त ग्रन्थ श्री स्वात्म निरूपण मे आज्ञा करते हैः—

ऐक्यं परैः श्रुतिवाक्यै रात्माऽप्यात्मप्रकाश मानोऽपि
दैशिक दयाविहीनैरपरोक्षयितुं न शक्यते पुरुषैः ॥४॥

अर्थात्—आत्मा निरंतर स्वरूप द्वारा भासमान प्रकाशमान होते हुए भी सद्गुरु की कृपा के बिना पण्डित पुरुषों के केवल अखंड अर्थ के प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् के महावाक्यों से अनुभव नहीं हो सकता ब्रह्मविद्या सर्व विद्याओं में अत्यंत श्रेष्ठ होने से भी सद्गुरु के अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अन्यथा नहीं। आगे कहते हैं—

श्लोक—विरहित काम्य निषिद्धो विहितानुष्ठान निर्मल स्वान्तः।
भवति समस्त वार्थे गुरुणा किमिति त्वया न मन्तव्यम्॥

—काम्य और निषिद्ध कर्म से रहित [और] विहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा निर्मल अन्तःकरण वाला अपना आपही ज्ञान को पाता है [तो] गुरु का क्या प्रयोजन [है] ऐसा तेरे न मानना—क्योंकि—

श्लोक—कर्मभिरेव न बोधः, प्रभवति गुरुणा विना दयानिधि ना।
आचार्यवान् हि पुरुषोवेदेत्यर्थस्य वेद सिद्धि त्वात्॥

—आचार्य वाला पुरुष ही जान सकता है इस अर्थ का वेद सिद्धपना होने से दयानिधि गुरु बिना कर्मों द्वारा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

सत्संग।

श्लोकः—चंदनं शीतलं लोके चद्नादपि चन्द्रमा।
चन्द्र चन्द्नयोर्मध्ये शीतला साधु संगतिः॥

अर्थात्‌:—इस लोक में चन्दन शीतल है चन्दन से चन्द्रमा शीतल है और चन्द्र तथा चन्द्न के बीच साधु जनकी संगति शीतल है। कवि की इस विज्ञान पूर्ण युक्ति में चन्द्न और चन्द्र से बढ़कर साधु संगति को न करते हुए उनके बीच ही साधु सगति को शीतल क्यों कहा है? इसके रहस्य कोई जान सकता है? चंद्न हमारे पास है। चाहे जिस समय हम उससे शीतलता प्राप्त कर सकते है। एवम्‌ चन्द्र हम से हजारों मील दूर है तो भी हम उससे शीतलता का लाभ कर सकते है तो उनके बीच में साधु संगति कैसी! उसकी शीतलता कैसी! एवम्‌ उसकी अनुभूति भी कैसी? किन्तु कवि की कितनी गंभीर कल्पना है। कितनी उच्च भावना है, एवम्‌ कितनी उत्तम रचना है—

गंगा पापं शशी तापं दैन्य कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च घ्न ति सतो महाशया॥

गंगा पाप, मलिना चद्र, ताप उष्णता कल्पतरु, दैन्य दीनता दरिद्रता तीनों एक २ का नाश करते हैं; किन्तु सत महाशय तो तीनों ही का नाश करते है। अर्थात्‌ संतों मे गंगा चंद्र एवम्‌ कल्पतरु का सामर्थ्य है। चंदन स्वभावतः शीतल

ऐक्यं परैः श्रुतिवाक्यैः रात्माद्यात्मप्रकाश मानोऽपि
दैशिक दयाविहीनैरपरोक्षयितुं न शक्यते पुरुषैः ॥४॥

अर्थात्‌:—आत्मा निरन्तर स्वरूप द्वारा भासमान प्रकाशमान होते हुए भी सद्गुरु की कृपा के बिना परिश्रम पुरुषों के केवल अखंड अर्थ के प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् के महावाक्यों से अनुभव नहीं हो सकता ब्रह्मविद्या सर्व विद्याओं में अत्यंत श्रेष्ठ होने से भी सद्गुरु के अनुग्रह द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अन्यथा नहीं। आगे कहते हैं—

श्लोकः—विरहित काम्य निषिद्धो विहितानुष्ठान निर्मल स्वान्तः।
भजति स्वमेव बोधं गुरुणा किमिति त्वया न मन्तव्यम्॥

—काम्य और निषिद्ध कर्म से रहित [और] विहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा निर्मल अन्तःकरण वाला अपने आपही ज्ञान को पाता है [तो] गुरु का क्या प्रयोजन [है] ऐसा तेरे न मानना—क्योंकि—

श्लोकः—कर्मनिचय न बोधं, जनयति गुरुणा विना दयानिधि ना।
आचार्यवान् हि पुरुषोवेदेत्यर्थस्य वेद सिद्धि त्वात्॥

—आचार्य वाला पुरुष ही जान सकता है इस अर्थ का वेद सिद्धपना होने से कृपानिधि गुरु बिना कर्मों द्वारा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

सत्संग।

श्लोकः—चंदनं शीतलं लोके चदनादपि चन्द्रमा।
चन्द्र चन्दनयोर्मध्ये शीतला साधु संगतिः॥

अर्थात्ः—इस लोक में चन्दन शीतल है चन्दन से चन्द्रमा शीतल है और चन्द्र तथा चन्दन के बीच साधु जनकी संगति शीतल है। कवि की इस विज्ञान पूर्ण युक्ति में चन्दन और चन्द्र से बढ़कर साधु संगति को न करते हुए उनके बीच ही साधु सगति को शीतल क्यों कहा है? इसके रहस्य कोई जान सकता है? चंदन हमारे पास है। चाहे जिस समय हम उससे शीतलता प्राप्त कर सकते हैं। एवम् चन्द्र हम से हजारों मील दूर है तो भी हम उससे शीतलता का लाभ कर सकते हे तो उनके बीच में साधु सगति कैसी! उसकी शीतलता कैसी! एवम् उसकी अनुभूति भी कैसी? किन्तु कवि की कितनी गंभीर कल्पना है। कितनी उच्च भावना है, एवम् कितनी उत्तम रचना है—

गगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च घ्न ति सतो महाशया॥

गंगा पाप, मलिना चंद्र, ताप उष्णता कल्पतरु, दैन्य दीनता दरिद्रता तीनों एक २ का नाश करते हे, किन्तु सत महाशय तो तीनों ही का नाश करते हैं। अर्थात् संतों मे गंगा चंद्र एवम् कल्पतरु का सामर्थ्य है। चदन स्वभावतः शीतल

ऐक्य परैः श्रुतिवाक्यै रात्माह्यात्मप्रकाश मानोऽपि
दैशिक दयाविहीनैरपरोक्षयितुं न शक्यते पुरुषैः ॥४१॥

अर्थात्ः—आत्मा निरंतर स्वरूप द्वारा भासमान् प्रकाशमान होते हुए भी सद्गुरु की कृपा के बिना पण्डित पुरुषों से केवल अखंड अर्थ के प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् के महावाक्यों से अनुभव नहीं हो सकता ब्रह्मविद्या सर्व विद्याओं में अत्यंत श्रेष्ठ होने से भी सद्गुरु के अनुग्रह द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अन्यथा नहीं। आगे कहते हैं—

श्लोकः—विरहित काम्य निषिद्धो विहितानुष्ठान निर्मल स्वान्तः।
प्राप्नोति स्वमेव बोधं गुरुणा किमिति त्वया न मन्तव्यम् ॥

—काम्य और निषिद्ध कर्म से रहित [और] विहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा निर्मल अन्तःकरण वाला अपने आपही ज्ञान को पाता है [तो] गुरु का क्या प्रयोजन [है] ऐसा तेरे न मानना—क्योंकि—

श्लोकः—कर्मभि रेव न बोधः, प्रभवति गुरुणा विना दयानिधिना।
आचार्यवान् हि पुरुषोवेदेत्यर्थस्य वेद सिद्धि त्वात् ॥

—आचार्य वाला पुरुष ही जान सकता है इस अर्थ का वेद सिद्धपना होने से दयानिधि गुरु बिना कर्मों द्वारा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

न चास्य दोषो न च सद्गुणो वा संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति ॥

हे राजन् यह गोभक्षक लोगों के वाक्य सुनता है और मैं मुनि जनों के वाक्य श्रवण-करता हूँ। इसमे इसको दोष है न मेरा गुन है। संसर्ग सगति के अनुसार गुण दोष बनते हैं।

पर साधु सग मे यह बात नहीं होती। सज्जन दुर्जन को अपने सरीखा वना लेते हैं। वे उसके सरीखे नही बन जाते। जैसे पुष्प अपनी सुगंध मिट्टी को देकर उसे सुगंधित कर देता है, मिट्टी का गुण अपने मे नहीं लेता।

सत्सगाद्भवति हि साधुता खलानां
साधूनाम् नहि खल संगमात्खलत्वम्।
आमोदं कुसुम भवम् मृदेव धत्ते
मृद्गन्धम् नहि कुसुमानि धारयति।

एक समय वशिष्ठ ने सत्सग की प्रशंसा की और विश्वामित्र ने तप की प्रशसा की। वादविवाद करते हुए दोनों मे श्रेष्ठ कौन है-इसके निर्णय के लिये दोनों ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने विष्णु के पास भेजा। विष्णु ने शकर के पास भेजा और शकर ने शेषनाग के पास भेजा। शेषनाग को दोनों ने अपनी अपनी सुनाई। नाग महाराज को वडा विचार हुआ कि इसका निर्णय क्या करें। दोनों ही समर्थ हैं। किसको कैसे बुरा भला बनावें? सोच कर युक्ति के साथ कहा कि इस समय मेरे सिर पर पृथ्वी का बहुत भार होरहा है, इसलिये

है तो भी चंद्र किरणों से अत्यंत शीतल होकर शरीर को शान्त करता है चंदन और चंद्र की संगति मन करा सकते हैं। इसलिये संत दोनों के मध्यस्थ हैं। इसके लिये कोई कहेगा कि इसमें सन्त ही की क्या आवश्यकता है चाहे सो चन्दन का का एक कर सकता है, कभी नहीं यह काम सामान्य मनुष्य का नहीं है क्योंकि शशीताप चंद्र मंडल पर जिसकी सत्ता है प्रथम 'चन्द्रमा मनसो जातः' जिस विराट् पुरुष के मन से चंद्रमा बना है उस विराट् पुरुष का प्रथम उसके रूप को सिवाय संतों के सामान्य मनुष्य नहीं जान सकता। साधु जनों के मन पर मन-आकाश का चापरूप निकला हुआ रहता है। इस लिये उनका मन निर्मल चन्द्र के समान स्वच्छ स्फटिक के समान प्रकाश प्राप्त रहता है। अतएव वे भूमिस्थ चंदन के अणुओं को प्रथम आकाशस्थ चंद्र किरणों के अणुओं का समान आकर्षित करके दोनों को शीतलता का अपूर्व मिश्रण बनाकर भव तापस्थ जनों को उस शीतल अमृत मिश्रण द्वारा संताप दूर करके उसको शांत करके अमर कर देते हैं। इस लिए कवि ने चन्द्र और चन्दन के बीच शीतल साधु संगति का उल्लेख किया है। एक तोता था भयंकर यमन के यहाँ रहता था और दूसरा मुनि जन के यहाँ था। किसी राजा ने मुनि के यहाँ पले हुए तोते से पूछा कि यह तेरा भाई हिंसादिकों की बुरी बातें करता है और तू शान्त दानादिकों की अच्छी बातें करता है यह क्या है? उसने उत्तर दिया कि—

गवाशनानां मम शृणोति वाक्यमहं हि राजन्! वचनं मुनीनाम्।

न चास्य दोषो न च सद्गुणो वा ससर्गजा दोष गुणा भवन्ति॥

हे राजन् यह गोभक्षक लोगों के वाक्य सुनता है और मैं मुनि जनों के वाक्य श्रवण करता हूँ। इसमे इसको दोष है न मेरा गुन है। संसर्ग सगति के अनुसार गुण दोष बनते है।

पर साधु संग में यह बात नहीं होती। सज्जन दुर्जन को अपने सरीखा बना लेते हैं। वे उसके सरीखे नही बन जाते। जैसे पुष्प अपनी सुगध मिट्टी को देकर उसे सुगधित कर देता है, मिट्टी का गुण अपने मे नहीं लेता।

सत्सगाद्भवति हि साधुता खलानां
साधूनाम् नहि खल संगमात्खलत्वम्।
आमोदं कुसुम भवम् मृदेव धत्ते
मृद्गन्धम् नहि कुसुमानि धारयन्ति।

एक समय वशिष्ठ ने सत्सग की प्रशसा की और विश्वामित्र ने तप की प्रशसा की। वादविवाद करते हुए दोनों में श्रेष्ठ कौन है-इसके निर्णय के लिये दोनों ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने विष्णु के पास भेजा। विष्णु ने शकर के पास भेजा और शकर ने शेषनाग के पास भेजा। शेषनाग को दोनों ने अपनी अपनी सुनाई। नाग महाराज को बड़ा विचार हुआ कि इसका निर्णय क्या करें। दोनों ही समर्थ हैं। किसको कैसे बुरा भला बनावें? सोच कर युक्ति के साथ कहा कि इस समय मेरे सिर पर पृथ्वी का बहुत भार होरहा है, इसलिये

मैं इसका ठीक निर्णय नहीं कर सकता अतएव तुम दोनों एक के पीछे एक अपने २ पुण्य का कुछ अंश प्रदान करो जिससे पृथ्वी कुछ हल्की होकर ऊंची होजाय । फिर मैं इसका निर्णय करूं । इस पर से विश्वामित्र ने एक दिन का, एक महीने का, एक वर्ष का अन्त में सात वर्ष का तप-बल अर्पण कर दिया किन्तु पृथ्वी न तो हल्की हुई और न ऊंची ही हुई। पीछे वशिष्ठ ने अपने क्षणमात्र ही के सत्संग का पुण्य अर्पण किया जिससे पृथ्वी हल्की होकर शेष भगवान् के शिर से एक बालिस्त ऊपर उठ गई । इस अपूर्व निर्णय को देख कर दोनों अपने २ स्थान को चले गये । वैसे ही सब अयोध्या को वैकुण्ठ लेजाते वक्त भगवान् रामचंद्र ने दूतों से तलाश कराया कि शायद पीछे कोई रह तो नहीं गया है । तलाश करने पर मालूम हुआ कि एक कुत्ता पीछे रह गया है जिसका कारण यह है कि उसका शरीर घावों से अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त है और उसमे हजारों कीड़े भरे पड़े हैं। भगवान् रामचन्द्र ने उस कुत्ते को सरयू में स्नान कराते ही कुत्ते सहित सब जीव चतुर्भुज रूप धारण करके भगवान् रामचन्द्र के सम्मुख खड़े हुए । उनसे पूछने पर मालूम हुआ कि कुत्ता अगले जन्म में एक नामधारी गुरु था और कीड़े उसके शिष्य थे। जिन्होंने स्वार्थ में आकर उनको सत्य उपदेश नहीं दिया अनात्मज्ञान सिखा कर कुमार्ग उतारा जिससे यह दशा प्राप्त हुई ।

(ख) त्रोटक छंद—

सत संग सदा सुखदायक है
सत संग दुरासन नायक है ।

सुधरे जन तो सतसंग थई
निगमागम तो भवभेद चहे ॥१॥
करवो सतसंग स्वतंत्र नरे
गुण वृद्धि थरी कुगी दूर करे ।
जग होय मलिन अशुद्ध घणुं
मगी गंग विषे शुभ गंग पणुं ॥२॥
मलयागर मारुत संगमथी
बनि हाटक लोह पणुज टले ।
कहि पारस ने जड़लो मणे
वन वृक्ष सुघास करे सघणं ॥३॥
सतसंग सदा सुख सागर छे
सतसंग महा गुण आगर छे ।
सहु तीरथराज गयादिक जे
तुलना सतसंग समी नहिं ते ॥४॥
वणी तीरथ तो सहु पाप हरे
शशि उज्ज्वलता मन हर्ष करे ।
वली कल्पतरु दीनता हरपे
सतसंग थी ए सघणु सरसे ॥५॥
सुधरे शठ जो सतसंग करे
मन थी मद मोह विकार हरे ।

मैं इसका ठीक निर्णय नहीं कर सकता अतएव तुम दोनों एक के पीछे एक अपने २ पुण्य का कुछ अंश प्रदान करो जिससे पृथ्वी कुछ हल्की होकर ऊंची होजाय। फिर मैं इसका निर्णय करूं। इस पर से विश्वामित्र ने एक दिन का, एक महीने का, एक वर्ष का अन्त में सात वर्ष का तप-बल अर्पण कर दिया किन्तु पृथ्वी न तो हल्की हुई और न ऊंची ही हुई। पीछे वशिष्ठ ने अपने दसमाव ही के सत्संग का पुण्य अर्पण किया जिससे पृथ्वी हल्की होकर शेष भगवान् के शिर से एक बालिश्त ऊपर उठ गई। इस अपूर्व निर्णय को देख कर दोनों अपने २ स्थान को चले गये। वैसे ही सब अयोध्या को वैकुण्ठ लेजाते वक्त भगवान् रामचंद्र ने दूतों से तलाश कराया कि शायद पीछे कोई रह तो नहीं गया है। तलाश करने पर मालूम हुआ कि एक कुत्ता पीछे रह गया है जिसका कारण यह है कि उसका शरीर घावों से अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त है और उसमें हजारों कीड़े भरे पड़े हैं। भगवान् रामचन्द्र ने उस कुत्ते को सरयू में स्नान कराते ही कुत्ते सहित सब जीव चतुर्भुज रूप धारण करके भगवान् रामचन्द्र के सम्मुख खड़े हुए। उनसे पूछने पर मालूम हुआ कि कुत्ता अगले जन्म में एक ब्राह्मण गुरु था और कीड़े उसके शिष्य थे। ब्राह्मण ने स्वार्थ में आकर उनको सत्य उपदेश नहीं दिया अनात्मज्ञान सिखा कर कुमार्ग उतारा जिससे यह दशा प्राप्त हुई।

(ख) तोटक छंद:—

सत संग सदा सुखदायक है

सत वेद पुराणन गायक है।

दोहाः—

सदा सतना हृदयमा, वास करे थे नाथ।
मारे सज्जन सेवियें, स्नेह करी ते साथ ॥१॥

जेम पदारथ मात्रमां, व्यापक अग्नि एक।
दिवासली थी देवता वहेलो होय विपक ॥२॥

एम हरि हरि जनमां, सदा वसे छे वास।
जगाक दु.ख जनने पडे, प्रकटे थई प्रकास ॥३॥

सर्व पदारथ ने विषे, हरि जनने हरि भाव।
साचा दृढ़ विश्वास थी, एवो बने बनाव ॥४॥

साक्षी सर्वे कर्मनो, ईश्वर जीवनी पास।
अन्य जीव नथो जाणता, जान हरिनादास ॥५॥

साचा सद्गुरु जो भले परखावे प्रभुपास।
भक्ति भावे ते भजे राखी दृढ विश्वास ॥६॥

अल्प जीव ना ओलखे मोग तणे वश मूढ़।
सद्गुरु ने सेवे नहीं क्यम पामे पद प्रौढ़ ॥७॥

सद्गुरु विना घपा करे कोटि अन्य उपाय।
कल्प लगी कुटी मरे मले नाहिं हरि राय ॥८॥

नारद ना उपदेश थी पामेलो प्रहलाद।
विश्वासे प्रकट्या प्रभु उपज्यो तव आह्लाद ॥९॥

निगुण गुणरूपे थया ईश्वर आपो आप।
संकट टाल्या सर्वना भक्ति तणो प्रताप ॥१०॥

ग्सी काग बने पिक तुल्य न हो
मड़ स जमने श्रुति धर्म करे ॥६॥
बगला पण उज्वल हंस बने
सतसंग सदा करयो सुमन।
महिमा बहु व्यास विरंचि वदे
सतसंग मले मल भाग्य उदे ॥७॥
सनकादिक शारद नारद जे
जस गाय उमायुत शंकर ते।
बहुजन्म तपा तप पुण्य फले
जन छांट न आ सतसंग मले ॥८॥

—— o ——

* ॐ *

हरि-संत-अभेद ।

संत श्री हरि एम जेम सूरजने तड़का
संत श्री हरि एम जेम पावक ने भड़का।
संत श्रीहरि एम तरंग जेवा होय जलमां
संत श्री हरि एम कनक रहे छे कुण्डलमां।
वायु ने वटोलीओ है जुदा मत जाणिए
एम संत न श्री हरि का छांटम सत्य प्रमाणिए।

दोहा:—

सदा सतना हृदयमा, वास करे थे नाथ।
मारे सज्जन सेवियें, स्नेह करी ते साथ ॥१॥

जेम पदारथ मात्रमां, व्यापक अग्नि एक।
दिवासली थी देवतो वहेलो होय विपक ॥२॥

एम हरि हरि जनमां, सदा वसे छे वास।
जराक दुःख जनने पडे, प्रकटे थई प्रकास ॥३॥

सर्व पदारथ ने विषे, हरि जनने हरि भाव।
साचा दृढ़ विश्वास थी, एवो वने बनाव ॥४॥

साक्षी सर्वे कर्मनो, ईश्वर जीवनी पास।
अन्य जीव नथो जाणता, जान हरिनादास ॥५॥

साचा सद्गुरु जो मले परखावे प्रभुपास।
भक्ति भावे ते भजे राखी दृढ विश्वास ॥६॥

अल्प जीव ना ओलखे मोह तणे वश मूढ़।
सद्गुरु ने सेवे नहीं क्यम पामे पद प्रौढ़ ॥७॥

सद्गुरु विना घणा करे कोटि अन्य उपाय।
कल्प लगी कुटी मरे मले नाहिं हरि राय ॥८॥

नारद ना उपदेश थी पामेलो प्रहलाद।
विश्वासे प्रकट्या प्रभु उपज्यो नव आह्लाद ॥९॥

निर्गुण गुणरूपे थया ईश्वर आपो आप।
संकट टाल्या सर्वनां भक्ति तणो प्रताप ॥१०॥

नारद कहे शुक धर्म न परीक्षत सुखदेव।
मनसा वाचक कर्मणा, करो संतनी सेव ॥११॥
सतगुरु ने सम्या बिना लखाय समझे तेय।
अन्य उपासन को कर पावे आप विशेष ॥१२॥
भूलेता कोई कामना भटके सपना जीव।
सतगुरुके सेव्या बिना कोई नहिं शिव ॥१३॥

गुरु देवन के देव।

काहूसूं न रोष तोष काहूसूं न रागद्वेष
काहूसूं न वैरभाव काहूसे न भाव है।
काहूसूं न बकवाद काहूसूं नहीं विषाद
काहू सूं न संगत तो काहू पक्षपात है।
काहूसूं न दुष्ट वैन काहूसूं न लैनदेन
ब्रह्म को विचार कछु और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईशन को महाईश
सोई गुरुदेव जाके दूसरी न बात है ॥१॥
भूमिहूकी रेणुकी तो संख्या कोऊ कहत है
मापहू प्रवार हूम तिनके उपाय है।
मेघन की संख्या सोउ ऋषि न विचारि कही
बूंदन की संख्या सोऊ नाई के पिताय है।
तारन की संख्या सो तो कही है पुरान मांहि
रोमन की संख्या पुनि कितनेक जात है।
सुन्दर जहां लौं संत तिनहू का आवे अंत
गुरु के अनंत गुण कापे कहे जात है ॥२॥

पोतामां देखे प्रभु ते देखे सहुमाँय ।
अलगौ धारै ईश ने काज सरे नहिं कॉय ॥१४॥
तजमां मुजमां खडगमां खंब विषे छे राम ।
दीठा सघणे नर हरि तेथी सरिय काम ॥१५॥

—— o ——

करुणा करोगे करुणों पर करुण बन
करुणेश ! शेष करुणा को तब देखूंगा ॥
करुणा के आकार कहाते करुणाकर हो
आकर करोड़ों कर जोडे जब देखूंगा ॥
करुणा की माया काया कवि-कलपना की हुई
कल्पों कलपते गया आज अब देखूंगा ॥
करुणा करो न ! कोटि करुण चुप हैं करण
करुणा निधान ! करुणा को कब देखूंगा ॥
—(कल्याण)

—— o. ——

सन्तनी महिमा ।

संत हरि गुरु एक प्रमाण्य
जल लहरी दृष्टांते जाण्य ।
पुष्प वासना निहारी नहीं
तरुण तेल एक जाणो सही ॥१॥

नारद कह हे धर्म न परीक्षत सुखदेव।
मनसा वाचक कर्मणा, करो संतनो सेव ॥११॥
सतगुरु ने सम्या बिना लखण समझे लेश।
अन्य उपासन ना कर काहुं आप विशेष ॥१२॥
भूलेसा कई कासना भटके सघसा जीव।
सतगुरुन सेम्या बिना कोई नहिं शिव ॥१३॥

गुरु देवन के देव।

काहूसूं न रोष तोष काहूसूं न रागदोष
काहूसूं न बैरभाव काहूसे न घात है।
काहूसूं न बकवाद काहूसूं नहीं विषाद
काहू सूं न संगम तो काहू पक्षपात है।
काहूसूं न दुष्ट बैन काहूसूं न लेनदेन
ब्रह्म को विचार कछु और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईशन को महाईश
सोई गुरुदेव जाके दूसरो न बात है ॥१॥
भूमिहूकी रेणुकी तो सख्या कोऊ कहत है
मापहू अठार दुम तिनके उपात है।
मेघन की सख्या सात ऋषि ने विचारि कही
बूँदन की संख्या तेऊ भाई क पितात है।
तारन की सख्या सा तो कही है पुराण माहिं
रामन की संख्या पुनि कितनेक जात है।
सुन्दर जहां लौ अंत तिनहो को आवे अंत
गुरु के अनंत गुण कापे कहे जात है ॥२॥

तेहनो संग करे जे कोय
कहे प्रीतम सुख पामें सोय ॥५॥
कल्प वृक्ष सुर धेनु संत
चिन्तामणि दुःखनो करे अंत।
ब्रह्मा आदे कीट पर्य्यंत
अधिक न्यून नहिं जेने चित्त ॥
समदर्शी साधु केहे वाय
प्रीतम दर्शन थी दुःख जाय ॥६॥
रिपु मित्र एक समान
हम लोष्ट मान अपमान।
आवृण रहित ऊजली दशा
उपजै नहिं मनोरथ कशा ॥
प्रीतम एवां हरिना साध
जेहे नो महिमा अगम अगाध ॥७॥
पद पूजि रज मस्तक धरे
कहे प्रीतम रहेन भव तरें।
गुणातीत निर्गुण जिन रूप
शुद्ध चेतन गुण ब्रह्म स्वरूप ॥८॥
एक रस ज्ञान अखंडित सार
सरेने स्वरूपी साक्षात्कार ॥
विश्वाधार वखाणे वेद
प्रीतम जेहैनो भारे भेद ॥

संत चरे ते शीतल चरण
करुणा अति निर्मल नेण।
टासे ताप प्रजाले पाप
आपी अखंड प्रभुनो जाप ॥
प्रेमे पोता सरखो करे
कहे मीतम तार न ठरे ॥२॥
सत सरोज भमर भगवत
मीन सहित नित्यवास वसंत।
निमिष मात्र ते न्यारा नहीं
मीन रहे जन महा जल महीं ॥
एम हरिमा जन हरिमा रहे
कहे मीतम को विरला कहे ॥३॥
संत हरि ते एकज अंग
महा मोंघो मांगे सत्संग।
ज्ञान प्रकाश घट मीतर थाय
मोह निशा तत्क्षण जाय ॥
संत मळतां सशय कयों
मीतम प्रगटे निर्मल दशा ॥४॥
संत शील बहु सहित संतोष
वचन वदे निमल निर्दोष।
नहिं मोह ममता मदमान
हरख एक हरिजु ध्यान ॥

तेहनो संग करे जे कोय
कहे प्रीतम सुख पामें सोय ॥५॥
कल्प वृक्ष सुर धेनु सत
चिन्तामणि दुःखनो करे अंत ।
ब्रह्मा आदे कीट पर्यंत
अधिक न्यून नहिं जेने चित्त ॥
समदर्शी साधु केहे वाय
प्रीतम दर्शन थी दुःख जाय ॥६॥
रिपु मित्र एक समान
हम लोष्ट मान अपमान ।
आवृण रहित ऊजली दशा
उपजै नहिं मनोरथ कशा ॥
प्रीतम एवां हरिना साध
जेहे नो महिमा अगम अगाध ॥७॥
पद पूजि रज मस्तक धरे
कहे प्रीतम रहेन भव तरें ।
गुणातीत निर्गुण जिन रूप
शुद्ध चेतन गुण ब्रह्म स्वरूप ॥८॥
एक रस ज्ञान अखडित सार
सरेने स्वरूपी साक्षात्कार ॥
विश्वाधार बखाणे वेद
प्रीतम जेहैनो भारे भेद ॥

गुरुनु ध्यान धरे जे राय
संभारे सो सुमित होय ॥
दर्शन करतां दुरित जाय
सेवा थी सहु साधन थाय ॥
प्रीतम प्रगटे पूरण वशा
जेमे गुरु गुवियामां वस्या ॥३॥

तत्सत् ।

साधु-लक्षण ।

विरक्तः परदारेषु निस्पृहः परवस्तुषु ।
दंभ मात्सर्य हीनोयः ससाधुः कथ्यते बुधैः ॥

अर्थात्‌ जो परस्त्री तथा दूसरे की वस्तु की इच्छा न करे और दंभ तथा मात्सर्य न रखता हो उसे बुद्धिमान पुरुष साधुजन कहते हैं ।

श्लोकः— सत्यमेव मतं यस्य दया दीनेषु सर्वदा ।
काम क्रोधो वशोयस्य स साधु कथ्यते बुधैः ॥

अर्थात्‌—जिसे सत्य का ही मत है दीनों पर सदा दयालु हो तथा जिसके काम क्रोध वश होते हैं, उसे समझदार मनुष्य 'साधु' कहते हैं ।   —(नीति)

चमचर संग रहयो सुजन चम पर्वत के माहिं ।
पे सूरज सग सर्गोह पुञ्जपुत संशय नाहिं ॥

तुलसी साथी विपति के, विद्या विनय विवेक।
साहस सुकृत सत्यव्रत, राम भरोसो एक॥

खलहु सर्प इन दुहुन में, भलो सर्प खल नाहिं।
सर्प डसत है काल में, खल-जन पद-पद माहिं॥

दया भाव जाने नहि, ज्ञान कथै बेहद्द।
ते नर नर्कहिं जायगे, सुनि सुनि साखी शब्द॥
दाया दिल मे राखिये, तू क्यों निर्दय होय।
साईं के सब जीव हैं, कीरी कुञ्जर दोय॥
जड़ताई मति की हरत, पाप निवारत अंग।
कीरति सत्य प्रसन्नता, देत सदा सत्संग॥

—(भर्तृ)

भले बुरे विधिना रचै, पै सदोष सब कीन।
कामधेनु, पशु, कठिन मनि, दधि खारो शशि छीन॥
कहिं कहीं विधि की अविधि भूले परम प्रवीन।
मूरख को सपत दई, पण्डित सपत हीन॥

—— o ——

सेवाधर्म की कठिनता।

चुप गूगों लावर वचन निकट ढीठ जड़ दूर।
क्षमाहीन परिहास खल, सेवा कष्ट ही पूर॥

गुरुनुं ध्यान धरे जे राय
समारे सो सुखित होय ॥
दर्शन कर्ता दुखित जाय
सेवा थी सहु साधन थाय ॥
प्रीतम प्रगटे पूरण दशा
जेने गुरु हृदियामां वस्या ॥६॥

तत्सत्।

साधु-लक्षण।

विरक्तः परदारेषु निस्पृहः परवस्तुषु।
दंभ मात्सर्य हीनोयः ससाधुः कथ्यते बुधैः॥

अर्थात्—जो परस्त्री तथा दूसरे की वस्तु की इच्छा न करे और दंभ तथा मात्सर्य न रखता हो उसे बुद्धिमान् पुरुष साधुजन कहते हैं।

श्लोकः— सत्यमेव व्रतं यस्य दया दीनेषु सर्वदा।
काम क्रोधो वशेयस्य स साधु कथ्यते बुधैः॥

अर्थात्—जिसे सत्य का ही व्रत है दीनों पर सदा दयालु हो तथा जिसके काम क्रोध वश होते हैं, उसे समझदार मनुष्य 'साधु' कहते हैं। —(नीति)

बनचर संग रहबो सुखद बन पर्वत के माहिं।
पै मूरख संग स्वर्ग हु सुखयुत संशय नाहिं॥

अर्थात्:—संसार को तृण समझ तिरस्कार करने वाले करतलामलकवत् सब पदार्थों के तत्व को जानने वाले भी महात्मा श्लाघा आत्म प्रशंसा के रोग से-'मै' के दुरभिमान से कठिनता से ही छुटकारा पाते है।

प्रणव से ब्रह्मप्राप्तिः—

ॐ यह अक्षर सर्व है भूत, वर्तमान तथा भविष्य यह सब ओंकार ही है। जो तीनों कालों से परे है वह भी ओंकार ही है यह आत्मा ब्रह्म है, आत्मा का ॐ ऐसे ब्रह्म के साथ एक करके वह एक अजर अविनाशी अभय ॐ है। ऐसा अनुभव कर उसमें तीनों शरीरों का आरोप करके अपवाद करे। आत्मा के तीन शरीरों का तथा इनके अभिमानी का ब्रह्म के तीन शरीर तथा उनके अभिमानी से अभेद चिन्तन करे। आत्मा के चार पाद हैं। विश्वरूप वैश्वानर प्रथम पाद है। तैजस रूप हिरण्यगर्भ द्वितीय पाद है। प्राज्ञ रूप ईश्वर रूप तृतीय पाद है और जीव साक्षीरूप ईश्वर ईश्वर साक्षी यह चतुर्थ पाद है। आत्मा चक्षु का द्रष्टा, श्रोत्र का द्रष्टा, वाणी का द्रष्टा, मन का द्रष्टा, बुद्धि का द्रष्टा, प्राण का द्रष्टा, अज्ञान का द्रष्टा तथा सर्व का द्रष्टा हैं। इससे यह सर्व से भिन्न और विलक्षण है। सर्वदा द्वैत रहित आनंद रूप सर्व का अधिष्ठान रूप स मात्र तथा अविद्यादि से रहित आत्मा ब्रह्म है। ऐसा अनुसधान करे प्रणव की प्रथम मात्रा अकार प्रथम पाद है। दूसरी मात्रा उकार द्वितीय पाद है। तीसरी मात्रा मकार तृतीय पाद है तथा चौथी अर्धमात्रा चतुर्थ पाद है। तृष्णा-

तुलसी सत्पुरुष सहाय जब तब आवहिं काम।
लंक विभीषण को दई, पड़े दुखित में राम॥

रन सम्मुख पग सूर के बचन कहे ते सन्त।
निकसन पाछे होत हैं ज्यों गयन्द के दन्त॥

विपति धीर संपति क्षमा सभा माहिं शुभ बैन।
युधि विक्रम यशमाहिं रुचि, ते नर पर गुणऐन॥

—(मनु)

सधन सगुन सधरम, सगुण सुजन सुन्दर महीप।
तुलसी जे अभिमान बिन ते त्रिभुवन के दीप॥

सत पुरुषन की रीति, सम्पत में कोमल हि मन।
दुःख में यह रीति वज्र समान ही होत तन॥

सबै पुष्प तर्य भीत कमल पत्र में सरस है।
मुक्ता सीपहि कौन मानमान अपमान है॥

गुण तुलितान्वित सगनो करतल कलितारिताार्पं तल्यामाम्।
सराणा धन्वघटा धर शामन्य गुरुर्निरसम्॥

अर्थात्ः—संसार को तृण समझ तिरस्कार करने वाले करतलामलकवत् सब पदार्थों के तत्व को जानने वाले भी महात्मा श्लाघा आत्म प्रशसा के रोग से-'मै' के दुरभिमान से कठिनता से ही छुटकारा पाते है।

प्रणव से ब्रह्मप्राप्तिः—

ॐ यह अक्षर सर्व है भूत, वर्तमान तथा भविष्य यह सब ओंकार ही है। जो तीनों कालों से परे है वह भी ओंकार ही है यह आत्मा ब्रह्म है, आत्मा का ॐ ऐसे ब्रह्म के साथ एक करके वह एक अजर अविनाशी अभय ॐ है। ऐसा अनुभव कर उसमें तीनों शरीरों का आरोप करके अपवाद करे। आत्मा के तीन शरीरों का तथा इनके अभिमानी का ब्रह्म के तीन शरीर तथा उनके अभिमानी से अभेद-चिन्तन करे। आत्मा के चार पाद है। विश्वरूप वैश्वानर प्रथम पाद है। तैजस रूप हिरण्यगर्भ द्वितीय पाद है। प्राज्ञ रूप ईश्वर रूप तृतीय पाद है और जोव साक्षीरूप ईश्वर ईश्वर साक्षी यह चतुर्थ पाद है। आत्मा चक्षु का दृष्टा, श्रोत्र का दृष्टा, वाणी का दृष्टा, मन का दृष्टा, बुद्धि का दृष्टा, प्राण का दृष्टा, अज्ञान का दृष्टा तथा सर्व का दृष्टा है। इससे यह सर्व से भिन्न और विलक्षण है। सर्वदा द्वैत रहित आनंद रूप सर्व का अधिष्ठान रूप स मात्र तथा अविद्यादि से रहित आत्मा ब्रह्म है। ऐसा अनुसधान करे प्रणव की प्रथम मात्रा अकार प्रथम पाद है। दूसरी मात्रा उकार द्वितीय पाद है। तीसरी मात्रा मकार तृतीय पाद है तथा चौथी अर्धमात्रा चतुर्थ पाद है। तृष्णा-

तुलसी सत्पुरुष सदा जब तब आवहिं काम।
लंक विभीषण को दई बड़ दुखित में राम॥

रन सम्मुख पग सूर के बचन कहे ते सन्त।
निकसत पाछे हाथ हैं ज्यों गयन्द के दन्त॥

बिपति धीर संपति छमा, सभा माहिं शुभ बैन।
युधि विक्रम यशमाहिं रुचि ये नर नर गुणऐन॥

—(मद)

सघन सगुण सधरम सगुण सुजन सुरबल महीप।
तुलसी जे अभिमान बिन ते त्रिभुवन के दीप॥

सत पुरुषन की प्रीति, सम्पत में कोमल हि मन।
दुःखहु में यह रीति वज्र समान ही होत तन॥

तबै पुन्य हुँ छीण, कमल पत्र जे सरस हैं।
मुक्ता सीपहि कीन पानमान अपमान हैं॥

नृप मुक्तिनाखिल जगतां करतल कलितार्थविलासार्थे तत्त्वानाम्।
श्लाघा बन्धपूरो मद रामस्य सुदुर्मिरसम्॥

—ॐ उच्चारते समय यदि हो सके तो अपनी समस्त निर्बलताओं और सारे प्रलोभनों को अपने सामने रक्खो। उन्हें अपने पावों तले कुचल डालो। उनसे ऊपर उठो। और विजयी होकर निकलो।

तृष्णाः—

कबिरा तृष्णा पापनी तासो प्रीति न जोरि।
पैंड पैंड पाछे परे लागै मोटि खोरि ॥

ॐ उच्चारो और एक अथवा अनेक जो भी स्वभावतः अथवा स्वतः आपके चित्त में फडके। उन्हीं से ॐ का गायन करो।

हृदय को शुद्ध करो प्रणव अक्षर का गायन करो। निर्बलता के सब चिन्हों का चुनकर उन्हें अपने भीतर से बाहर करो। सुन्दर चरित्रवान बनकर विजयी निकलो।

यह अनुभव करो कि पूर्ण आनन्द हो, आनन्द हो, आनन्द हो।

भक्त लक्षणः—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदाहरिः ॥

अर्थात्ः—अपने को तृण से भी अति नीच मान वृक्ष समान सहनशील बन।

एहिन ज्ञानी के प्राणों का उत्क्रमण नहीं करते। यहां ही ब्रह्म के साथ एकता पाते हैं। शरीर के पतन के प्रथम ब्रह्म होते उत्तर काल में ब्रह्म को पाता है। यह सर्व सच्चिदानन्द ब्रह्म है—ब्रह्म अमय है ऐसा जो जानता है वह अमय रूप ब्रह्म होता है।

'जीवेशावा भासेन करोति माया चा विद्या स्वयमेव भवति'

प्रकृति जीव तथा ईश्वर को आभास द्वारा करती है और माया तथा अविद्या स्वयम् ही होती है यह आत्मा ब्रह्म सन्मात्र नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरञ्जन और व्यापक है। यह सर्व सत्ता मात्र है। 'असंगाद्वयमात्मा'—यह आत्मा असंग ही है। —(उत्तर नृसिंह तापनीय उप सार)

राम हृदय—

ध्यान या समाधि कामनाओं से ऊपर उठने से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कामनाएं एकाग्रता में बाधा डालती हैं। और जब तक चित्त शुद्धि और आत्मज्ञान होय तब तक वास्तविक एकाग्रता प्राप्त करने को प्रणव का गान करो। प्रणव का उच्चारण करो और उच्चारण करते समय अपना चित्त पूर्णतः इसमें लगाओ। अपनी सारी शक्तियों को इसमें जोड़ दो। अपना सारा मन इसमें संचित करो। इसके अनुभव करने में अपना सारा बल लगा दो।

इस पवित्र अक्षर ॐ का अर्थ है "मैं यह एक हैं ॐ वही मैं हूं" ॐ। ॐ॥

—ॐ उच्चारते समय यदि हो-सके तो अपनी समस्त निर्बलताओं और सारे प्रलोभनों को अपने सामने रक्खो। उन्हें अपने पावों तले कुचल डालो। उनसे ऊपर उठो। और विजयी होकर निकलो।

तृष्णाः—

कबिरा तृष्णा पापनी तासो प्रीति न जोरि।
पैंड पैंड पाछे परे लागै मोटि खोरि॥

ॐ उच्चारो और एक अथवा अनेक जो भी स्वभावतः अथवा स्वत आपके चित्त में फडके। उन्हीं से ॐ का गायन करो।

हृदय को शुद्ध करो प्रणव अक्षर का गायन करो। निर्बलता के सब चिन्हों का चुनकर उन्हें अपने भीतर से बाहर करो। सुन्दर चरित्रवान बनकर विजयी निकलो।

यह अनुभव करो कि पूर्ण आनन्द हो, आनन्द हो, आनन्द हो।

भक्त लक्षणः—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदाहरिः॥

अर्थात्ः—अपने को तृण से भी अति नीच मान वृक्ष समान सहनशील बन।

ब्रह्मज्ञानी के लक्षण:—

निरालम्ब, निरस्त, निर्वासिक, निर्विकार, (अथ विचार परीक्षा) निर्मोहित, निपक्ष, निर्हिंसक, निर्वाण, (अथ विवेक परीक्षा) सावधान, सर्वंगी, सार ग्राही, सन्तोषी (अथ परम सन्ताप परीक्षा) निष्प्रपंच निस्तरंग निर्लिप्त निष्कर्म, (अथ निर्णय परीक्षा) सुशील सुपराई शीतलताई सुमति (अथ शून्य परीक्षा) शीलवंत सुबुद्धि, सत्यवादी ध्यान, समाधि जिसमें ये लक्षण होय ताको ब्रह्म ज्ञानी कहिये। और जिसमें यह लक्षण होय उसको वाचक ज्ञानी कहिवा जानिये।

—— १०: ——

अब हम नहीं समापमी किस विध करहूं पार।
साहिब मेरी अरज है सुनिये बारंबार॥
पैरन थाको है प्रभु सूझत वार न पार।
सिन्धु बीच जब ही भया तब पाऊँ दरबार॥
जिन पंछी के पंख तुम निराधार के धार।
मन तुमही माय रत जीवन प्राण अधार॥
प्रेम फन्दन है पाप के मुद न पड़ै न दम।
मेरी धार लगाइ दी फिर कायों तन मन॥
भा आसी लाय मगन लाको नाहि समाय।
तुम सब आसन माय ज्यों कहा कहीं विस्तार॥

पूजा अर्चन वन्दगी नाहिं सुमिरण नहिं ध्यान ।
प्रभु जी अब राखे बने विर्द वानेकी कान ॥
नहिं समझ नहिं साधना, नहिं तीरथ व्रत दान ।
मात भरोसे रहत है, जो वालक नादान ॥
सीस नवैंतो तुमही कू तुमहिं सूभाग्वू दीन ।
जो झगरू तो तुमहिं सूँ तुम चरनन आधीन ॥

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रति दिन यातिक्षयं यौवनं,
प्रत्या यान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद् भक्षकः ।
लक्ष्मी स्तोय तरग भग चपला विद्युच्चलं जीवित,
तस्मान्मां शरणा गत शरणद ! त्व रक्ष रदयाधुना ॥

'आयु प्रति दिन देखते ही देखते नष्टहो रही है जवानी बीती जा रही है, गये हुये दिन लौटकर नहीं आते, काल जगत् को खा रहा है, लक्ष्मी जल के तरग की भांति चचल है । और जीवन तो बिजली की चमक के समान अस्थिर है । अतएव हे शरण देने वाले प्रभू ! मुझ शरणागत की तुम अभी रक्षा करो' ।

कृष्ण त्वदीय पद पकज पजरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानस राज हंसः ।
प्राण प्रयाण समये कफ वात पित्तैः
कंठा वरोधन विधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

ब्रह्मज्ञानी के लक्षण:—

निरालम्ब, निरख, निर्वासिक, निर्विकार, (अथ विचार परीक्षा) निर्मोहित, निर्भय, निर्हिंसक, निर्दोष, (अथ विवेक परीक्षा) सावधान, सबंगी सार ग्राही, सन्तोषी (अथ परम सन्तोष परीक्षा) निष्प्रपंच निहतरंग निर्लिप्त निष्कर्म, (अथ निर्वैर परीक्षा) सुहृत् सुखदाई शीतलताई सुमति (अथ शून्य परीक्षा) शीलवंत, सुबुद्धि, सत्यवादी, ध्यान समाधि जिसमें ये लक्षण होय ताको ब्रह्म ज्ञानी कहिये। और जिसमें यह लक्षण होय उसको वाचक ज्ञानी जितना जानिए।

—— १०१ ——

भव जल नदी भयावनी किस विध उतरूं पार ।
साहिब मेरी अरज है सुनिये बारंबार ॥
पैरत थाका है प्रभू सूझत वार न पार ।
मिहर मौज अब ही करो तब पाऊँ दरबार ॥
बिन पंखी के पंख तुम निराधार के धार ।
मेरे तुमही नाथ इक, जीवन प्राण अधार ॥
जेते जन्म हैं पाप के मुझ से बचे न एक ।
मेरी ओर तलोक हौं दिये नामी तन देत ॥
जो जाकी गाहे सरन ताको ताहि सम्हार ।
तुम सब जानत नाथ क्यों कहा कहौं विस्तार ॥

* ॐ *

निदिध्यासन ।

श्रवण तथा–मनन हुए पश्चात, मुमुक्षु को अनात्माकार विजातीय वृत्तियों का त्याग कर, आत्माकार सजातीय वृत्तियों के प्रवाहरूप निदिध्यासन को निरंतर करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि–"मन, वाणी के विषयरूप दृश्य-प्रपंच से मैं विलक्षण हूँ, आनन्द-स्वरूप हूँ, स्वयं प्रकाश हूँ, तथा–मैं सजातीय, विजातीय तथा–स्वगत भेद से रहित हूँ", इस रीति को वृत्ति के निरंतर प्रवाह रूप 'निदिध्यासन' में निष्ठावाला, तथा–पूर्वोक्त श्रवण मनन को बहुत काल पर्यंत श्रद्धापूर्वक सेवन करने वाला मुमुक्षु ब्रह्मविद्या का पाता है। ब्रह्मविद्या वाले पुरुष ही को श्रुति में ब्राह्मण कहा है।

—(बृहदारण्यकोपनिषद्)

दोहाः— निदिध्यासन ताको कहे, जीव हिले नहिं होठ।
विरती के प्रवाह में, होय नहीं कोइ खोट ॥१॥
वृत्ति सजाती यों उठे, अंतह करण मझार।
जैसे पुंवे से छुटे, टूटत नाहीं तार ॥२॥

अर्थ यह है कि–जो पूर्व महावाक्यों के अनुसार जीव-ब्रह्म के एकत्व का विवेचन किया, सो युक्ति-पूर्वक चिंतन

हे कृष्ण तुम्हारे पद कमल रूपी पिंजरे में मेरा मन मनरूपी राज हंस आज ही प्रवेश कर जाय। प्राण निकल ने के समय जब कफ वायु और पित्त के बढ़ने पर कण्ठ रुक जायगा उस समय तुम्हारा स्मरण कहाँ से होगा।



होने के बाद वह निदिध्यासनरूपी वृक्ष के रूप में होकर ज्ञानरूपी फल को जल्दी ही उत्पन्न कर देता है। ऐसे ज्ञान-रूपी फल के खाने से अज्ञानरूपी क्षुधा दूर हो कर, दुख की सदा के लिये निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी कारण-जिज्ञासु पुरुषों को निदिध्यासनरूप वृक्ष की पुष्टि करना चाहिये, क्योंकि यह महान् फल को देता है।

जैसे किसी रत्न से महाद्रव्य की प्राप्त होती है, परन्तु-उसके नाश होने के अनेक भय रहते हैं। परन्तु-उक्त ज्ञान-रूपी धन का तो कोई भी नाश नहीं कर सकता है। चोर न चोरे, राजा न डंडे, न कोई लूट सके, गुप्तज्ञान रूपी महाधन की ऐसी महिमा अनाड़ी लोग नहीं जान सकते हैं इसी से निदिध्यासन को रत्न कहा है। मनन ही इसका कारण है। और जो ब्रह्म में अन्तःकरण की वृत्तियों का तैल धारावत् प्रवाह है, सोई निदिध्यासन का स्वरूप है। विपरीत भावना की निवृत्ति इसका फल है।

यदि कोई ऐसा पूछे कि-विपरीत भावना किसे कहते हैं? तो सुन, जैसे स्वर्गादिक अनित्य हैं, तिनको नित्य जानना। और-स्त्री पुत्र अशोच्य हैं, तिनको शोच्य जानना। इसी प्रकार कृषि, वाणिज्य, मदिरापान आदि दुखरूप हैं, तिनको सुखरूप जानना। और शरीर आदि अनात्म हैं, तिनको आत्मरूप समझना। ये चार प्रकार के कार्य अविद्या के कारण जैसे उलटे समझे जाते हैं, वैसे ही अविद्या से (यहां दृष्टान्त में) शुद्ध सच्चिदानन्द, जन्म मरण तथा पुण्य पाप सुख दुख

करने से जब दृढ़ हो गया है, तो फिर उसमें बाह्य इन्द्रियों के व्यापार की, और होठ हिलाने की कुछ जरूरत नहीं। अन्तर ही में अन्तःकरण मे 'वृत्तियों का प्रवाह चलावे और चोर कहिये विजाती अनात्माकारवृत्ति नहीं होने दे। अर्थात्-अन्तःकरण में से सजातीय कहिये ब्रह्माकार वृत्तियों का अखंड प्रवाह ऐसा चले कि-जैसे रुई के मूल को खींचने से तार बंध जाता है और टूटता नहीं। इसी प्रकार वृत्ति का प्रवाह होने को निदिध्यासन' कहते हैं।

निदिध्यासन रूपी वृक्ष दृढ़ होने पर तत्काल ही फल देता है। जैसे-वृक्ष के बाग मे कुछ देरी नहीं लगती है, किन्तु प्रथम जमीन की सफाई करने में ही देरी होती है। बीज तो जल्दी बोया जाता है और फिर जल सिंचन रखवाली से आदि लेकर जो हिफाजत करनी है उसमें देरी लगती है। परन्तु हिफाजत करने से वह वृक्ष दृढ़ता को प्राप्त होकर फल जल्दी देता है। तैसे ही निदिध्यासन रूपी जो वृक्ष है उसे उपदेश-रूपी बीज से बोने मे कुछ देरी नहीं लगती है, परन्तु जमीन रूपी अन्तःकरण (मन बुद्धि चित्त और अहंकार) के मल विक्षेप की सफाई करने मे देरी लगती है।

उपदेश, अर्थात्-श्रवण तो हर एक जगह हो जाता है, परन्तु-बीजरूप जो श्रवण होता है उसकी मनन रूप हिफाजत मे देरी लगती है। क्योंकि-अनेक प्रकार की युक्ति से चिन्तन रूपी हिफाजत करना पड़ती है, जिससे उस श्रवणरूपी बीज से मनन रूपी पौधा कुछ काल पीछे दृढ़ होता है। परन्तु-वह

होने के बाद वह निदिध्यासनरूपी वृक्ष के रूप मे होकर ज्ञानरूपी फल को जल्दी ही उत्पन्न कर देता है। ऐसे ज्ञान-रूपी फल के खाने से अज्ञानरूपी क्षुधा दूर हो कर, दुख की सदा के लिये निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी कारण-जिज्ञासु पुरुषों को निदिध्यासनरूप वृक्ष की पुष्टि करना चाहिये, क्योंकि यह महान् फल को देता है।

जैसे किसी रत्न से महाद्रव्य की प्राप्त होती है, परन्तु-उसके नाश होने के अनेक भय रहते है। परन्तु-उक्त ज्ञान-रूपी धन का तो कोई भी नाश नही कर सकता है। चोर न चोरे, राजा न डडे, न कोई लूट सके, गुप्तज्ञान रूपी महाधन की ऐसी महिमा अनाड़ी लोग नहीं जान सकते हैं इसी से निदिध्यासन को रत्न कहा है। मनन ही इसका कारण है। और जो ब्रह्म में अन्तःकरण की वृत्तियों का तैल धारावत् प्रवाह है, सोई निदिध्यासन का स्वरूप है। विपरीत भावना की निवृत्ति इसका फल है।

यदि कोई ऐसा पूछे कि-विपरीत भावना किसे कहते है? तो सुन, जैसे स्वर्गादिक अनित्य है, तिनको नित्य जानना। और-स्त्री पुत्र अशोच्य है, तिनको शोच्य जानना। इसी प्रकार कृषि, वाणिज्य, मदिरापान आदि दुखरूप है, तिनको सुखरूप जानना। और शरीर आदि अनात्म हैं, तिनको आत्मरूप समझना। ये चार प्रकार के कार्य अविद्या के कारण जैसे उलटे समझे जाते हैं, वैसे ही अविद्या से (यहां दृष्टान्त में) शुद्ध सच्चिदानन्द, जन्म मरण तथा पुण्य पाप सुख दुख

से रहित एक, परिपूर्ण, ब्रह्म-स्वरूप ऐसा जो आत्मा है, उसको असत्, जड़, दुःख का भागन वाला मानता है,-इसी को विपरीत भावना कहते हैं।

इसकी निवृत्ति निदिध्यासन से ही होती है। क्योंकि-बारम्बार ब्रह्माकार वृत्ति के होने से जीवभाव दूर होकर, ब्रह्म भावना होने से अपने को ब्रह्म रूप ही करके जान सकता है। इससे जीवभाव दूर होता है। इस प्रकार विपरीत भावना की निवृत्ति निदिध्यासन का फल है। जब तक जीव ब्रह्म की एकता का दृढ़ निश्चय नहीं तो तब तक निदिध्यासन करे। और जब दृढ़ निश्चय हो जावे; तब वृत्ति की परिसंख्यान नहीं करे। यही इसकी अवधि है।

—(वी० ए० पु० सा)

—जिस प्रकार बादाम, पिस्ता, शक्कर और अन्न आदि पदार्थों को जितना ही चबाकर खाओ उतना ही उनमें स्वाद मालूम होता है, और उनका पाचन भी उत्तम रीति से होता है, जिससे शरीर पुष्ट होकर दृढ़ होता है,-उसी प्रकार वेदान्त का बारम्बार मनन करने से अभेद तात्पर्य की समझरूपी स्वाद मिलता है और आत्मज्ञान पुष्ट होता है। इसी का नाम 'निदिध्यासन' है।   —(पंचीकरण)

* ॐ *

श्रीमहाप्रभु अवधूत श्री नित्यानन्द जी महाराज की

आरती नं० ५

[शिव भाव]

ॐ केवल गुरुदेवं।

ॐ[1] केवल गुरुदेवं, भव सागर से करग्रहि,

ॐ भव सागर से कर ग्रहि, करै परले पार[2] ॥

ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥टेक॥

भावार्थः—हे शिष्य ! जो गुरु केवल-(मुक्त) स्वरूप होता है, वो ही गुरु शिष्य को हाथ पकड कर भवसागर से परले (प्रलय के) पार कर सकता है। निश्चय करके भवसागर से परले पार (प्रलय के पार) कर सकता है। ऐसे "सद्गुरुदेव की जय हो जय हो जय हो" ऐसे जय जयकार बोलने से शिष्य भी मुक्त होजाता है। तू वास्तव में मेरा ही रूप है; इसलिये स्वस्वरूप को प्राप्त हो।

मुक्त हो ! मुक हो ! मुक्त हो ! (टेक)

---

१ ॐ=स्वदहमरणिं कृत्वा, प्रणवश्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥

भावार्थः—अपने शरीर को नीचे की लकड़ी मान और प्रणव (ॐ) को ऊपर की मान, अनेक साल तक चलती हुई ध्यानरूपी-रगड़ द्वारा परमात्मा का यहाँ छिपे हुए को यों देखना यही यथार्थ में 'निदिध्यासन' है और इसमें प्रणव के जप और उसके अर्थ (जो माण्डूक्य-उपनिषद् में कथित है) की भावना और ध्यान परमावश्यक है।

जिस प्रकार काष्ठ की दो अरणी का घिसने से उसमें से अग्नि प्रकट होता है, उसी तरह अपना शरीर नीचे की अरणी है, तथा—ब्रह्म का प्रणव मंत्र ऊपर की अरणी है। ब्रह्म रूप आत्मा का नाम ओंकार रूप प्रणव है इसमें चित्त की वृत्तियों का प्रवाह, यह उन दोनों अरणियों का मन्थन है। इस प्रकार के मंथन से आत्मारूप 'अग्नि' का साक्षात्कार अवश्य होता है।

"जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज इन चारों प्रकार के प्राणियों के शरीर में आत्मा नहीं है क्योंकि वह देखने में नहीं आता" इस प्रकार का विचार नितान्त भ्रान्त-मिथ्या है। क्योंकि एक वस्तु अपने देखने में न आई, इससे 'वह यहाँ नहीं है' यह धारणा अत्यन्त असंभवित है। किसी भी उपाय द्वारा वस्तु यहाँ न दिख पड़े, तो फिर कहा जा सकता है—कि वह यहाँ नहीं है। 'देह में आत्मा है' इस विषय में ये चार दृष्टान्त कहता हूँ वे सुनो:—

(१) जिस प्रकार—तिलों में तेल है यह ऊपर देखने में

नहीं आता। तो भी उसे पीसने पर-पीलने पर वह छिपा हुआ तेल प्रत्यक्ष देखने में आता है (२) दूसरा उदाहरण दही में घी होता है। पर दिखता नहीं। विलौने पर ही घी प्रत्यक्ष होता है। (३) तीसरा दृष्टान्त-नदी के प्रवाह के आगे रेती के अन्दर जल होताहै, वह तभी दीखता हैं, जब रेती खोदी जावे। (४) इसी तरह काष्ठ में रहा हुआ अग्नि दीखने में नहीं आता तो भी काष्ठों के आपुस में घिसने पर अग्नि विदित होता है। इसी प्रकार गुरु और शास्त्र के उपदेश से रहित, बहिर्मुख पुरुषों को जो देह में आत्मा का दर्शन नहीं होना, फिर भी उपदेशानुसार वर्तन करने वाले अधिकारी को यमनियमादि उपाय द्वारा देह में आत्मा का साक्षात्कार होना है। जिस प्रकार घी दूध में अन्तर्व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा ईश्वर रूप से कर्म, उपासना तथा-तपादि सर्व धर्म का प्रवर्तक है। वह कर्म तथा तप आदि के फल का देने वाला है, तथा-सर्व जगत् का कारण रूप है। इस आत्मा का जो अधिकारी गुरु द्वारा उपदेशित महावाक्य से साक्षात्कार करता है, वही वेदवेत्ता है।

* * * *

(ब) जाकू महावाक्य के विचार किये ते भी बुद्धि की मदतादिक किसो प्रतिबधक ते अपरोक्ष ज्ञान होवे नहीं, ताकूं यह लयचिंतन रूप ध्यान कहा है। ध्यान और ज्ञान का इतना भेद है.—

भावार्थ—अपने शरीर को नीचे की लकड़ी मान और प्रणव (ॐ) को ऊपर की मान, अनेक साल तक चलती हुई ध्यानरूपी-रगड़ द्वारा परमात्मा का यहाँ छिपे हुए भी मान देखा यही यथार्थ में 'निदिध्यासन' है और इसमें प्रणव के जप और उसके अर्थ (जो माण्डूक्य-उपनिषद् में कथित है) की भावना और ध्यान परमावश्यक है।

जिस प्रकार काष्ठ की दो अरणी को घिसने से उसमें से अग्नि प्रकट होता है, उसी तरह अपना शरीर नीचे की अरणी है, तथा—ब्रह्म का प्रणव मंत्र ऊपर की अरणी है। ब्रह्म रूप आत्मा का नाम ओंकार रूप प्रणव है इसमें चित्त की वृत्तियों का प्रवाह, यह उन दोनों अरणियों का मन्थन है। इस प्रकार के मंथन से आत्मारूप अग्नि का साक्षात्कार अवश्य होता है।

"अण्डज, जरायुज स्वेदज और उद्भिज इन चारों प्रकार के प्राणियों के शरीर में आत्मा नहीं है क्योंकि वह देखने में नहीं आता" इस प्रकार का विचार नितान्त थोथा—मिथ्या है। क्योंकि एक वस्तु अपने देखने में न आई, इससे 'वह वहाँ नहीं है यह धारणा अत्यन्त असंभवित है। किसी भी उपाय द्वारा वस्तु वहाँ न दिख पड़े तो फिर कहा जासकता है—कि वह वहाँ नहीं है। 'देह में आत्मा है इस विषय में मैं चार दृष्टान्त देता हूँ वे सुनो:—

(१) जिस प्रकार—तिलों में तेल है, वह ऊपर देखने में

ध्यान अहग्रह प्रणव रूप का, कह्यो सुरेश्वर श्रुति अनुसार।
अक्षर प्रणव ब्रह्म ममरूप सु, यो अनुलव निज मति गतिधार।
ध्यान समान आन नहिं याके, पंचीकरण प्रकार विचार।
जो यह करत उपासन सो मुनि, तुरत नशै ससार अपार ॥१॥

टीकाः—हे शिष्य ! प्रणवरूप का कहिये, ओंकार स्वरूप का 'अहंग्रह ध्यान' माण्डूक्य, प्रश्न, आदिक श्रुति के अनुसार सुरेश्वराचार्य ने कह्या है, सो तू कर। ताका सक्षेप ते प्रकार यह है:—

प्रणव अक्षर ब्रह्म स्वरूप है, सो "प्रणव ब्रह्म मैं हूं" या रीति से अनुलव कहिये—क्षणमात्र अन्तराय रहित, निज मति की गति कहिये—वृत्ति, धार कहिये—स्थिति कर, याके समान आन ध्यान नहीं है और या ध्यान का प्रकार कहिये—विशेष रीती, सुरेश्वर कृत पचीकरण नाम ग्रन्थ से विचार। चतुर्थ पाद स्पष्ट।

यद्यपि प्रणव उपासना वहुत उपनिषद् मे है तथा 'मांडूक्य उपनिषद्' में विशेप है। ताके व्याख्यान में भाष्यकार और आनन्दगिरि ने ताकी रीति स्पष्ट लिखी है, सोई रीति वार्तिक कार ने पचीकरण में लिखी है। तथापि—तिन ग्रन्थन के विचारन में जिनकी बुद्धि समर्थ नहीं है, तिन के अर्थ प्रणव उपासना की रीति हम लिखे है.—

दो प्रकार से प्रणव का चितन उपनिषद् मे कहा है। एक

ज्ञान तो प्रमाण और प्रमेय के आधीन है, विधि और पुरुष की इच्छा के आधीन नहीं और ध्यान विधि और पुरुष की इच्छा विश्वास तथा-हठ के आधीन है। विधि विश्वास, इच्छा बिना ध्यान होवे नहीं। "यह उपासना करे" ऐसा पुरुष का प्रेरक वचन विधि कहिये है, ता वचन में श्रद्धा ई 'विश्वास' कहे हैं और अन्तःकरण की कामना रूप रजोगुण की वृत्ति 'इच्छा' कहिये है। ध्यान के हेतु यह तीन हैं। (उपासना या ज्ञान के नहीं) और ध्यान हठ से होवे है। ज्ञान में हठ की अपेक्षा नहीं।

काहेते-निरंतर ध्येयाकार-चित्त की-वृत्ति-कूं ध्यान कहें हैं। तहाँ वृत्ति में विक्षेप होवे तो हठ से वृत्ति की स्थिति करे। और ज्ञानरूप अन्तःकरण की वृत्ति से तत्काल आवरण भंग हुए ते वृत्ति का उपयोग नहीं, याते हठ की अपेक्षा नहीं। वैकुण्ठवासी चतुर्भुज विष्णु के ध्यान को त्यों 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ध्यान भी ध्येय के अनुसार है प्रतीक नहीं। परन्तु-यह 'अहंग्रह ध्यान' है। ध्येय रूप का अपने से अभेद करिके चिंतन- अहंग्रह ध्यान कहिये है। जो पुरुष कूं अपरोक्ष ज्ञान नहीं होवै और वेद की आज्ञारूप विधि में विश्वास करके हठते निरंतर "मैं ब्रह्म हूँ" या वृत्ति की स्थितिरूप अहंग्रह-ध्यान करै ताकूं भी ज्ञान प्राप्त होयके मोक्ष की प्राप्ति होय है।

और रीती से अहंग्रह उपासना कहें हैं:—

ध्यान अहंग्रह प्रणव रूप का, कह्यो सुरेश्वर श्रुति अनुसार।
अक्षर प्रणव ब्रह्म ममरूप सु, यो अनुलव निज मति गतिधार।
ध्यान समान आन नहिं याके, पंचीकरण प्रकार विचार।
जो यह करत उपासन सो मुनि, तुरत नशै संसार अपार ॥१॥

टीकाः—हे शिष्य ! प्रणवरूप का कहिये, ओंकार स्वरूप का 'अहग्रह ध्यान' माण्डूक्य, प्रश्न, आदिक श्रुति के अनुसार सुरेश्वराचार्य ने कह्या है, सो तू कर। ताका संक्षेप ते प्रकार यह है:—

प्रणव अक्षर ब्रह्म स्वरूप है, सो "प्रणव ब्रह्म मैं हूं" या रीति से अनुलव कहिये—क्षणमात्र अन्तराय रहित, निज मति की गति कहिये—वृत्ति, धार कहिये-स्थिति कर, याके समान आन ध्यान नहीं है और या ध्यान का प्रकार कहिये—विशेष रीती, सुरेश्वर कृत पंचीकरण नाम ग्रन्थ से विचार। चतुर्थ पाद स्पष्ट।

यद्यपि प्रणव उपासना बहुत उपनिषद् में है तथा 'मांडूक्य उपनिषद्' में विशेप है। ताके व्याख्यान में भाष्यकार और आनन्दगिरि ने ताकी रीति स्पष्ट लिखी है, सोई रीति वार्तिक कार ने पंचीकरण में लिखी है। तथापि-तिन ग्रन्थन के विचारन में जिनकी बुद्धि समर्थ नहीं है, तिन के अर्थ प्रणव उपासना की रीति हम लिखे हैं—

दो प्रकार से प्रणव का चिंतन उपनिषद् में कहा है। एक

तो परब्रह्म रूप से प्रणव का चिंतन कह्या है और दूसरा अपर ब्रह्म से कह्या है— (१) निर्गुण ब्रह्म कूं परब्रह्म कहें हैं। (२) सगुण ब्रह्म कूं अपरब्रह्म कहें हैं। (१ परब्रह्म रूप से प्रणव का चिंतन करै सो मोक्ष कूं प्राप्त होवै है और (२) अपरब्रह्म रूप से प्रणव का चिंतन करै सो ब्रह्मलोक कूं प्राप्त होवे है। ऐसे निर्गुण सगुण भेद से प्रणव उपासना दो प्रकार की है ताम निर्गुण उपासना की रीति लिखें हैं, सगुण की नहीं। काहे तें—

(१) जाकू ब्रह्मलोक की कामना होवै ताहूं निर्गुण उपासना से भी कामनारूप प्रतिबन्धक तें ज्ञान द्वारा तत्काल मोक्ष होवै नहीं किन्तु ब्रह्मलोक की ही प्राप्ति होवै है। तहां हिरण्यगर्भ के समान मागम कू मागिक ज्ञान होवै, तब मोक्ष होवे। (२) जाकूं ब्रह्मलोक की कामना नहीं होवे, ताकू इस लोक में ही ज्ञान होयके मोक्ष होवै है। इस रीति से सगुण उपासना निर्गुण उपासना के अन्तर्गत है। याते निर्गुण प्रकार कहें हैं—

जो कुछ कारण-कार्य वस्तु है, सो ओंकार स्वरूप है। याते स्वरूप ओंकार है। सर्व पदार्थन में नाम और रूप दो भाग हैं। तहां रूपभाग अपने अपने नाम भाग से न्यारा नहीं, किन्तु नामस्वरूप रूपभाग है। काहते पदार्थरूप कहिये आकार ताका नाम से निरूपण करिके ग्रहण वा त्याग होवै है। नाम ज्ञान बिना केवल आकारतें व्यवहार सिद्ध होवै नहीं याते नाम ही सार है। और आकार के नाश हुए ते भी नाम शेष रहे है। जहां घट मृत्तिका में पृथक् वस्तु नहीं, मृत्तिका स्वरूप है जैसे आकार का नाश हुयते मृत्तिका की

न्याई शेष रहे जो नाम, तासे आकार पृथक् नहीं, नाम स्वरूप ही अकार है। किंवा जैसे घट, शरावादिकन में मृत्तिका अनुगत है, और घट शरावादिक परस्पर व्यभिचारी है, याते घटशरावादिक मिथ्या, तिनमे अनुगत मृत्तिका सत्य है। तैसे घट आकार अनेक हैं, तिन सब का 'घट' 'पट' दो अक्षर नाम एक हैं। सो आकार परस्पर व्यभिचारी और सर्व घट के आकार में नाम एक अनुगत है, याते मिथ्या आकार सत्य नाम ते पृथक नहीं। इस रीति से सर्व पदार्थन के आकार अपने अपने नाम से भिन्न नहीं, किन्तु–नामस्वरूप ही आकार हैं।

(२) सो सारे नाम ओंकार से भिन्न नहीं, किन्तु ओंकार स्वरूप ही नाम है। काहेते वाचक शब्द कूं नाम कहे हैं और "लोक वेद के सारे शब्द ओंकार से उत्पन्न हुए हैं" यह श्रुति मे प्रसिद्ध है। संपूर्ण कार्य, कारण रूप होवे है। याते ओंकार के कार्य जो–वाचक–शब्द, रूप, नाम सो ओंकार स्वरूप है। इस रीति से रूपभाग जो पदार्थ नाम, आकार, सो तौ नाम स्वरूप है, और सर्व नाम ओंकार स्वरूप हैं। याते सर्व स्वरूप ओंकार है।

(३) जैसे सर्व स्वरूप ओंकार है, तैसे सर्व स्वरूप ब्रह्म है, याते ओंकार ब्रह्म स्वरूप है। किंवा–ओंकार ब्रह्म का वाचक है, ब्रह्म वाच्य है। वाच्य का और वाचक का अभेद होवे है, याते भी ओंकार ब्रह्म स्वरूप है। और विचार दृष्टिते तो

तो परब्रह्म रूप से प्रणव का चिंतन कह्या है और दूसरा अपर ब्रह्म से कह्या है— (१) निर्गुण ब्रह्म कूं परब्रह्म कहें हैं। (२) सगुण ब्रह्म कूं अपरब्रह्म कहें हैं। (१ परब्रह्म रूप से प्रणव का चिंतन करै सो मोक्ष कूं प्राप्त होवै है, और (२) अपरब्रह्म रूप से प्रणव का चिंतन करे सो ब्रह्मलोक कूं प्राप्त होवे है। ऐसे निर्गुण सगुण भेद से प्रणव उपासना दो प्रकार की है नाम निर्गुण उपासना की रीति लिखी है, सगुण की नहीं। काहे तें—

(१) जाकूं ब्रह्मलोक की कामना होवै ताकूं निर्गुण उपासना से भी कामनारूप प्रतिबन्धक तें ज्ञान द्वारा तत्काल मोक्ष होवै नहीं किन्तु ब्रह्मलोक की ही प्राप्ति होवै है। तहां हिरण्यगर्भ के समान मागन कू मार्गिक ज्ञान होवै, तब मोक्ष होवे। (२) जाकूं ब्रह्मलोक की कामना नहीं होवै ताकूं इस लोक में ही ज्ञान होयके मोक्ष होवै है। इस रीति से सगुण उपासना निर्गुण उपासना के अन्तर्भूत है। यातें निर्गुण प्रकार कहें हैं—

जो कुछ कारण-कार्य वस्तु है, सो ओंकार स्वरूप है। यातें स्वरूप ओंकार है। सर्व पदार्थन में नाम और रूप दो भाग है। तहां रूपभाग अपने अपने नाम भाग से न्यारा नहीं, किन्तु नामस्वरूप रूपभाग है। काहेतें पदार्थरूप कहिये आकार ताका नाम से निरूपण करिके ग्रहण वा त्याग होवै है। नाम ज्ञान बिना केवल आकारतें व्यवहार सिद्ध होवै नहीं यातें नाम ही सार है। और आकार के नाश हुए से भी नाम शेष रहे है। तहां घट मृत्तिका से पृथक् वस्तु नहीं मृत्तिका स्वरूप है जैसे आकार का नाश हुएतें मृत्तिका की

नहीं, किन्तु उकार रूप है, ऐसा जो चिन्तन करना सो या स्थान में 'लय' कहिये है। ऐसा ही और मात्रा विषे भी जान लेना और (२) जा उकार विषे अकार का लय किया है, ता तैजस स्वरूप उकार प्राज्ञ रूप जो मकार है ताके विषे लय करे और (३) प्राज्ञ रूप जो मकार है ताकूं तुरीय रूप जो ओंकार का परामर्थ रूप अमात्र है, ताके विषे लीन करे। काहेते—स्थूल की उत्पत्ति और लय सूक्ष्म विषे होवे है, याते (१) विश्वरूप जो अकार है, ताका तैजस स्वरूप उकार में लय बने है और (२) सूक्ष्म की उत्पत्ति और लय कारण में होवे है, याते तैजसरूप जो उकार है ताका कारण—प्राज्ञ रूप जो मकार है, ताके विषे लय बने है। स्थान विषे विश्व आदिकन के ग्रहण ते समष्टि जो विराट् आदिक है, तिनका और अपनी अपनी जो त्रिपुटि है तिन सर्व का ग्रहण जानना। (३) जो प्राज्ञरूप मकार विषे उकार लय किया है, ता मकार को तुरीय रूप जो ओंकार परमार्थ रूप अमात्र है ताके विषे लीन करे। काहेते ओंकार के परमार्थ स्वरूप का तुरीय से अभेद है। सो तुरीय ब्रह्मरूप है और शुद्ध विषे ईश्वर, प्राज्ञ दोनों कल्पित हैं। जो जाके विषे कल्पित होवे है सो ताका स्वरूप होवे है। याते ईश्वर सहित प्राज्ञरूप मकार का लय बने है। इस रीति से जो ओंकार के परमार्थ स्वरूप अमात्र विषे सर्व का लय किया है 'सो मे हूँ" ऐसा एकाग्रचित्त होव के चिन्तन करे। स्थावर जगम रूप, और असग, अद्वय, असंसारी, नित्यमुक्त, निर्भय, ब्रह्म रूप जो ओंकार का परमार्थ स्वरूप है, "सो मै हूँ" ऐसा चिन्तन

मकार, ब्रह्मविषे अध्यस्त है, ब्रह्म तिसका अधिष्ठान है। अध्यस्त का स्वरूप अधिष्ठान ते न्यारा होवे नहीं याते भी ओंकार ब्रह्म स्वरूप है। याते ओंकार कूं ब्रह्म स्वरूप करिके चिन्तन करे।

(१) व्यष्टि और समष्टि जो स्थूलप्रपंच ता सहित विश्व और विराट् का अकार से अभेद जान। आत्मा के जो पाद हैं तिन विषे 'विश्व आदि' हैं, और ओंकार की मात्रा विषे 'अकार आदि' है, याते दोनों कूं एक जान (२) सूक्ष्म प्रपंच सहित जो हिरण्यगर्भ रूप 'तैजस' है ताकूं 'उकार' रूप जान। तैजस भी दूसरा है और उकार भी दूसरा है याते दोनों कू एक जाने (३) कारण उपाधि सहित जो ईश्वर रूप प्राज्ञ' है, ताकूं मकार' रूप जान। जैसे ईश्वर रूप प्राज्ञ तीसरा है तैसे मकार भी तीसरा है, यातैं ईश्वर रूप प्राज्ञ और मकार कू एक जान (४) तीनों विषे अनुगत जो परमार्थ रूप 'तुरीय' है ताकूं ओंकार पद की तीनों मात्रा विषे अनु गत जो ओंकार का परमार्थ रूप 'अमात्र' है तासे अभिन्न जान। जैसे विश्वादिक विषे 'तुरीय' अनुगत है, तैसे अकारादिक तीनों मात्रा विषे 'अमात्र' अनुगत है, याते ओंकार क 'अमात्र रूप कूं' और 'तुरीय कूं' एक जान। इस रीति से आत्मा क पाद' और ओंकार की जो मात्रा है, तिनकी एकता जानि क 'लयचिन्तन' करे, सो लय चिन्तन कहिये है:—

(१) विश्व जो अकार है सो तैजसरूप उकार से न्यारा

नहीं, किन्तु उकार रूप हैं, ऐसा जो चिन्तन करना सो या स्थान में 'लय' कहिये है। ऐसा ही और मात्रा विषे भी जान लेना और (२) जा उकार विषे अकार का लय किया हैं, ता तैजस स्वरूप उकार प्राज्ञ रूप जो मकार है ताके विषे लय करे और (३) प्राज्ञ रूप जो मकार है ताकू तुरीय रूप जो ओंकार का परामर्थ रूप अमात्र है, ताके विषे लीन करे। काहेते–स्थूल की उत्पत्ति और लय सूक्ष्म विषे होवे है, याते (१) विश्वरूप जो अकार है, ताका तैजस स्वरूप उकार में लय बने है और (२) सूक्ष्म की उत्पत्ति और लय कारण में होवे है, याते तैजसरूप जो उकार है ताका कारण–प्राज्ञ रूप जो मकार है, ताके विषे लय बने हैं। स्थान विषे विश्व आदिकन के ग्रहण ते समष्टि जो विराट् आदिक हैं, तिनका और अपनी अपनी जो त्रिपुटि है तिन सर्व का ग्रहण जानना। (३) जो प्राज्ञरूप मकार विषे उकार लय किया है, ता मकार को तुरीय रूप जो ओंकार परमार्थ रूप अमात्र है ताके विषे लीन करे। काहेते ओंकार के परमार्थ स्वरूप का तुरीय से अभेद है। सो तुरीय ब्रह्मरूप है और शुद्ध विषे ईश्वर, प्राज्ञ दोनों कल्पित हैं। जो जाके विषै कल्पित होवे है हैं सो ताका स्वरूप होवे हैं। याते ईश्वर सहित प्राज्ञरूप मकार का लय बने है। इस रीति से जो ओंकार के परमार्थ स्वरूप अमात्र विषे सर्व का लय किया है 'सो मे हूँ" ऐसा एकाग्रचित्त होव कै चिन्तन करे। स्थावर जगम रूप, और असग,, अद्वय, अससारी, नित्यमुक्त, निर्भय, ब्रह्म रूप जो ओंकार का परमार्थ स्वरूप है, "सो मैं हूँ" ऐसा चिन्तन

करने से ज्ञान उदय होवै है। याते ज्ञानद्वारा मुक्तिरूप फल का देने वाला यह ओंकार का निर्गुण उपासन है सो सब से उत्तम है।

जो यह निर्गुण ध्यान न है तो, सगुण ईश करि मन को थाम।
सगुण उपासन हू नहिं है तो, करि निष्काम कर्म भजि राम॥
जो निष्काम कर्म हू नहिं है, तो करिये शुभ कर्म सकाम।
जो सकाम कर्म नहिं होवै तो शठ बार बार मरि जाम॥
—(विचार सागर १६६)

(ख) मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
—(गीता शांकरभाष्य १२-८)

भावार्थः—तू मुझ विश्वरूप ईश्वर ही अपना संकल्प विकल्पात्मक मन को स्थिर कर और मुझ में ही निश्चय करने वाला बुद्धि को स्थिर कर लगा। उससे तेरा (क्या) लाभ होगा सो सुनः—

इसके पश्चात् अर्थात्-शरीर का पतन होने के उपरान्त तू निःसन्देह एकात्म भाव से मुझ में ही निवास करेगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अर्थात् इस विषय में संशय नहीं करना चाहिये।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥९॥

भावार्थः—यदि इस प्रकार, यानी जैसे मैंने बताया है, उस प्रकार तू मुझ में चित्त को अचल स्थापित नहीं कर सकता, तो फिर हे धनजय ! तू अभ्यास योग के द्वारा—(चित्त को सब ओर से खींच कर, बारंबार एक अवलम्बन में लगाने का नाम अभ्यास है, उससे युक्त जो समाधान रूप योग है, ऐसे अभ्यास योग के द्वारा) मुझ-विश्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा कर ॥७॥

अभ्यासेऽप्य समर्थोस्मि, मत्कर्म परमोभव ।
मदर्थ मपि कर्माणि, कुर्वान्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

भावार्थः—यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ, तो मेरे लिये कर्म करने में तत्पर हो-मदर्थ कर्म का काम नाम मत्कर्म है, उसमें तत्पर हो, अर्थात्-मेरे लिये कर्म करने को ही प्रधान समझने वाला हो। अभ्यास के बिना केवल मेरे लिये कर्म करता हुआ भी तू अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान योग की प्राप्ति द्वारा परम सिद्धि प्राप्त करेगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि, कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं, ततःकुरु यतात्मवान् ॥११॥

भावार्थः—परन्तु-यदि तू ऐसा करने में भी (अर्थात्-जैसा ऊपर कहा है उस प्रकार मेरे लिये कर्म करने के परा-यण होने में भी) असमर्थ हो तो फिर मद्योग के आश्रित हुआ-किये जाने वाले समस्त कर्मों को मुझ में समर्पण करके

उनका अनुष्ठान करना मद्योग है, उसके आश्रित हुआ-और संयतात्मा होकर-अर्थात् जीते हुए मन वाला होकर समस्त कर्मों के फल का त्याग कर ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

भावार्थ—निःसन्देह 'ज्ञान' श्रेष्ठतर है, किससे ? अविवेक पूर्वक किये हुए 'अभ्यास' से उस ज्ञान से भी 'ज्ञानपूर्वक ध्यान' श्रेष्ठ है, और (इसी प्रकार) ज्ञानयुक्त ध्यान से भी 'कर्म फल का त्याग' अधिक श्रेष्ठ है। पहले बतलाये हुए विशेषणों से युक्त इस 'कर्मफल-त्याग' से-तुरन्त ही शांति हो जाती है। अर्थात्-हेतु सहित समस्त संसार की निवृत्ति तत्काल ही होजाती है कालान्तर की अपेक्षा नहीं करती।

'कर्मों में लगे हुए अज्ञानी के लिये पूर्वोक्त उपायों का अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर ही सर्व कर्मों के फल त्याग रूप कल्याण साधन का उपदेश किया गया है सबसे पहले नहीं। इसलिये 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यसात्' इत्यादि से उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतला कर सर्व कर्मों के फल त्याग की स्तुति करते हैं क्योंकि-उत्तम साधनों का अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर यह साधन भी अनुष्ठान करने योग्य माना गया है"।

—(श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य)

ॐ गुरु-गुरु में शिष भेद, अल्प मति [३]तोरी ।
ॐ अल्प मति तोरी । चारों वरण समान,
ॐ चारों वरण समान, सम पर उपकारी ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥१॥

भावार्थ.—हे शिष्य ! प्रणवरूप परमात्मा-गुरु मे, तथा-गुरु-गुरु में, अर्थात्-यह गुरु अच्छा, वह गुरु बुरा, अथवा-मैं और हूँ, गुरु और है, इस प्रकार का भेद समझता है, तो

---

(२) कुण्डलियाः—

गुरु समान दाता नहीं, तीन लोक में तात ।
अभय दान गुरु दे सदा, समझ मान मन बात ॥
समझ मान मन बात, चरण गुरु का नित पूजे ।
नाशवन्त धन त्याग, अभय धन तुझको सूझे ॥
यह कहता मस्त पुकार, दयालू है गुरुदेवा ।
अभय दान दे तुरत, करो तन मन से सेवा ॥१॥

दोहा.-गुरू मत्र तजना नहीं, भजना बारम्बार ।
महा पातकी का करे, श्री गुरु शीघ्र उद्धार ॥१॥

(३) कुण्डलिया.—

गुप्तेश्वर गोविन्द की, छवि निरख तू बारम्बार ।
अष्ट प्रहर चौसठ घड़ी, लग्यो राख इक तार ॥

यह तेरी अटल मति-शुभ बुद्धि-है। गुरुरूप की बुद्धि में-दृष्टि में तो-ब्रह्म, स्वयं तू तथा-जगत् चारों, अथवा-चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र), अथवा-चारों प्रकार के भक्त-(आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और मुमुक्षु) सब एक हैं-समान हैं। वे (गुरु) सब पर समान रूप से उपकार करने वाले होते हैं। तू भी उनके चरण में रह, ऐसी ही दृष्टि प्राप्त करके स्वस्वरूप का अपरोक्षानुभव प्राप्त कर तेरा आवरण-अज्ञान दूर होगा। हे प्रणय रूप प्रिय आत्मा! मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो!

लख्यो राम इकतार वत गुरु यों समझावे।
चतुर पुरुष करि कम परम पूरण पद पावे॥
यह कह मिल नित्यानन्द चित तब तूं सुख पावे।
गुरुईश्वर गोविन्द एक दृष्टि में आवे॥
भक्त भिन्न भगवान से, श्री गुरु कहें न दूर।
तदपि भिन्न अभिन्न है, मिल नारायण नूर॥१॥
श्रीमन् नारायण प्रथम हूआ जप नारा(य)ण।
तीजे नारायण भये उन्हीं न राख? पिछाण॥२॥
खूब मस्ती से देखिये छुवा न दीखे कोय।
ऐसे महा योगीश का, दुर्लभ दर्शन होय॥३॥

—(नि० वि)

ॐ वेदव्यास खुद आप, गुण गुरु का [4]गावे,
ॐ गुण गुरु का गावे । ब्रह्म-विद्या ब्रह्म-ज्ञान,
ॐ ब्रह्म-विद्या ब्रह्म-ज्ञान, गुरु बिन नहिं आवे ॥

ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥२॥

भावार्थः—हे शिष्य तू तो क्या, पर स्वयं वेद व्यास जी (बदरायण भगवान्) श्री गुरु के गुणों का गायन करते हैं। निश्चय के साथ गुरु-गुणों का गायन करते हैं कि- 'ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान विना गुरू के प्राप्त नहीं होता', यह निश्चय कर के कहते है कि–विना गुरु कृपा के ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता (अतः–तू भी इनके सरीखा ही निश्चय प्राप्त कर) तेरे आवरणादि सब दोष दूर होंगे।

हे प्रणवरूप प्रिय आत्मा ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! मुक्त हो !

---

(४) श्लोकः—दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्व दर्शनम्।
दुर्लभाः सहजावस्था, सद्गुरोः करुणाविना ॥

भावार्थः—सद्गुरुकी कृपा हुए विना विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्व दर्शन होना भी दुर्लभ है और सहजावस्था कि- जो उत्तम।त्तम अवस्था गिनी जाती है, वह प्राप्त होना दुर्लभ है। तात्पर्य कि–गुरु–भगवान् की कृपा होवे तो ही उन की महिमा जानी जा सके, तथा उत्तम स्थिति प्राप्त की जा सके।

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।

ॐ विषम दृष्टि होय आप, शून्य गुरु गुरुपद[५] से,
ॐ शून्य गुरु गुरुपद से। दमि सकामी जान,
ॐ दमि सकामी जाण, तज कर दृढ़ सत्संग[६] ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥३॥

न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

अर्थात्—(भगवान् कहते हैं) गुरु मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मानना। उनकी कभी अवज्ञा नहीं करना। मनुष्य बुद्धि से उनके प्रति अपमान की दृष्टि करना नहीं क्योंकि गुरु में सर्वदेवों का वास है। —(वेदव्यास)

श्लोक—गुरुं यो मानवैरन्यैः, समं पश्यति मोहतः।
न तस्यास्मिन्नथो लोके, सुखं नैव परत्र वा ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्रमाद करके ब्रह्मविद्या के उपदेश करने वाले गुरु को दूसरों के सरीखा (साधारण प्राणी) देखता है, उसको इस लोक तथा परलोक में सुख नहीं होता वरन् दुःख होता है। —(पुराण)

(५) (अ) श्लोक—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

भावार्थः—हे शिष्य ! यदि गुरु की विषम दृष्टि होवे तो वह गुरु, गुरु-पदवी के अयोग्य है। दंभी (अर्थात्-यथार्थ तत्त्वदर्शी न होते हुए जो अपने को 'अहं ब्रह्मास्मि' का ढोंग करता हो) तथा—सकामी (जो किसी भी प्रकार की सांसारिक कामनाओं से लिप्त हो) ऐसों को छोड़कर, अथवा-इन दुर्गुणों की उपेक्षा करके केवल सत् उपदेश प्राप्त करने को दृढ सत्संग कर, सद्गुरु से आश्रय तथा—सत्संग के प्रताप से तेरा अज्ञानावरण दूर होगा।

हे प्रणवरूप प्रियआत्मा ! मुक्त हो ! मुक्त हो ! मुक्त हो !

भावार्थः—अविद्या के अन्दर रहकर भी जो अपने को धीर और पण्डित मान ब्रह्मज्ञानी बन बैठते हैं, वे मूढ ठोकरें खाते हुए चक्कर लगाते हैं। अन्धों (अनधिकारी-शिष्यों) को राह बतलानेवाले, अन्धों (अनधिकारी गुरुओं) के समान दोनों दुर्गति धाम को पहुँचते हैं।

—(मुण्डकोपनिषद्)

श्लोकः—

वालस्य वा विषयभोगरतस्य वापि,
मूर्खस्य सेवकजनस्य गृहस्थितस्य।
एतद्गुरो. किमपि नैव न चिन्तनीयं,
रत्नं कथं त्यजति कोऽप्यशुचौ प्रविष्टम् ॥१॥

भावार्थः—श्रीस्वामी दत्तात्रेय जी कहते हैः—

'वालकगुरुसे, विषयी गुरु से, सेवक गुरु से, गृहस्थ गुरु

ॐ विषम दृष्टि होय मङ्ग, शून्य गुरु गुरु-पद[५] से,
ॐ शून्य गुरु गुरु-पद से। दमि सकामी जान,
ॐ दमि सकामी जाण, तज कर दृढ़ सत्सग[६] ॥
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥३॥

न मत्यबुद्धयाऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

अर्थात्—(भगवान् कहते हैं) गुरु मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मानना। उनकी कभी अवगणना नहीं करना। मनुष्य बुद्धि से उनके प्रति अवमान की दृष्टि करना नहीं क्योंकि-गुरु में सर्वदेवों का वास है। —(वेदव्यास)

श्लोकः—गुरुं यो मानवैस्तुल्यं, समं पश्यति मोहतः।
न तस्यास्मिन्नमेद्द्वोके, सुखं नैव परत्र वा ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्रमाद करके ब्रह्मविद्या के उपदेश करने वाले गुरु को दूसरों के सरीखा (साधारण प्राणी) देखता है उसको इस लोक तथा-परलोक में सुख नहीं होता वरन् दुःख होता है। —(पुराण)

(५) (अ) श्लोकः—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

जाति वाले से मिले, चाहे कनिष्ठ जाति वाले से मिले, वह गुण ही संसार से पार कर देता है।

—(अवधूत गीता अ २-श्लो. १-२)

(ब) दोहाः—सकल सृष्टि गुण दोष मय, विश्व कीन निर्धार।
सत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि-विकार ॥

—(तुलसीदास)

(ग) सत्-संगमहिमा—भगवान् शंकर पार्वती जी से कहते हैं—

दोहा—गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा सो होइ नहिं, गावहिं वेद पुराण ॥१॥

- (तुलसीदास)

चौ०—अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिनुहरि कृपा मिलहि नहिं संता ॥

दोहाः—सुन शिष उत्तम सीख को, जो चाहत निज श्रेय।
जग बन्धन इच्छित मुक्यो, तो सत्संग करेय ॥१॥
गहे छछूंदर अहि मरे, तजै हगन की हान।
जल पाये सुख होत है, नर सत्संगत प्रमान ॥२॥
सत्संगति सुख पलक जो, मुक्त न तासु समान।
ब्रह्मादिक इन्द्रादि भू, निपट अल्प ये जान ॥३॥
जगत् मोह फाँसी अजर, कटे न आन उपाय।
जे नित सत्संग करत, सहज मुक्त होजाय ॥४॥

न अर्थात्—इस जगत् के जो गुरु हैं उनसे कुछ भी लाभ नहीं होता है'—ऐसा चिन्तन मत करो। किन्तु उनमें भी कोई न कोई गुण अवश्य होगा, उसी गुण का ग्रहण करके उनका त्याग करदो। क्योंकि—अपवित्र कीचड़ आदि में जो हीरा पड़ा होता है उस हीरे को कौन पुरुष त्याग कर देता है? अर्थात् हीरे का ग्रहण करके जैसे कीचड़ का सब कोई त्याग कर देते हैं, वैसे ही जिस किसी से भी गुण मिल जाय उसी से गुण को ग्रहण कर लो। अवगुणों में दुर्लक्ष करो।

श्लोक—नैवात्र काव्यगुण एव तु चिन्तनीयो,
ग्राह्यः परं गुणवता खलु सार एव।
सिन्दूरचित्ररहिता भुवि रूपशून्या
पारं न किं नयति नौरिह गन्तुकामान् ॥५॥

भावार्थः—दत्तात्रेयजी कहते हैं कि—

किसी भी गुरु में काव्यादिक गुणों का चिंतन नहीं करना कि—गुरु ने काव्य कोषादिकों को पढ़ा है या नहीं पढ़ा है किंतु गुणोंवाले गुरु से जो सारवस्तु हो उसीका ग्रहण करलेना और सब असार वस्तुओं का त्याग कर देना उचित है। इसमें एक दृष्टान्त कहते हैं इस लोक में जैसे सिन्दूर से चित्रित, सुन्दर नौका नदी के पार कर देती है, वैसे ही सिन्दूर के चित्रों से रहित और कुरूप नौका भी क्या पार नहीं करदेती? अवश्य पार कर देती है।

इसी प्रकार सारभूत गुण की आकांक्षा करे। चाहे उत्तम

जाति वाले से मिले, चाहे कनिष्ठ जाति वाले से मिले, वह गुण ही ससार से पार कर देता है ।

—(अवधूत गीता अ. २-श्लो. १-२)

(ब) दोहा'—सकल सृष्टि गुण दोष मय, विश्व कीन निर्धार ।
सत हंस गुण गहहि पय, परिहरि वारि-विकार ॥

—(तुलसीदास)

(र) सत्-संगमहिमा—भगवान शकर पार्वती जी से कहते हैं'—

दोहाः—गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन ।
विनु हरि कृपा सो होइ नहिं, गावहि वेद पुराण ॥१॥

- (तुलसीदास)

चौ०—अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता ।
विनुहरि कृपा मिलहि नहिं सता ॥

दोहाः—सुन शिष उत्तम सीख को, जो चाहत निज श्रेय ।
जग बन्धन इच्छित मुच्यो, तो सत्सग करेव ॥१॥
गहे छछूदर अहि मरे, तजै दृगन की हान ।
जल पाये सुख होत है, नर सत्सगत प्रमान ॥२॥
सत्संगति सुख पलक जो, मुक्त न तासु समान ।
ब्रह्मादिक इन्द्रादि भू, निपट अल्प ये जान ॥३॥
जगत् मोह फाँसी अजर, कटे न आन उपाय ।
जे नित सत्सग करत, सहज मुक्त होजाय ॥४॥

ॐ गुरु देवन के देव, हैं राजन पतिराजा,
ॐ हैं राजन पति राजा। अधिकारी जनों बोध,
ॐ अधिकारी जनों बोध, धरो निज मति पारो।
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे शिष्य! श्री सद्गुरुदेव ब्रह्मस्वरूप परमात्मा—देवाधिदेव-महादेव और राजाधिराज-विष्णु दोनों के पति, पूर्णब्रह्म, पुरुषोत्तम-नित्य आनन्द स्वरूप हैं और वही तेरा निज-आत्मा है। हे जना! अधिकारी बनकर 'सत्यज्ञान' को अपनी बुद्धि में धारण करो-अन्तःकरण में ठसाओ।

कामधेनु अरु कल्प तरु, जो सेवत फल होय।
सत्संगति छिन एक में प्राणी पाय सोय ॥५॥
पारस म अरु सन्त में, बड़ो अन्तरो जान।
वह लोहा कंचन करे, यह करे आप समान ॥६॥
ब्रह्मादिक देवा सकल, तिन भक्ति का फल होय।
सत्संगत में सहज ही, भगति होत उथान ॥७॥
मुक्ति करन पावन हरन, बहुत यतन जग मध्य।
पै यह कोटि उपाय तजि, सत्संगति कर्तव्य ॥८॥

—(ज्ञानमाला)

(७) (अ) ॐ ईशानः सर्व विद्यानामीश्वरः सर्व भूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदा शिवोम् ॥
—(यजु)

अधिकारी जनो ! निश्चय करो कि–'सत्यज्ञान से ही तुम्हारा अज्ञान दूर हो' तुम्हारा कल्याण होगा—गुरुदेव भी यही चाहते हैं कि–इस ज्ञान–अज्ञान के युद्ध में—

हे प्रणवरूप प्रियआत्मा ! तेरी जय हो ! जय हो ! जय हो !

भावार्थः—वह प्रणवरूप परब्रह्म गुरु ही समस्त विद्याओं की उत्पत्तिका मूल कारण एवं समस्त विद्याओं द्वारा वह ही ज्ञातव्य है। वह ही ईश्वररूप से समस्त जगत् का पालक, ब्रह्मा रूप उत्पादक, तथा–शिव रूप से संहारक होता हुआ भी सब से पर, नित्य–आनन्दमय है। हे प्रणव ब्रह्मरूप गुरु-देव ! आप नित्यानन्द हैं, मुझे भी नित्य (अविनाशी) आनन्द में लय कर लीजिये।

(ब) स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

—(योगसूत्र)

भावार्थः—पूर्व मे जो ब्रह्मा, विष्णु शिव हुए, वह काल के आधीन–उत्पत्ति और प्रलय वाले हुए और होते हैं। उनका भी मूल यह परब्रह्म गुरु है, क्योंकि–यह काल के आधीन वा कालपरिणामसयुक्त नहीं है।

(स) कृष्णवन्दे जगद्गुरुम्ः—

भावार्थ·—जो कृष्ण, अर्थात्–उत्पत्ति और लय से रहित है ऐसे जगद्गुरु को मैं वन्दना करता हूँ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य, त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं, प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥

भावार्थः—हे गुरुदेव वासुदेव! आप इस स्थावर-जंगमरूप समस्त जगत् प्राणीमात्र के उत्पन्न करने वाले पिता हैं। केवल पिता ही नहीं पूजनीय भी हैं क्योंकि-आप बड़े से बड़े गुरु हैं—आप कैसे गुरुवर हैं! (सो अर्जुन बतलाता है):—

हे अप्रतिम प्रभाव! सारी त्रिलोकी में आप के समान दूसरा नहीं है क्योंकि ईश्वर दो नहीं हो सकते, कारण-अनेक ईश्वर माननेमें पर व्यवहार सिद्धि नहीं हो सकती। जब कि सारे त्रिभुवन में आप के समान ही दूसरा कोई नहीं है फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है!

जिसमें किसी वस्तु की समानता की जाय उसका नाम 'प्रतिमा' है। जिन आपके प्रभाव की कोई प्रतिमा नहीं है वह आप अप्रतिमप्रभाव हैं। इस लिये हे अप्रतिमप्रभाव! अर्थात् हे निरतिशय प्रभाव! (कहता हूँ) जब कि यह बात है:—

इस लिये मैं अपने शरीर को भली प्रकार नीचा करके अर्थात्-आपके चरणों में रख कर प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप शासनकर्ता ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ, अर्थात्

आपसे अनुग्रह चाहता हूँ। जैसे पुत्र का समस्त अपराध पिता क्षमा करता है तथा जैसे मित्र का अपराध मित्र, अथवा प्रिया का अपराध प्रिय (पति) क्षमा करता है–सहन करता है, वैसे ही हे देव! आपको भी (मेरे समस्त अपराधों को सर्वथा) सहन अर्थात् क्षमा करना उचित है।

—(श्रीमद्भगवद्गीता अ० ११। ४३–४४)

(८) श्लोकः—श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

—(भर्तृहरि)

भावार्थः—जो बात करोड़ों ग्रन्थों मे बताई गई है वह आधे श्लोक मे कहता हू कि–'ब्रह्म सत्य है,' जगत् मिथ्या है, तथा जीव और ब्रह्म एक ही हैं'।

—"तमव वि दित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"। — यजु०)

भावार्थः—उस ब्रह्म को जान कर ही मनुष्य अमृत (मोक्ष) पद प्राप्त करता है, इसके अतिरिक्त अन्य और कोई मार्ग नहीं है।

—— ० ——

निदिध्यासन के पन्द्रह अंग।

श्री भगवान् शंकराचार्य अपने अनुपम अपरोक्षानुभूति मे आज्ञा करते हैं अब मै पूर्वोक्त (तीन निष्ठा) की प्राप्ती के लिये

पन्द्रह अंग बतलाता हूँ। इन सबसे सदा निदिध्यासन (अभ्यास) करना चाहिए निरन्तर अभ्यास किये बिना सच्चित्-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति नहीं होसकती। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि स्वरूप प्राप्ति के लिये चिर काल एक ब्रह्म चिन्तन करे। यम नियम, त्याग, मौन, देश काल आसन, मूल बन्ध देह की समता नेत्रों की स्थिति, प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि—क्रम से पन्द्रह अंग बतलाये गये है। 'सब ब्रह्म ही है' ऐसे ज्ञान से इन्द्रियों का वशीभूत हो जाना यम कहलाता है। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिये। सजातीय का तिरस्कार—यही परमानन्द रूप नियम पूर्वक पालन करते हैं। प्रपञ्च को चेतन स्वरूप देखने से उसके रूप का त्यागन करना ही महान् पुरुषों का वन्दनीय त्याग है क्यों कि यह तुरन्त मोक्ष देने वाला है। जिसे न पाकर मन सहित वाणी लौट आती है ! और उस (ब्रह्म) का भला कौन वर्णन कर सकता ! और यदि प्रपञ्च को ही वक्तव्य (शब्द का विषय) माने तो वह भी शब्द रहित है। अतः सत्पुरुषों का दूसरा स्वाभाविक मौन यह (प्रपञ्च का शब्दात्व) भी हो सकता है। ब्रह्मवादियों ने वाणी का मौन तो मूर्खों के बतलाया है।

जिसमें आदि अन्त और मध्य में कोई भी जन नहीं है तथा जिससे यह जगत निरंतर व्याप्त है वही देश जन शून्य कहा गया है।

ब्रह्म आदि समस्त भूतों की एक पल में ही कल्पना करने

के कारण अद्वितीय अखण्डानन्द रूप ब्रह्म ही कारन शब्द से कहा जाता है। जिस अवस्था में सुख पूर्वक निरन्तर ब्रह्म चिन्तन हो सके उसे ही आसन जानना चाहिये दूसरे सुख नासक आसन आसन नही है जो समस्त भूतों का आदि कारण है विश्व का अविनाशी अधिष्ठान है और जिसमें सिद्ध जन स्थित रहते हैं उसे ही सिद्धासन समझना चाहिये। जो समस्त भूतों का मूल है और जिसके आश्रय से चित्त स्थिर किया जाता है उस मूल वन्ध का सदा सेवन करना चाहिये यह राज योगियों का योग है। जिस समय चित्त सम ब्रह्म में लीन होजाय उसी समय अंगों की समता समझनी चाहिये। सूखते वृक्ष के समान अगों को निश्चलता का नाम समता नहीं है। दृष्टि को ज्ञानमयी करके संसार को ब्रह्ममय देखे। यह दृष्टि अति उत्तम है, नासिका के अग्र भाग को देखने वाली नहीं। जहां द्रष्टा दर्शन और द्रष्य (इस त्रिपुरी) का अभाव हो जाता है वहीं दृष्टि करनी चाहिये, नासिका के अग्र भाग पर नहीं। चित्तादि समस्त भावों में ब्रह्म रूप से ही भावना करने से सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध होजाता है। वही प्राणा-याम कहलाता है।

प्रपञ्च का निषेध करना रेचक-प्राणायाम है और 'मैं ब्रह्म ही हूं' ऐसी जो वृत्ति है वह—पूरक-प्राणायाम कहलाता है। फिर उस (ब्रह्माकार) वृत्ति की निश्चलता ही कुम्भक-प्राणा-याम है। जाग्रत पुरुषों के लिये तो यही क्रम है, अज्ञानियों के लिये घ्रणपीडन ही प्राणायाम है ।

—— ——

विषयों में आत्मभाव करके मन को चेतन में जुटा देने को ही प्रत्याहार जानना चाहिये। मुमुक्षुजन इसी का अभ्यास करें।

मन जहां-जहां जाय वहीं-वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए मन को स्थिर करना ही उत्तम धारणा मानी गई है 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसे सद्वृत्ति से जो परमानन्द दायिनी निरालम्ब स्थिति होती है वही ध्यान शब्द से प्रसिद्ध है। निर्विकार तथा ब्रह्माकार वृत्ति से जो पूर्णतया वृत्ति होजाती है वही ज्ञान समाधि है।

इस प्रकार इस स्वाभाविक आनन्द का तब तक भली प्रकार अभ्यास करे जब तक कि चित्त को लगाम पर एक क्षण में ही वह अपने वशीभूत न हो जाय।

फिर वह योगिराज सब साधनों से छूटकर सिद्ध हो जाता है। यही उसका स्वरूप है, वह किसी एक के मन या वाणी का विषय नहीं है।

समाधि के विघ्न—

समाधि का अभ्यास करने पर अनुसन्धानराहित्य आलस्य भोग वासना लय तम विक्षेप रसास्वाद और शून्यता आदि विघ्न बलात्कार से अवश्य आते हैं। इस प्रकार के जो विघ्न आते हैं, ब्रह्मवेत्ता को उन्हें धीरे धीरे त्यागना चाहिये। (समाधि के समय) भाव वृत्ति रहने से भावत्व, शून्य वृत्ति रहने से शून्यत्व और पूर्ण वृत्ति रहने से पूर्णत्व की प्राप्ति होती है। अतः पूर्णत्व का अभ्यास करे।

ब्राह्मी वृत्ति का महत्व:—

जो लोग इस परम पवित्र ब्राह्मी वृत्ति का त्याग करते हैं वे वृथा ही जीते हैं, तथा वे पशुओं के समान हैं और जान कर बढ़ाते भी हैं वे ही सत्पुरुष हैं, तथा वे ही त्रिलोकी मे धन्य और वन्दनीय भी हैं। जिनकी यह ब्राह्मी वृत्ति बढ़ी हुई और परिपक्व होती है वे ही अति श्रेष्ठ भाव को प्राप्त होते हैं 'नेतरे शब्द वाहिनः' केवल शब्द से ही कहने वाले अन्य पुरुष नहीं।

> कुशला ब्रह्म वार्तायां वृत्ति हीना सुरागिणः।
> ते ह्यज्ञानि तमा नूनं पुनरा यान्ति यान्ति च॥

अर्थात्:—जो ब्रह्मवार्ता में कुशल हैं किन्तु ब्राह्मी वृत्ति से रहित और राग युक्त हैं–निश्चय ही वे अत्यंत अज्ञानी हैं–और वारबार जन्मते मरते रहते हैं–ब्रह्मादिलोकपालों सनकादि सिद्धों और शुकदेवादि परम हंसों के समान वे आधे पल की ब्रह्ममयी वृत्ति के बिना नहीं रहते।

वृत्ति ज्ञान का साधन।

कार्य मे कारण अनुगत होता है कारण में कार्य अनुगत नहीं होता। अतः विचार करने से कार्य का अभाव होने के कारण–कारण की कारणता भी नहीं रहती इस प्रकार जो वाणी का अविषय है। वह वस्तु शुद्ध है। इसका वारवार मिट्टी और घडे के दृष्टांत से ही विचार करना चाहिये। इसी

प्रकार से बुद्धि प्रज्ञात्मिका हो जाती है और फिर उन मुक्त चित्त पुरुषों के अन्तःकरण में वृत्ति ब्रह्म उदय होता है। पुरुष को चाहिये कि पहले यह कारण (कार्य से) अलग करके देखे। पीछे यह सर्वथा उसे काम में अनुगत रूप से देखने लगता है। पहिले कार्य में कारण को देखे और फिर कार्य को त्याग दे। इस प्रकार कारणता का नाश होजाता है और मुनि (कार्य कारणता से रहित) अवशिष्ट रूप हो जाता है। जिस वस्तु का निश्चय पूर्वक तीव्र वेग से चिन्तन किया जाता है, पुरुष तुरन्त वही हो जाता है। यह बात भृङ्गी कीड़े के दृष्टांत से जाननी चाहिये।

यह संपूर्ण जगत् अदृश्य भावरूप चेतनमय है। इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष सावधान होकर नित्य प्रति अपनी आत्मा का चिन्तन करे।

विद्वान को चाहिये कि दृश्य को अदृश्य करके उसका ब्रह्म रूप से चिन्तन करे और चिद्रस पूर्ण बुद्धि से नित्य सुख में मग्न रहे।

> एभि रंगैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः।
> किञ्चित्पक्व कषायाणां हठ योगेन संयुतः॥
> परिपक्वं मनोयेषां केवलोयं च सिद्धिदः।
> गुरु दैवत भक्तानां सर्वेषां सुलभाज्जवात्॥

इन सब अंगों से युक्त योग का नाम राजयोग है जिनकी वासनाएं कुछ कम क्षीण हुई होती हैं उन्हें यह हठ योग

सहित और जिनका चित्त परिपक्व (वासना हीन) होता है उन्हें अकेला ही सिद्धि देने वाला होता है। यह सभी गुरु और ईश्वर के भक्तों को तुरंत सुगमता से प्राप्त हो सकता है।

—(श्लोक १०० । १४४)

वसिष्ठ देव ने भी श्रीराम से यही कहा हैः—

दु'सप्ता राम संसार विषवेग विषूचिका।
योग गारुड़ मंत्रेण पावने नोपशाम्यति॥

अर्थात्ः—हे राम ! यह संसार रूपी विषवेग विषूचिका अत्यंत दुःसह है। केवल परम पावन योगाभ्यास रूप गारुड़ मत्र के द्वारा ही उसका उपशमन किया जा सकता है।

—(योग वासिष्ठ)

चारों वरण समानः—

देवर्षि नारद अपनी भक्ति सूत्र में आज्ञा करते हैंः—

नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादि भेदः—

अर्थात् उनमें (भक्तों में) जाति विद्या रूप कुल धन और क्रियादि का भेद नहीं है।

सूत्रकार यहाँ यह समझाते हैं कि भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि की प्रधानता नहीं है। ब्राह्मण हो या शूद्र, पढ़ा लिखा हो, या बेपढा लिखा सुन्दर हो या कुरूप, ऊचे कुल का हो या नीच कुल का, धनवान हो या

प्रकार से वृत्ति प्रज्ञात्मिका हो जाती है और फिर उन मुख चित्त पुरुषों के अन्तःकरण में वृत्ति ज्ञान उदय होता है। पुरुष को चाहिये कि पहले वह कारण (काय से) अलग करके देखे। पीछे वह सर्वथा उसे कार्य में अनुगत रूप से देखने लगता है। पहिले काय में कारण को देखे और फिर कार्य को त्याग दे। इस प्रकार कारणता का नाश होजाता है और मुनि (कार्य कारणता से रहित) अवशिष्ट रूप हो जाता है। जिस वस्तु का निश्चय पूर्वक तीव्र वेग से चिन्तन किया जाता है, पुरुष तुरन्त वही हो जाता है। यह बात भृङ्गी कीड़े के दृष्टांत से जाननी चाहिये।

यह संपूर्ण जगत् अदृश्य भावरूप चेतनमय है। इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष सावधान होकर नित्य प्रति अपनी आत्मा का चिन्तन करे।

विद्वान को चाहिये कि दृश्य को अदृश्य करके उसका ब्रह्म-रूप से चिन्तन करे और चिद्रस पूर्ण बुद्धि से नित्य सुख में मग्न रहे।

> एभि रंगैः समायुक्तो राजयोग उदाहृत।
> किञ्चित्पक्व कषायाणां हठ योगेन संयुतः॥
> परिपक्वं मनायर्षां केवलोयं च सिद्धिदः।
> गुरु देवत भक्तानां सर्वेषां सुलभाज्जवात्॥

इन सब अंगों से युक्त योग का नाम राजयोग है जिनकी वासनाएं कुछ कम क्षीण हुई होती हैं उनमें यह हठ योग

जाति पाँति कुल धरम बड़ाई ।
धन बल परिजन गुनचतुराई ॥
भगति हीन नर सोहइ कैसे ॥
बिनु जल वारिद देखिय जैसे ॥

सत्संगः—

कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यसङ्गॉस्त्यजति यो महानुभाव सेवते, निर्ममो भवति ॥४६॥ (नारदभक्ति सूत्र)

प्रश्नः—कौन तरता है (दुस्तर) माया से कौन तरता है

उत्तरः—जो सब सगों का परित्याग करता है, जो महान भावों की सवा करता है और जो ममता रहित होता है।

श्रीमद्भागवत मे भगवान् कहते हैः—

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सतो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढ वाप्सु मज्जनाम् ॥
११।२६।३२

अर्थात्ः—जल में डूबते हुए लोगो के लिये दृढ़ नौका के समान इस भयकर संसार सागर मे गोते खाने वालों के ब्रह्म वेत्ता शान्त चित्त सतजन ही परम अवलम्बन है।

महानुभाव सतो की सेवा से पाप-ताप और मोह अनायास ही दूर हो जाते है।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।

दरिद्र और बहुत क्रिया शील हो या अक्रिय। जो अपना सर्वस्व प्रभुपर न्योछावर कर सतत उनका प्रेम पूर्वक स्मरण करने में अपने चित्त को तल्लीन कर देता है उसी को भक्ति रूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है। निषाद का जन्म नीच जाति में हुआ था। सदन कसाई थे शबरी गवाँर स्त्री थी। ध्रुव अपढ़ बालक थे। विभीषण और हनुमानादि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे। विदुर और सुदामा निर्धन थे। गोपीजन क्रिया हीन थीं परन्तु इन सबने भक्ति और प्रपत्ति के प्रताप से भगवान् का प्रेम प्राप्त किया और भगवान् के परम प्रिय हो गए। सर्व सत्कर्मों की फल रूपा भक्ति जिसके हृदय में है वही भक्त है, वही सर्व गुण सम्पन्न है। फिर चाहे वह कोई हो। यही बात श्री राम चरित मानस में कही गई है:

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोई ज्ञाता।
सोई महि मण्डित पण्डित दाता॥
धरम परायण सोई कुल त्राता।
राम चरण जेहिकर मन राता॥
नीति निपुण सोई परम सयाना।
श्रुति सिद्धान्त नीक तहि जाना॥
सोइ कोविद सोई रण धीरा
जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउ एक भगति कर नाता॥

जाति पाँति कुल धरम बडाई ।
धन बल परिजन गुनचतुराई ॥
भगति हीन नर सोहइ कैसे ॥
बिनु जल बारिद देखिय जैसे ॥

सत्संगः—

कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यसङ्गाँस्त्यजति यो महानुभाव सेवते, निर्ममो भवति ॥४६॥ (नारदभक्ति सूत्र)

प्रश्नः—कौन तरता है (दुस्तर) माया से कौन तरता है

उत्तरः—जो सब सगों का परित्याग करता है, जो महान भावों की सवा करता है और जो ममता रहित होता है।

श्रीमद्भागवत मे भगवान् कहते हैः—

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
संतो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढ वाप्सु मज्जनाम् ॥
११।२६।३२

अर्थात्—जल में डूबते हुए लोगो के लिये दृढ नौका के समान इस भयकर संसार सागर में गोते खाने वालों के ब्रह्म वेत्ता शान्त चित्त संतजन ही परम अवलम्बन हैं।

महानुभाव संतो की सेवा से पाप-ताप और मोह अनायास ही दूर हो जाते हैं।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्त विभाव सुम् ।

शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा
११।२६।३१

जिस प्रकार भगवान् अग्निदेव का आश्रय लेने पर शीत भय और अन्धकार तीनों का नाश हो जाता है इसी प्रकार संत पुरुषों के सेवन से पाप रूपी शीत जन्म मृत्युरूपी भय और अज्ञान रूपी अन्धकार ये कोई भी नहीं रहते।

निर्मल हरि भक्ति की प्राप्ति के लिये तो महा पुरुषों की चरण सेवा ही प्रधान है। श्री मद्भागवत में भक्तराज प्रह्लाद और ज्ञानी प्रवर अवधूत शिरोमणि जड़ भरत के वचन हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥
—(७।५।३२)

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्यै
र्विना महत्पाद रजोऽभिषेकम्॥
—(५।१२।१२)

प्रह्लाद कहते हैं कि 'हे पिता जिन भगवान श्रीहरि के चरणों का स्पर्श समस्त अनर्थों की निवृत्ति करने वाला है।

उन श्री हरि चरणों में तब तक प्रेम नहीं होता जब तक अकिञ्चन साधु महान पुरुषों की चरण धूलि से मस्तक का अभिशेक न किया जाय।'

महात्मा जड भरत राजा रहूगण से कहते हैं:—

'हे रहूगण! यह भगवत्तत्व का ज्ञान और भगवत्प्रेम तप यज्ञ दान गृहस्थाश्रम द्वारा परोपकार, वेदाध्ययन और जल अग्नि एवम् सूर्य की उपासना से नहीं मिलता। यह तो महा पुरुषों के चरणों की धूलि में स्नान करने से अर्थात् उनकी चरण सेवा से ही मिलता है।'

दुःसङ्ग सर्वथैव त्याज्यः ॥४३॥　　　—(नारदीयसूत्र)

— दुःसंग का सर्वथाही त्याग करना चाहिये।

जिस प्रकार सत्संग से भगवत् कथा, भगवच्चर्चा भगवन्नाम, भगवत् प्रीति सदाचार, शास्त्र विवेक वैराग्य तत् अभ्यास सेवा सरलता नम्रता निरभिमानता और शान्ति आदि के प्रति प्रवृत्ति होती है, और मनुष्य सदाचार परायण परम भक्त बन सकता है। इसी प्रकार इसके विपरीत दुःसंग विषय वार्ता जग चर्चा लोक निंदा, भोग प्रीत दुराचार उच्छृङ्खलता अविवेक विषय लोलुपता, निर्दयता हिंसा असत्य इन्द्रिय लम्पटता अभिमान और अशान्ति आदि के प्रति प्रवृत होकर मनुष्य पाप परायण और अत्यन्त विषयासक्त हो जाता है। दुःसंग से आसुरी सपत्ति के सभी दुर्गुण और

शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा
११।२६।३१

जिस प्रकार भगवान् अग्निदेव का आश्रय लेने पर शीत भय और अन्धकार तीनों का नाश हो जाता है इसी प्रकार संत पुरुषों के सेवन से पाप रूपी शीत जन्म मृत्युरूपी भय और अज्ञान रूपी अन्धकार ये कोई भी नहीं रहते।

निर्मल हरि भक्ति की प्राप्ति के लिये तो महा पुरुषों की चरण सेवा ही प्रधान है। श्री मद्भागवत में भक्तराज प्रह्लाद और ज्ञानी प्रवर अवधूत शिरोमणि जड़ भरत के वचन हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥
—(७।५।३२)

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
—(५।१२।१२)

प्रह्लाद कहते हैं कि 'हे पिता जिन भगवान श्रीहरि के चरणों का स्पर्श समस्त अनर्थों की निवृत्ति करने वाला है।

अर्थः—हे मनुष्य ! तुझे जो मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा होय तो विषयों को विष के समान मानकर दूर ही से त्याग कर और सतोष दया क्षमा आर्ज शान्ति और दान्ति को आदर से अमृत सरीखी मान कर सेवन कर।

सप्तज्ञान भूमिकाः—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छास्यात्
प्रथमा समुदीरिता ।
विचारिणा द्वितिया तु
तृतीया तनुमानसी ॥
सत्वा पनिश्चतुर्थीस्यात्
ततोऽससक्ति नामिका ।
पदार्थ भावना सष्ठी
सप्तमी तुर्यगास्मृता ॥

—— o ——

विषय विषे भई द्वेपता,
गुरु तीरथ अनुराग ।
ताते शुभ इच्छा करी,
कथा श्रवण मन लाय ॥
भगवत्, रति, गति आनमति,
प्रेमयुक्त नित चित ।

दुराचारों का विकास और विस्तार होता है। कुसंग से मनुष्य के समस्त सद्गुणों का विनाश होकर उसका सर्वनाश होजाता है। परम सुशीला स्नेहमयी प्रेम-प्रतिमा देवी कैकई मन्थरा की कुसंगति के कारण ही महाराज दशरथ के, भरत के, अपने और तमाम अयोध्या वासियों के परम शोक का कारण बनी थी और इसी से उन्हें अन्त में दुःखमय वैधव्य का सहन करना और प्राणप्रिय भरत का अप्रीति भाजन होकर रहना पड़ा था। शकुनि की कुसंगति ही महाभारत के भयानक संहार में एक प्रधान कारण हुई। श्रीमद्भागवत् में भगवान् कपिलदेव माता देवहूति से कहते हैं:—

जो मनुष्य शिश्नोदर परायण (स्त्री और धन में ही आसक्त) नीच पुरुषों का संग करके उनके अनुसार आचरण करने लगता है वह उन्हीं की भांति अन्धकारमय नरकों में जाता है क्योंकि दुष्ट संग से सत्य पवित्रता दया मनन, शीलता बुद्धि लज्जा श्री कीर्ति क्षमा, मन का वश में रहना इन्द्रियों का वश में रहना और ऐश्वर्य आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव उन अशान्त चित्त मूर्ख नष्टबुद्धि स्त्रियों के हाथ के खिलौने बने हुए शोचनीय असाधु दुष्ट मनुष्यों का संग कभी नहीं करना चाहिये। —(३०-३१-३२-३४)

मातस्य कांशा यदि वैतयास्ति
स्पजाति दूरा विषयाश्चियं यथा।
पीयूष यत्ताप तथा समार्जय
प्रशान्त हार्त्तीमज नित्य मादरात्॥

अर्थः—हे मनुष्य ! तुझे जो मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा होय तो विषयों को विष के समान मानकर दूर ही से त्याग कर और संतोष दया क्षमा आर्जव शान्ति और दान्ति को आदर से अमृत सरीखी मान कर सेवन कर।

सप्तज्ञान भूमिकाः—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छास्यात्
प्रथमा समुदीरिता ।
विचारिणा द्वितिया तु
तृतीया तनुमानसी ॥
सत्वा पत्तिश्चतुर्थीस्यात्
ततोऽसंसक्ति नामिका।
पदार्थ भावना षष्ठी
सप्तमी तुर्यगास्मृता ॥

—— o ——

विषय विषे भई द्वेषता,
गुरु तीरथ अनुराग ।
ताते शुभ इच्छा करी,
कथा श्रवण मन लाय ॥
भगवत्, रति, गति आनमति,
प्रेमयुक्त नित चित्त ।

गुरु गावत पुलकित हृदय,
रिम रिम सुरस सुदिन ॥
दूजी कही विचारणा,
उपजो सत्य विचार ।
एकान्त है शोधन लम्बो
मोह को संसार ॥
तनु मानसा सु तीसरी,
मन का प्रत्याहार ।
थिर है शुद्ध स्वरूप की
राखी मिल संसार ॥
चतुर्थी सत्वापति यह
अनुभव उदय अभंग ।
आत्मा जग दृश्यों मही
ज्यों मध सिन्धु तरंग ॥
छूट्या तन अभिमान सब,
चिन्मय किया स्वरूप ।
असंसक्ति यह भूमिका,
पंचम महा अनूप ॥
छट्ट पदारथ बुद्धि ना,
सब का होवे अभाव ।

यह पदारथ भाविनी,
सृष्टि भूमि लखाव ॥
भावाभाव न तहां कछु,
सप्तम अतुर्य्यौ माहिं ।
मैं तू तहा न संभवै,
कहा अहै कह नाहिं ॥

—— o ——

ॐ नमः सभाभ्य सभापतिभ्यश्चवो नमो नमोऽश्वेभ्येऽश्व-पतिभ्यश्चवो नमो नमः आव्याधिनीभ्यो विविद्धयन्तीभ्यश्चवो नमो नमः उडगणाभ्यस्तृष्हती भ्यश्चवो नमः ॥

—यह विश्व जगत् (ब्रह्माण्ड) सभामडप है, जिसका शामियाना आकाश विछावन धरती और नक्षत्र रोशनी है। इसमें विराट् सभा लगी है।

इस विराट् सभा के सभापति परब्रह्म परमात्मा शिव है जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी सर्वव्यापक सर्व शक्तिमान् सर्व हितकारी अलख अगोचर अज अविनाशी अचित्य समस्त विद्याओं के भडार सच्चिदानन्द और अनंत विश्वों के नियन्ता हे । यह सारी सभा उनके अधीन हे । —(यजुः)

गुरु मात गुरु तात् गुरु बन्धु निज गात,
गुरुदेव नख शिख सकल संवारयो है।

गुरु दिये दिव्य नैन, गुरु दिये मुख बैन
गुरु देव श्रवण दे सबद उचार्यो है ॥
गुरु दिये हाथ पाँय गुरु दिये शीश माथ
गुरुदेव पिण्डमाहिं प्राण आइ डार्यो है ।
सुन्दर कहत गुरुदेव जू कृपालु होइ
फेरि घाट छेड़ि करि मोहिं निस्तार्यो है ॥

कोउ देत पुत्र धन कोउ देत पशु धन,
कोऊ देत राज साज देय अरपि मुन्यो है ।
काऊ देत यश मान कोउ देत रस ज्ञान,
काऊ देत विद्याज्ञान जगत में गुन्यो है ॥
कोउ देत ऋद्धि सिद्धि काउ देत नव निधि,
काऊ देत और कछु ताते शीश धुन्यो है ।
सुन्दर कहत एक दियो जिन राम नाम,
गुरु सो उदार काउ देख्यो है ना सुन्यो है ॥

सद्गुरु-लक्षण ।

छप्पय छन्द ।

उदधि सुरूप उदार क्षमाक्षिति जेवी जेम
सौमर्गि मुनि सम दयाशील प्रभु जेवुं तेने

वायु सम निर्लेप मेघ सम पर उपकारी,
हरिश्चन्द्र सम सत्य धर्म जेव। वृतधारी
निर्लोभी निर्वैद दृढ़ कर्मनिष्ठ ज्ञानी घणा ॥१॥

शुभ गुण केरू सदन सदन, बचन बोले मृदुवाणी
सदाचार सयुक्त भजे जग कर्ता जाणी
समजण सहुथी श्रेष्ठ वीर अतिधीर विचक्षण
बोध करे बहुविध्य वुद्धि जेनी अति तीक्षण
ते शुद्ध मार्ग साचा कहे भांति भग क्षणमां करे
जन छोटम एवा साद्गुरु ते तारे आपे तरे ॥२॥

हित सर्वनु होय एम अन्तर मां इच्छे।
सुख पामें सहुकोय ब्रह्मनो महिमा प्रीछे
आलाके जय एम पार पामें परलोके
खरे कुशल ने खेम रजे कोई नव रोके
भव मां एवा गुरु भला अभय दान आये सही
ते कुमार्ग ना काच थी छोटम कहाडे कर ग्रही

बहु प्रकारारे बोध शिष्य ने शुभ समजावे
नहिं कंई वैर विरोध तुच्छ गुण सर्व नजावे
भारे आवे भेद वेद आदिक सहु विद्या,
जणावे विधि निपेध उच्छेदे सर्व अविद्या

एह बुद्धि माणी तणी गुरु सुधारे ज्ञान थी
कोटम सुख पाम सदा परमेश्वर ना ध्यान थी ॥

दोहा।

शास्त्र सज्जन साधु कहे गुरु गोविंद समान।
ते साधु करि मानिय आपे पूरण ज्ञान ॥१॥
गुरु रूप गोविंद तु प्रकट जणाये तेह।
शिव बतावे जीव ने श्रम सर्व सदेह ॥२॥
ये मोटा प्रभु थी सरस दुनियाँ माँ दातार।
वपुधारी ने विचार करता पर उपकार ॥३॥
वारिद सम वृष्टि कर रहे तृपा न ताप।
ज्ञान गुरु मुख थी झरे आपे शान्ति अमाप ॥४॥
काल पारधी जीव मृग महामाया नी जाल।
पाली न शकनी कर दयी गुरु दयाल ॥५॥
फस्यो कर्म ना कीच माँ कोटि कल्प थी जंत।
काढे त्यांथी करग्रही भेटे गुरु भगवंत ॥६॥
ईश्वर ज्ञान ईश्वर तणी जो ताळीवा चवाय।
गुरुज्ञान अंजन कर भूलीं सच उपाय ॥७॥
काल व्याल भागाल माँ बीडे लोक चवाय।
लहर चढ़ ले झेरनी शिश पर भूली जवाय ॥८॥
मल गढ जो गारुडी मंडु उतारे झेर।
शिवबपु दयो निर्मलु सिंचे अमृत लेर ॥९॥

नीति रीति शीखवे सुधरे जेथी शीश ।
पापन परसे पिंडमां ते पामे जगदीश ॥१०॥

मोक्ष पामवा आदरे धारे मोटी हाम ।
मोटा गुणाने जई मले कोइ दिन सुधरे काम ॥११॥

नीचा गुण होय नर विषे करे नीचते काम ।
ऊंचा गुण थी ऊंच पद पामे उत्तम ठाम ॥१२॥

आडबर जोई उपल्यो गागुरु करवा जाय ।
रूपु माने छीपन पण अते पस्ताय ॥१३॥

जो कोई राखो जगत् मां प्रभुमलवानी आश ।
ता गुरु कर जो अनुभवी कापे भवनो पाश ॥१४॥

वाचक गुरु वाचा बले दृढ़ करवा निज पक्ष ।
वाद शीखवे शिष्यने नमले साचो लक्ष ॥१५॥

जाय बह्या जाणया विना जूठा मारग जीव ।
सद्गुरु जो सांचा मले तो ओ लखावे शीव ॥१६॥

सांचाने भूठा सकल वाणी थी वरताय ।
तोल करे जो बोलनो तरत परीक्षा थाय ॥१७॥

बकरी ते बें बें कहे सिंह कहे हुंकार ।
एकज अक्षर ऊचरे पणतेमा बहुभार ॥१८॥

सिंह तणा हुंकार थी थाथा डरे हजार ।
कोई न उर भेदे नहीं बकरां बके अपार ॥१९॥

शब्द सांभले सिंह जो होय सिंह नु बाल ।
भड़कीने भागे पशु पडे पेट मां फाल ॥२०॥

पशु बुद्धि प्राणी तणी गुरु सुधारे ज्ञान थी
कोटम सुख पाम सदा परमेश्वर ना ध्यान थी ॥

दोहा ।

शास्त्र सकल सहु कहे गुरु गोविंद समान ।
ते साधु करि मानिय आपे पूरण ज्ञान ॥१॥
गुरु रूप गोविंद नु प्रकट जणाय तेह ।
शिष्य देखाड़े जीव मे शमे सर्व संदेह ॥२॥
ये मोटा प्रभु थी सरस दुखियां नो दातार ।
वपुधारी ने विचरे करवा पर उपकार ॥३॥
वारिद जल वृष्टि करे रहे तृषा न ताप ।
ज्ञान गुरु मुख थी झरे आपे शान्ति अमाप ॥४॥
काल पारधी जीव मृग महामाया नी जाल ।
पाली न मसरगी करे देखी गुरु दयाल ॥५॥
फस्यो कर्म ना कोष मां, कोटि कल्प थी अंत ।
काढ़े त्यांथी करग्रही मेटे गुरु भगवंत ॥६॥
इन्द्रजाल ईश्वर तणी जो तामीना धपाय ।
गुरुज्ञान अंजन करे मूर्ठो सत्य जणाय ॥७॥
काल व्याल नामाल नो वीले लोक बचाय ।
लहर चढ़े जेरनी मिश्र पर मूली जवाय ॥८॥
मले गरु जो गारुडी सहु उतारे जेर ।
चिन्मयपुर दले निर्मेह सिंचे अमृत सेर ॥९॥

अविद्या हृदय ग्रन्थि बन्ध मोक्षो यतो भवेत् ।
'तमेव गुरु दित्या हु गुरु शब्देन योगिनः ॥२५७॥

मनुमहाराज कहते हैं:—

निषेका दीनि कर्माणि यः करोति यथा विधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरु रुच्यते ॥२॥

श्लोकः—अनंत शास्त्रं बहुलाश्चविद्या
ह्यल्पश्च कालो बहुविघ्नताच ।
यत्सार भूतं तदुवासनीयं
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बु मध्यात् ॥

शास्त्र अनंत हैं, विद्या अनेक प्रकार की है, और आयु-काल थोडा और वह भी बहुत विघ्नों से पूर्ण इनमें से सार भार जितना हो उतना ग्रहण करना जिस प्रकार कि हस जल मिश्रित दूध में से दूध दूध ग्रहण करलेता है ।

श्लोकः—कचास्ति कचवा नास्ति क्वास्ति चैकं कन्यद्वयम् ।
'बहुनात्र किं मुक्तेन किञ्चिन्नो तिष्ठ ते मम ॥

मैं आत्मस्वरूप हूँ इस कारण मेरे विषे अस्तिपना नहीं है, नास्तिपना नहीं है, एकपना नहीं है, द्वैतपना नहीं ह, इस प्रकार कल्पित पदार्थों की वार्ता करोडों वर्ष पर्यन्त कहूँ तब पार नहीं मिल सकता, इस कारण सक्षेप से कहता हूं कि, मेरे विषे किसी कल्पना का भी आभास नहीं होता है क्योंकि मैं एक रस चेतन स्वरूप हू । —(अष्टावक्र गीता २०–१४)

कपट पन्थनो प्रलय करे एज शब्द निर्वाण।
पाखंडी पण ओळखता सुखना छूटके प्राण ॥२१॥
शब्द सुणी अनुभव तणो करे माया काल।
आपणो स्वरूप प्रहे जो हाथ गुरु मां’थाल ॥२२॥
आ सन्धि आवे जीवने ते या गीतां गाय।
शृङ्गार रसमे सांभळी पामर नाची थाय ॥२३॥
कुटिल गुरु कलिमां घणा वाचे रोचक बोध।
पामर तेमा पंथना करी शके नहीं शोध ॥२४॥
कारण एवा गुरु कर्यें कोप न पामें पार।
नाम लेइ श्रीकृष्णनु कथे कथामां आर ॥२५॥

॥ तत्सत् ॥

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरुः।
गिरत्यज्ञान मिति गुरुः
यद् गर्यन्त स्तूयते सुर गन्धर्वा दि भि रिति गुरुः।

भावार्थः—यह है कि धर्मका जो उपदेश दे अज्ञान रूपी तमका विनाश कर ज्ञान रूपी ज्योति से जो प्रकाश करे, देव गन्धर्वादि से जो स्तुतहो उन्हीं साक्षात देव की संज्ञा गुरु है।

(स) सप्त पदार्थ सिद्धान्त सार संग्रह में भगवान शङ्कराचार्य भी स्वकीय व्याख्यानों द्वारा 'गुरु' शब्द का लक्षण प्रदर्शित करते हैं—

—मैं और मेरा यही बन्धन है और मैं और मेरा नहीं यही मुक्त पना है।

रहनो सदा एकान्त को पुनि भजनो भगवत।
कथन श्रवण अद्वैत को, यही मतो है सत॥
यही तत्व को चिन्तन करनो।
प्रत्यक ब्रह्म अभिन्न, सदा उर अन्तर धरनो॥
कह गिरधर कविराय, वचन दुर्जन को सहनो।
तजके जन समुदाय, देश निर्जन में रहनो॥

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा, भणंत गोरख गावं॥
गोरख कहै सुनहु रे अवधू, जग में ऐसे रहना।
आखे देखिबा कानें सुणिबा, मुखथैं कछू न करना॥
नाथ कहै तुम आपा राखौ, हठ करि वाद न करना।
यहु जग है कांटे की वाडी, देखि दृष्टि पग धरना॥

मन में रहना भेद न कहना, बोलिबा अमृत वाणी।
आगिका अगिनी होइबा अवधू, आपण होइबा पाणी॥

भगवान् श्री रामचद्र जी श्री लक्ष्मण जी को उपदेश प्रसंग में कहते है.—गुरु के समीप रहने से और वेद वाक्यों से आत्मज्ञान का अनुभव होने पर अपने हृदयस्थ उपाधि रहित

बहुत से शास्त्रों की चर्चा से उपराम पाकर विवेकी को अन्तर्ज्योति की शोध करना चाहिये चारों वेद और सर्व शास्त्रों का अध्ययन करके भी जो ब्रह्मतत्त्व को जानते नहीं वे बहुविधि पकवानों में फिरने वाली करछी के समान हैं।

—(मुक्तिकोपनिषद्)

श्री रामचन्द्र जी हनूमान जी के प्रति उनके प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—वेद परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं—इन वेदों में उपनिषद् स्थित हैं ऋग्वेदादि चार वेद हैं ऋग्वेद की २१ शाखा हैं यजुर्वेद की १०१ शाखा हैं, सामवेद की सहस्र शाखा हैं और अथर्ववेद की ५० शाखा हैं। (किसी ग्रन्थ में शाखा भी कही है) एक एक शाखा की एक एक उपनिषद् है।

"माण्डूक्यमेक मेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये।
तथाप्य सिद्ध चेज्ज्ञानं दशोपनिषद पठ॥"

मुमुक्षुओं को मोक्ष के लिये माण्डूक्य उपनिषद् ही काफी है उसके अध्ययन करने पर भी जो ज्ञान सिद्ध न होतो (१०) दश उपनिषदों को पढ़ो दशोपनिषद् से भी ज्ञान की दृढ़ता न होय तो ३२ उपनिषदों का अभ्यास कर इतने पर भी अपूर्णता प्रतीत होती होतो १०८ उपनिषदों को पढ़ो।

—(मुक्तिकोपनिषद्)

श्री अष्टावक्र जी राजा जनक के प्रति कहते हैं:

"अहममसि या मम्पा माह ममसि मुक्तता"

—मैं ओर मेरा यही बन्धन है और मैं और मेरा नहीं यही मुक्त पना है।

रहनो सदा एकान्त को पुनि भजनो भगवत।
कथन श्रवण अद्वैत को, यही मतो है सत॥
यही तत्व को चिन्तन करनो।
प्रत्यक ब्रह्म अभिन्न, सदा उर अन्तर धरनो॥
कह गिरधर कविराय, वचन दुर्जन को सहनो।
तजके जन समुदाय, देश निर्जन मे रहनो॥

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पाव।
गरब न करिबा सहजै रहिबा, भणत गोरख रावं॥
गोरख कहै सुनहु रे अवधू, जग में ऐसे रहना।
आखें देखिबा कानें सुणिबा, मुखथैं कछू न करना॥
नाथ कहै तुम आपा राखौ, हठ करि वाद न करना।
यहु जग है कांटे की बाडी, देखि दृष्टि पग धरना॥

मन में रहना भेद न कहना, बोलिबा अमृत वाणी।
आगिका अगिनी होइबा अवधू, आपण होइबा पाणी॥

भगवान् श्री रामचद्र जी श्री लक्ष्मण जी को उपदेश प्रसंग में कहते हैं.—गुरु के समीप रहने से और वेद वाक्यों से आत्मज्ञान का अनुभव होने पर अपने हृदयस्थ उपाधि रहित

आत्मा का साक्षात्कार के आत्मरूप में होने वाले इत्यादि सम्पूर्ण जड़ पदार्थों का त्याग कर देना चाहिये ॥४२॥

—(आत्मचिंतन)

मैं प्रकाश रूप, अजन्मा अद्वितीय, निरंतर, भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध, विज्ञानघन, निरामय क्रिया रहित, और एक मात्र आनंदस्वरूप हूँ ॥४३॥

मैं सदा ही मुक्त अचिन्त्य शक्ति अतीन्द्रिय, अविकृत और अनंतपार हूँ। वेद-वादी पंडितजन अहर्निश मेरा हृदय मे चिन्तन करते हैं ॥४४॥

इस प्रकार सदा आत्मा का अखंड वृत्ति से चिंतन करने वाले पुरुष के अन्तःकरण में उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरंत ही कारकादि से रहित अविद्या का नाश कर देती है। जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई औषधि रोग का नष्ट कर डालती है ॥४५॥

[आत्म चिंतन करने वाले पुरुष को चाहिये कि] एकान्त देश में इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर और अन्तःकरण को अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मा में स्थित होकर और किसी साधन का आश्रय न लेकर एकचित्त हुआ केवल ज्ञान दृष्टि द्वारा पर आत्मा की ही भावना करे ॥४६॥

यह विश्व परमात्म स्वरूप है ऐसा समझ कर इस सबको कारण रूप आत्मा में लीन कर, इस प्रकार जो पुरुष चिदानंद

स्वरूप से स्थित होजाता है उसे वाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता ॥४७॥　　—(ओंकारोपासना)

समाधि प्राप्त होने के पूर्ण ऐसा चिन्तन करे कि सम्पूर्ण चराचर जगत केवल ॐकार मात्र है। यह ससार वाच्य है और ॐकार इसका वाचक है। अज्ञान के कारण ही संसार की प्रतीति होती है, ज्ञान होने पर इसको कुछ भी नहीं रहता ॥४८॥

(ॐकार में अ, उ और म ये तीन वर्ण हैं, इनमें से) अकार विश्व (जाग्रत के अभिमानी) का वाचक है, उकार तैजस (स्वप्न का अभिमानी) कहलाता है, और मकार (सुषुप्ति के अभिमानी) को कहते हैं, यह व्यवस्था समाधि लाभ के पहिले की है, तत्त्व दृष्टि से ऐसा कोई भेद नहीं है ॥४९॥

नाना प्रकार से स्थित अकार रूप विश्व पुरुष को उकार में लीन करे और ॐकार के द्वितीय वर्ण तैजस रूप उकार को उसके अन्तिम वर्ण मकार मे लीन करे ॥५०॥

फिर कारणात्मा प्राज्ञरूप मकार को भी चिद्घन रूप परमात्मा में लीन करे, (और ऐसी भावना करे कि) यह (वह) नित्य मुक्त विज्ञान स्वरूप उपाधि हीन निर्मल परब्रह्म मै ही हूँ ॥५१॥

इस प्रकार निरतर परमात्म भावना करते करते जो आत्मानद मे मग्न होगया है वह नित्य आत्मानद का अनुभव

करने वाला जीवन्मुक्त योगी निस्तरंग समुद्र के समान साक्षात् मुक्त स्वरूप हो जाता है ॥५२॥

इस प्रकार का निरंतर समाधि योग का अभ्यास करता है जिस के सम्पूर्ण इन्द्रिय गोचर विषय निवृत्त होगये हैं तथा जिसने काम क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओं का परास्त कर दिया है उस छहों इन्द्रियों (मन और पांच ज्ञानेन्द्रियों) को जीतने वाले महात्मा को मेरा निरंतर साक्षात्कार होता है ॥५३॥

इस प्रकार अहर्निश आत्मा काही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनों से मुक्त होकर रहे तथा (कर्ता भोक्तापन के) अभिमान को छोड़कर प्रारब्ध फल भोगता रहे। इससे वह अन्त में साक्षात् ब्रह्म में ही लीन होजाता है ॥५४॥

संसार को आदि अंत और मध्य म सब प्रकार भय और शोक का ही कारण जानकर समस्त वेद विहित कर्मों का त्याग दे तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मा रूप अपने आत्मा का भजन करे ॥५५॥

जिस प्रकार समुद्र म जल दूध मे दूध महाकाश म घटाकाशादि और वायु म वायु मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपंच को अपने आत्मा के साथ अभिन्न रूप से चिन्तन करने से जीव मुक्त परमात्मा के साथ अभिन्न भाव म स्थिर होजाता है ॥५६॥

यह जो जगत् है वह श्रुति युक्त और प्रमाण से वाधित होने के कारण चद्रभेद और दिशाओं में होने वाले दिग्भ्रम के समान मिथ्या ही है—ऐसी भावना करता हुआ लोक व्यवहार में स्थित मुनि, इसे देखे ॥५७॥

जब तक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलाई न दे, तब तक निरंतर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कृष्ट भक्त होता है उसे अपने हृदय में मेरा रात दिन साक्षात्कार होता है ॥५८॥

हे प्रिय ! सम्पूर्ण श्रुतियों के सार रूप इस गुप्त रहस्य को मैंने निश्चय करके तुम से कहा है। जो बुद्धिमान् इसका मनन करेगा वह तत्काल समस्त पापों से मुक्त हो जायगा ॥५९॥

भाई ! यह जो कुछ जगत् दिखाई देता है वह सब माया है। इसे अपने चित्त से निकाल कर मेरी भावना से शुद्ध चित्त और सुखी होकर आननंद पूर्ण और क्लेश शून्य हो जाओ ॥६०॥

जो पुरुष अपने चित्त से मुझ शुभातीत त्रिगुण का अथवा कभी कभी मेरे सगुण स्वरूप का भी सेवन करता है वह मेरा ही रूप है। वह अपनी चरण रज के स्पर्श से सूर्य के समान सम्पूर्ण त्रिलोकी को पवित्र कर देता है ॥६१॥

यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियों का एकमात्र सार है। इसे वेदान्तवेद्य भगवत्पाद मैंने ही कहा है। जो गुरु-भक्ति

सम्पन्न पुरुष इसका श्रद्धा पूर्वक पाठ करेगा उसको यदि मेरे वचनों में प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप होजायगा ॥६२॥

—(अध्यात्म-रामायण-रामगीता)

॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥

अष्टत्रिंशत्तमः सर्गः (निर्वाणप्रकरण)

ईश्वरोपाख्याने आत्मपूजा वर्णनम् ।

ईश्वरोवाच—हे मुनीश्वर ! जो एक देव परमात्मा है सो सत करि पूजने योग्य है, चिन्मात्र अनुभव आत्मा सत्य है। घट पट गाडी वृक्ष लोक आदिक सर्वविषे वह स्थित है। ब्रह्मा इन्द्रादिक वरुण अपर जीव सबके अन्दर बाहर वही स्थित है। सर्वात्मा शान्त रूप देवता का पूजन ध्यान है और ध्यान ही सो पूजन है त्रिभुवन का आधार भूत आत्मा है। जिसका ध्यान करि पूजा करो, जहां जहां मन जाय तहां तहां चिद्रूप आत्मा का करो। सबका प्रकाशक आत्मा ही है। सो चिद्रूप अनुभव करिके अस्त स्थित है। अहन्ता करिके भिन्न है सो सबका सार रूप है। और सबका आश्रय रूप है उसका जो विराट् रूप है सो सुन जिसको जान कर पूजन करो। आकाश कैसा है अनन्त है पारावार से रहित है परमाकाश है सो उसकी ग्रीवा है और अनन्त पाताल उसके चरण हैं। अनन्त दिशा जिसकी भुजा है सर्व प्रकाश उसके शस्त्र हैं। हृदय कोष गास विषे स्थित है। ब्रह्माण्ड समूहों का परंपरा

प्रकाशता है परमाकाश पार अपार रूप है। ब्रह्मा विष्णु रुद्रादि देवता जीव उसके रोमावली है त्रिलोकी विषे जो देहरूपी यन्त्र है इन विषे इच्छादिक शक्तिरूप सूत्र व्यापा है। जिस करि सब चेष्टा करते हैं सो देव एक ही है और अनत है और सत्ता मात्र स्वरूप है। सब जगज्जाल जिसका निवृत्त है और काल जिसका द्वारपाली है। पर्वतादिक ब्रह्माण्ड जगत् तिसके देह विषे किसी कोण में स्थित हैं तिस देव का चिन्तन करो, बहुरि कैसा देव है? सहस्त्र जिसके चरण हैं और सहस्त्र नेत्र सहस्त्र जिसके शीश हैं और सहस्त्र भुजा है और सहस्त्र भुजा विषे भूषण हैं। सर्वत्र जिसकी नासिका इन्द्रिय है। सर्वत्र जिसकी रसना इन्द्रिय है सर्वत्र श्रवण इन्द्रिय है। सर्व और जिसका मन है। और सर्व मन कला से अतीत है। सर्व ओर वही शिव रूप है। सर्वदा सर्वका कर्ता है। सर्व सकल्प के अर्थका फल दायक है। सर्व भूत के अन्तर स्थित है और सर्व साधन का सिद्धकर्ता है। ऐसा जो देव है सो सर्वविषे सर्व प्रकार सर्वदा सर्वकाल स्थित है उस देव की चिन्तवना करो। ऐसे देव के ध्यान विषे साव-धान रहो। सदा उनही का आकार रटना। यह उस देव का पूजन है। अब अन्तर का पूजन भी श्रवण करो। हे ब्रह्मवेत्ता! विषे श्रेष्ठ संवित् मात्र जो देव है सो सदा अनुभव करि प्रकाशता है। जिसका पूजन दीपक करि नहीं होता न धूप दीप करि नहीं होती न धूप करि होता है न पुष्प करि होता है न दान करि न लेप केसरकरि तिसका पूजन होता है। अर्घ्य पाद्यादिक जो पूजा की सामग्री है तिस करि देव का

सम्पन्न पुरुष इसका श्रद्धा पूर्वक पाठ करेगा उसको यदि मेरे वचनों में प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप होजायगा ॥६२॥

—(अध्यात्म-रामायण-रामगीता)

॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥

अष्टत्रिंशत्तमः सर्गः (निर्वाणप्रकरण)

ईश्वरोपाख्याने ध्यानपूजा वर्णनम् ।

ईश्वरोवाचः—हे मुनीश्वर ! जो एक देव परमात्मा है सो सत करि पूजने योग्य है, चिन्मात्र अनुभव आत्मा सब है। घट पट गावी कंध तांबर आदिक सर्वविषे वह स्थित है। ब्रह्मा इन्द्रादिक देवता अपर जीव सबके अन्दर बाहर वही स्थित है। सर्वात्मा शान्त रूप देवता का पूजन ध्यान है और ध्यान है सो पूजन है त्रिभुवन का आधार मूल आत्मा है। जिसको ध्यान करि पूजा करे, जहां जहां मन जाय, तहां तहां चिद्रूप आत्मा का करे। सबका प्रकाशक आत्मा ही है। सो चिद्रूप अनुभव करिके अपने स्थित है। अहन्ता करिके भिन्न है सो सबका सार रूप है। और सबका आश्रय रूप है उनका जो विराट् रूप है सो तुम जिसको ध्यान कर पूजन करो। वह कैसा है अनन्त है आकार ते रहित है परमाकाश है सो उसकी ग्रीवा है और अनन्त पाताल उसके चरण हैं। अनन्त दिशा जिसकी भुजा हैं सब प्रकाश उसके शस्त्र हैं। हृदय कोष काल विषे स्थित है। ब्रह्माण्ड समूहों का परस्पर

"तमेव एकं जानीय आत्मा न मन्या
वाचो विमुचय अमृतस्य एष सेतुः

—(मु० उपनिषद २।५।५)

अर्थ.—उसी को तू एक आत्मा करके जान। दूसरी बातों का तू त्याग कर यह आत्मा मोक्ष के मार्ग को ले जाने वाला सेतु-पुल है।

"तमेव धीरा विज्ञा प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः न अनुध्यायात् वहून् शब्दान् वाचो विगत्र पनहि तत्" ॥

—(वृ. उ ४ ४ २१.)

अर्थः—बुद्धिमान ब्राह्मण उसही परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर प्रज्ञा संपादन करता है। उसे वहुत शब्दों का अनुचिंतन नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वाणी को वहुत श्रम पड़ता है।

अधिकारी लक्षणः—

पाप छीन तपदान वल, हृदय शांत गत राग।
विषय वासना त्याग करि, भयो मुमुक्षु वड़ भाग ॥१॥

सो अधिकारी ज्ञान को, श्रवण ज्ञानमय ग्रंथ।
सो तव लगि जव लगि भनै, समझे पथ अपथ ॥२॥

तत्त्वमसि अह ब्रह्मास्मि, इत्यादिक महा वाक्य।
गुरु मुख श्रवण करै भले, सारासार ही ताक ॥३॥

पूजन नहीं होता। तिसका पूजन क्लेश बिना नितही होता है। हे मुनीश्वर ! एक अमृत रूपी जो बोध है तिस देव का सजातीय प्रतीत ध्यान करना सो तिसका परम पूजन है। हे मुनीश्वर ! शुद्ध चिन्मात्र जो देव है, अनुभव रूप है तिसको जो सर्वदा काल सर्व प्रकार पूजन करे। देखता है। स्पर्श करता है सूंघता है श्रवण करता है, बोलता है इससे जो करि जो कुछ किया करता है सो सब प्रत्यक्ष चेतन साक्षी विषे अर्पण करे। निसी परायण हो। इस प्रकार आत्म देव का पूजन करे। हे मुनीश्वर ! आत्मदेव का जो ध्यान करना यही धूप दीप है और सब सामग्री पूजन की यही है ध्यान ही देव को प्रसन्न करना है। जिस करि परमानंद प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर मूढ़ होवे अरु इस प्रकार ध्यान करि ईश्वर की पूजा करे तब जपोदश निमेष जगत् पूजन फल को पाता है। और शत निमेष के ध्यान करि प्रभु को पूजै तब मनुष्य अश्वमेध यज्ञ के फल को पावे और ध्यान के बल करि आत्मा का घड़ी पर्यन्त पूजन करे। तब यह पुरुष राजसूय यज्ञ के फल को पावे जा जो प्रहर पर्यन्त ध्यान करे तो अरु राजसूय यज्ञ के फल को पावे। जो दिन पर्यन्त ध्यान करे सो असंख्य फल को पावे। हे मुनीश्वर ! यह परम योग है और यही परम क्रिया है। यही परम प्रयोजन है। हे मुनीश्वर ! दोनों पूजा मैं तुझ को कही है। जिसको यह परम पूजा प्राप्त होती है सो परम पद को प्राप्त होता है। सर्व देवता तिसको नमस्कार करते हैं। सर्वकरि यह पुरुष भगवत् पूजने योग्य होता है।

॥ इति शिवम् ॥

उद्धार होगा ? क्या नारायण मेरे पर अनुग्रह करेंगे ? वे चाहते थे कि किसी ऐसे महात्मा के दर्शन हो जायँ जिन से यह आश्वासन मिले हां भगवान तुझ पर कृपा करेंगे ! उनका चित्त विकल था यह जानने के लिये कि कब मेरी बुद्धि स्थिर होगी, कब भगवान का रहस्य मैं जान लूंगा, कैसे यह शरीर छूटने के पूर्व नारायण से भेट होगी ? कब उनके चरणों पर लोटूंगा, कब उनके लिये गद् गद् होकर मैं अपना देह भाव भूलूंगा, कब वह मुझे अपनी चारों भुजाओं से गले लगावेंगे, कब ये नेत्र उनका स्वरूप देखकर शान्ति और तृप्ति लाभ करेंगे ? बस यही एक धुन थी। वह अपने ही मन से पूछते कि क्या मुझे ऐसे सत्पुरुष मिलेंगे जिन्हों ने भगवान के दर्शन किये हों। जिनके लिये प्रपच छोडा वही खाता इन्द्रायणी में डुबा दिया। धन को गो मांस समान समझने की शपथ की, घर द्वार तक छोड दिया, स्वजनों में कुख्याति प्राप्त की, एकान्तवास किया और वायु वेग से ग्रन्थाध्ययन तथा राम कृष्ण हरि का सतत भजन किया। वह विश्वव्यापक पाण्डुरङ्ग कहां कैसे मिलेंगे ? यह कौन बतलावेगा ? वह सत्पुरुष कब मिलेंगे जिन्होंने पाण्डुरङ्ग के दर्शन किये हों। इसी प्रतीक्षा मे तुकाराम जी के प्राण उथल पुथल कर रहे थे। भगवान् कल्प वृक्ष है, चिन्तामणि है चित्त जो जो चिंतन करे उसे पूरा करने वाले है यह अनुभव जो सभी भक्तों को प्राप्त होता है, इस समय तुकाराम जी को भी प्राप्त हुआ। उन्हें महात्मा के दर्शन हुवे और उन्होंने तुकाराम जी के मस्तक पर हाथ रक्खा। तुकाराम जी को जो मन्त्र प्रिय था

जग प्राणी विक्षेप चित तजो दूर तिन संग।
बैठि इकंत सर्वत्र है, करै मनन सर्वंग ॥४॥
नित प्रति करत विचार कै स्थिरता पावै चित्त।
बोध उदय छिन छिन करै, जान्यो नित्य अनित्य ॥५॥
शुद्ध स्वरूप प्रकाश में, कछु मवशता होइ।
साधन पाई मोहता निदिध्यासन कहि सोई ॥६॥
कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी, राजानौ जनक राघवौ।
वशिष्ठ कर्म कर्ता च पंचैते ज्ञानिनः समाः ॥१॥

अर्थः—श्री कृष्ण भोगी थे शुकदेव जी त्यागी थे, जनक तथा रामचन्द्र राजा थे, तथा वशिष्ठ जी कम कांडी थे (योगी) पाँचों—

भगवान आतमवान जे, लीलावत रूकर भोग।
वस्तु बुद्धि कछु ना गहै धीरज्ञवान अरोग ॥१॥
अज्ञानी आसक्त मति करै सुबन्धन होत।
ज्ञानी क आसक्ति नहि तजै न कछु गहि लेत ॥२॥

गुरु कृपा और कवित्व स्फूर्ति।

सपने म पाया गुरु उपदेश। नाम म विश्वास दृढ़ धरा। बड़ी उत्कंठा क साथ तुकाराम जी का अभ्यास चल रहा था। व सब स यही कहना चाहते थ कि जब भगवान मेरे पर कृपा करेंगे क्या भगवान मेरी लाज रक्खेंगे वह यह जानने क लिये अत्यन्त अधीर हो उठे थ कि क्या मेरा भी

उद्धार होगा ? क्या नारायण मेरे पर अनुग्रह करेंगे ? वे चाहते थे कि किसी ऐसे महात्मा के दर्शन हो जायँ जिन से यह आश्वासन मिले हा भगवान तुझ पर कृपा करेंगे ! उनका चित्त विकल था यह जानने के लिये कि कब मेरी बुद्धि स्थिर होगी, कब भगवान का रहस्य मैं जान लूंगा, कैसे यह शरीर छूटने के पूर्व नारायण से भेट होगी ? कब उनके चरणों पर लोटूंगा, कब उनके लिये गद् गद् होकर मैं अपना देह भाव भूलूंगा, कब वह मुझे अपनी चारों भुजाओं से गले लगावेंगे, कब ये नेत्र उनका स्वरूप देखकर शान्ति और तृप्ति लाभ करेंगे ? बस यही एक धुन थी। वह अपने ही मन से पूछते कि क्या मुझे ऐसे सत्पुरुष मिलेंगे जिन्हों ने भगवान के दर्शन किये हों। जिनके लिये प्रपच छोडा वही खाता इन्द्रायणी मे डुबा दिया। धन को गो मांस समान समझने की शपथ की, घर द्वार तक छोड दिया, स्वजनों में कुख्याति प्राप्त की, एकान्तवास किया और वायु वेग से ग्रन्थाध्ययन तथा राम कृष्ण हरि का सतत भजन किया। वह विश्वव्यापक पाण्डुरङ्ग कहां कैसे मिलेंगे ? यह कौन बतलावेगा ? वह सत्पुरुष कब मिलेंगे जिन्होंने पाण्डुरङ्ग के दर्शन किये हों। इसी प्रतीक्षा में तुकाराम जी के प्राण उथल पुथल कर रहे थे। भगवान् कल्प वृक्ष हैं, चिन्तामणि हैं चित्त जो जो चिंतन करे उसे पूरा करने वाले हैं यह अनुभव जो सभी भक्तों को प्राप्त होता है, इस समय तुकाराम जी को भी प्राप्त हुआ। उन्हें महात्मा के दर्शन हुवे और उन्होंने तुकाराम जी के मस्तक पर हाथ रक्खा। तुकाराम जी को जो मन्त्र प्रिय था

वही राम कृष्ण मंत्र उन्होंने इनको दिया और तुकाराम जी के वो परम प्रिय इष्ट थे पांडुरंग उन्हीं की निष्ठा पूर्वक उपासना करने को उन्होंने इनसे कहा। तुकाराम जी को यह विश्वास होगया कि मैं जिस मार्ग पर चल रहा था वह ठीक ही था। रामकृष्ण हरि का भजन पहिले ही से होरहा था, पर उसी मंत्र का अधिकारी महात्मा के मुख से प्राप्त हुआ। उपासना का रहस्य खुला, निश्चय दृढ़ हुआ चित्त समाहित होगया। न्यायालय से मामले का क्या फैसला होगा यह तो पक्षकारों को पहिले ही से मालूम रहता है वकील भी बतलाते रहते हैं पर जब तक जज का फैसला नहीं सुना जाता तब तक चित्त स्वस्थ नहीं होता। कुछ वैसी ही बात यह भी है। अधिकारी पुरुष के मुंह से जब मंत्र सुना जाता है अथवा धीर पुरुष से जब कोई आशीर्वाद मिलता है तब उससे जीव को शान्ति मिलती है। उसे अपना रास्ता सही होने का विश्वास होजाता है। ग्रंथ पढ़ कर भी जो बात समझ में नहीं आती वह एक क्षण में ध्यान में आजाती है। बुद्धि जहां पहुंच नहीं पाती उस पहुंच का साक्षात्कार होता है। स्वानुभव प्राप्त साक्षात्कार संपन्न महात्मा के एक क्षण समागम से सब काम बन जाता है। परमार्थी जन सिद्ध महा-पुरुष के दर्शन मात्र से परमार्थ धाम धाम में भर आता है। तुकाराम जी के पुण्य बल से उन्हें ऐसा अपूर्व शुभ संयोग प्राप्त हुआ।

सद्गुरु बिना कृतार्थता नहीं सद्गुरु के प्रसाद के बिना कोई भी अपना परमार्थ सिद्ध नहीं कर सकता है। जो लोग

यह समझते हैं कि हमने ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया है, परोक्ष ज्ञान हमें मिल चुका है, हमें अपनी बुद्धि से ही ज्ञान का रहस्य अवगत हो चुका है, अब हमें किसी को गुरु बनाने की क्या आवश्यकता है? हम जो कुछ जानते हैं उससे अधिक कोई गुरु भी क्या बतलावेंगे। जो लोग ऐसा समझते हैं वे अंत में अहंकार के जाल में ही फंसे हुवे दिखाई देते हैं गुरु कृपा के बिना रज तम धुल कर निर्मल नहीं होते ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान में पूर्ण और दृढ़तम निष्ठा भी नहीं होती। ज्ञान का साक्षात्कार होना तो दूर की बात है। ज्ञानेश्वर महाराज (अ १०-१७२ मे) कहते हैं कि समग्र वेद शास्त्र पढ़ डाले, योगादिकों का भी खूब अभ्यास किया पर इनकी सफलता तभी है जब श्री गुरु कृपा हो। कमाई तो अपने ही परिश्रम की होती है। तथापि उस पर जब तक श्री गुरु कृपा की मुहर नहीं लगती तक तक भगवान् के दरबार में उसका कोई मूल्य नहीं होता। अत्यंत सूक्ष्म और विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर भी दीपक से पैदा होने वाले काजल के समान ज्ञान से उत्पन्न होने वाला अहकार सद्गुरु के चरण गहे बिना निःशेष नष्ट नहीं होता। श्रीराम और श्रीकृष्ण को भी श्री गुरु का आश्रय लेना पडा तब औरों की तो बात ही क्या है। वेद शास्त्र पुराण और सत सब इस विषय में एक मत हैं। श्रुति की यह आज्ञा है कि 'श्रोत्रिय' अर्थात् श्रुति शास्त्र निपुण और 'ब्रह्मनिष्ठ' अर्थात् स्वानुभव प्राप्त करोगे 'शब्दे परे च निष्णान्त ब्रह्मपुण्य समाश्रयम्' ऐसे सद्गुरु की शरण लेने को भागवत् कार ने कहा है और गीता में भगवान्

यही राम कृष्ण मंत्र उन्होंने इनको दिया और तुकाराम जी के जो परम प्रिय इष्ट थे पांडुरंग उन्हीं की निष्ठा पूर्वक उपासना करने को उन्होंने इनसे कहा। तुकाराम जी को यह विश्वास होगया कि मैं जिस मार्ग पर चल रहा था वह ठीक ही था! रामकृष्ण हरि का भजन पहिले ही से होरहा था, पर उसी मंत्र का अधिकारी महात्मा के मुख से प्राप्त हुआ। उपासना का रहस्य खुला निश्चय दृढ़ हुआ चित्त समाहित होगया। न्यायालय से मामले का क्या फैसला होगा यह लोग पक्षकारों को पहिले ही से मालूम रहता है वकील भी बतलाते रहते हैं पर जब तक जज का फैसला नहीं सुना जाता तब तक चित्त स्वस्थ नहीं होता। कुछ वैसी ही बात यह भी है। अधिकारी पुरुष के मुंह से जब मंत्र सुना जाता है अथवा धीर पुरुष से जब कोई आशीर्वाद मिलता है तब उससे जीव को शान्ति मिलती है। उसे अपना रास्ता सही होने का विश्वास होजाता है। ग्रंथ पढ़ कर भी जो बात समझ में नहीं आती वह एक क्षण में ध्यान मे आजाती है। बुद्धि जहां पहुंच नहीं पाती उस वस्तु का साक्षात्कार होता है। स्वानुभव प्राप्त साक्षात्कार सम्पन्न महात्मा के एक क्षण समागम से सब काम बन जाता है। परमार्थी इस विध महा-पुरुष के दर्शन मात्र से परमार्थ नाम राम में रंग जाता है। तुकाराम जी के पुण्य बल से उन्हें ऐसा अपूर्व शुभ संयोग प्राप्त हुआ।

सद्गुरु बिना उपाय ता नहीं। सद्गुरु के प्रसाद के बिना कोई भी अपना परमार्थ सिद्ध नहीं कर सकता है। जो लोग

भगवान् यह कह कर अपना आनन्द व्यक्त करते हैं कि 'हे अर्जुन! तुम प्रश्न करके मुझे मेरा वह आनन्द दिला रहे हो जो अद्वैतानद के भी परे है'। (ज्ञानेश्वरी १५-४५०) अबाध शास्त्र परिपूर्ण स्वानुभव उत्तम प्रबोध शक्ति दैवी दयालुता और परमा शांति ये पाँचों गुण श्री गुरु में नित्य वास करते है। एकनाथी भागवत् (अ० ३) मे श्री गुरु के लक्षण बतलाते हैं कि वह दीनों पर तन मन और वाणी से बडे दयालु होते है। शिष्य के भव-बन्धन काट डालते हैं। अहकार की छावनी उठा देते हैं। वह शब्दज्ञान में पारंगत होते है। ब्रह्मज्ञान में सदा झूमते रहते हैं। निज भाव से शिष्य को प्रबोध कराने मे समर्थ होते है।

गुरु प्रसाद के बिना ही कोई संत पदवी को प्राप्त हुआ हो ऐसा एक भी पुरुष नहीं है। सभी संतों ने गुरु प्रसाद का महत्व और माधुर्य बखाना है। गुरु भक्ति के सहस्रों अवतरण दिये जा सकते है। पर विस्तार भय से सक्षेप मे ही कहना पडना है। गुरु स्तुति का साहित्य बहुत बडा है। वह अनुभव का साहित्य है और अत्यत हृदयङ्गम है। जिसे गुरु प्रसाद मिला हो, गुरु सेवा का परमानद जिसने भोग किया हो वही उसकी माधुरी जान सकता है। ज्ञानदेव और एकनाथ दोनों ने ही गुरु भक्ति की अपूर्व और अपार माधुरी पाई थी। इन्होंन सद्गुरु समागम और सद्गुरु सेवा का आनंद खूब लूटा। दोनों के ग्रन्थों मे सब मगलाचरण श्री गुरु स्तवन परक है और ये अत्यन मधुर है। श्रीमद्भगवत्गीता के

ने भी 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' कहा है। आचार्यवान् पुरुषो वेद आत्मवेत्ता महापुरुष के चरण ग्रहण का वेदों ने कहा है और श्रीमद् शंकराचार्य भी यही कहते हैं—

> षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या।
> कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति॥
> गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं।
> ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥

महद् भाग्य से सद्गुरु के दर्शन होते हैं। और जब ऐसे दर्शन हों तब अनन्य मन हो उनकी शरण में आना और 'यथा देव तथा गुरौ' अर्थात् भगवान के समान ही उनका भजन और पूजन करना सनातन रीति है। सद्गुरु सदा तृप्त ही रहते हैं इस से अधिकारी जीवों पर उन्हें करुणा आती है कहते हैं 'मेरा पेट तो भरा' पर अब ऐसी प्यास लगी है कि अन्य जीवों की प्यास पूरी करूं। नाव का भार आखिर जल पर ही रहता है। वह भार चाहे हलका हो या भारी इस से क्या ?

अपरम्पार भयानक समुद्र में चलने वाली गुरु रूप नौका के लिए तो चार पथिकों का भार ही क्या ? वा चार क्या लाख पर तो भार उतर जाय तो इसका उसपर बोझ ही क्या ? सच्चा यह है कि सद्गुरु को सत्शिष्य के मिलने का ही आनन्द है। इसमें अद्वैतानुभव का आनन्द द्वैत रूप में प्रगट सका है। गीता ज्ञानसभा में अर्जुन के प्रश्न करने पर

भगवान् यह कह कर अपना आनन्द व्यक्त करते हैं कि 'हे अर्जुन! तुम प्रश्न करके मुझे मेरा वह आनन्द दिला रहे हो जो अद्वैतानद के भी परे है'। (ज्ञानेश्वरी १५-४५०) अबाध शास्त्र परिपूर्ण स्वानुभव उत्तम प्रबोध शक्ति दैवी दयालुता और परमा शांति ये पाँचों गुण श्री गुरु में नित्य वास करते हैं। एकनाथी भागवत् (अ० ३) में श्री गुरु के लक्षण बतलाते हैं कि वह दीनों पर तन मन और वाणी से बडे दयालु होते हैं। शिष्य के भव-बन्धन काट डालते हैं। अहकार की छावनी उठा देते हैं। वह शब्दज्ञान में पारंगत होते हैं। ब्रह्मज्ञान में सदा झूमते रहते हैं। निज भाव से शिष्य को प्रबोध कराने में समर्थ होते हैं।

गुरु प्रसाद के बिना ही कोई संत पदवी को प्राप्त हुआ हो ऐसा एक भी पुरुष नहीं है। सभी संतों ने गुरु प्रसाद का महत्व और माधुर्य बखाना है। गुरु भक्ति के सहस्रों अवतरण दिये जा सकते हैं। पर विस्तार भय से सक्षेप में ही कहना पडता है। गुरु स्तुति का साहित्य बहुत बडा है। वह अनुभव का साहित्य है और अत्यत हृदयङ्गम है। जिसे गुरु प्रसाद मिला हो, गुरु सेवा का परमानद जिसने भोग किया हो वही उसकी माधुरी जान सकता है। ज्ञानदेव और एकनाथ दोनों ने ही गुरु भक्ति की अपूर्व और अपार माधुरी पाई थी। इन्होंने सद्गुरु समागम और सद्गुरु सेवा का आनद खूब लूटा। दोनों के ग्रन्थों में सब मंगलाचरण श्री गुरु स्तवन परक हैं और ये अत्यंत मधुर हैं। श्रीमद्भगवत्गीता के

१३ वें अध्याय के ७ वें श्लोक का 'आचार्योपासनम्' पद देखते ही श्री ज्ञानेश्वर महाराज की गुरु भक्ति धारा महाप्रवाह के रूप में जो उमड़ पड़ी है वह सौ ओवियों को पार करके भी उनके रोके नहीं रुका है। उनकी गुरु भक्ति का आनन्द जिनको लेना हो वे श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में 'उपासना और गुरु-भक्ति' अध्याय पूरा पढ़ जायें। इसी प्रकार एकनाथ महाराज की गुरु-भक्ति का जिन्हें दर्शन करना होवे एकनाथ चरित्र देखें। गुरु-भक्त के लिये गुरु और उपास्य एक होते हैं। ज्ञानेश्वर और एकनाथ ने भी गुरु मूर्ति में ही भगवान् के दर्शन किये। तुकाराम जी ने भगवान् को ही श्रीगुरु देखा। गुरु साक्षात् परब्रह्म हैं और परब्रह्म परमात्मा ही गुरु के सगुण रूप में साधक का कल्याण करते हैं। गुरु प्रसाद के बिना कोई साधक कभी कृतार्थ नहीं हुआ श्री गुरु बोलते चालते ब्रह्म हैं। उनकी चरण धूलि में नहाए बिना कोई भी कृत कृत्य नहीं हुआ।

—— :०: ——

स्वामी विवेकानन्द का अनुभव।

आधुनिक काल के सुविख्यात सत् पुरुष स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द जी भी गुरु के शरणागत हो कर ही कृतार्थ हुए। स्वामी विवेकानन्द अपने भक्तियोग विषयक ग्रन्थ में कहते हैं

गुरु की कृपा से मनुष्य की छिपी हुई अलौकिक शक्तियाँ विकसित होती हैं उसे चैतन्य प्राप्त होता है। और उसकी

आध्यात्मिक वृद्धि होती है, और अन्त मे वह नर से नारायण होता हैं। आत्म विकास का यह कार्य ग्रंथों के पढने से नहीं होता। जीवन भर हजारों ग्रंथों को उलटते पुलटते रहो उससे अधिक से अधिक तुम्हारा बौद्धिक-ज्ञान बढेगा पर अंत में यही जान पडेगा कि इससे अध्यात्म-बल कुछ भी नहीं बढ़ा बौद्धिक-ज्ञान बढ़ा तो उसके साथ अध्यात्म-बल भी बढना ही चाहिये यह कोई कहे तो वह सच नहीं है ग्रंथों के अध्ययन से इस प्रकार का भ्रम होता है पर सूक्ष्मता के साथ अवलोकन करने से यह जान पडेगा कि बुद्धि का तो खूब विकास हुआ तो भी अध्यात्म शक्ति जहां की तहां ही रह गई अध्यात्म शक्ति का विकास कराने में केवल ग्रन्थ असमर्थ है और यही कारण है कि अध्यात्म की बातें करने वाले लोग बहुत मिलते है पर कहनी के साथ रहनी का मेल हो ऐसा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है किसी जीव को अध्यात्मिक संस्कार करान के लिये ऐसे ही महात्मा की आवश्यकता होती है जो जीवकोटि से पार निकल गया हो यह ताकत ग्रथों में नहीं है आध्यात्मिक सस्कार जिसका होता है वह है शिष्य और संस्कार करने वाला है गुरू। भूमि तप कर जोतजात कर तैयार हो और बीज भी शुद्ध हो, ऐसे उभय संयोग से ही अध्यात्म का विकास होता है। अध्यात्म की तीव्र क्षुधा के लगते ही अर्थात् भूमि के तैयार होते ही उसमे ज्ञान-बीज बोया जाता है सृष्टि का यही नियम है। आत्म-प्रकाश ग्रहण करने की क्षमता सिद्ध होते ही प्रकाश पहुंचाने वाली शक्ति प्रकट होती है।

सद्‌ ज्ञानानन्द-स्वरूप सद्गुरु का समान ईश्वर-तुल्य मानता है शिष्य शुद्ध चित्त जिज्ञासु और परिश्रमी होना चाहिये। जब शिष्य अपने को ऐसा बना लेता है तब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, निष्पाप, दयालु और अकाम चतुर समर्थ सद्‌-गुरु उसे मिलते हैं।

सद्गुरु शिष्यों के नेत्रों में ज्ञानाञ्जन लगाकर उसे दृष्टी देते हैं ऐसे सद्गुरु बड़े भाग्य से जब मिलें तब अत्यन्त नम्रता निर्मल सद्भाव और दृढ़ विश्वास के साथ उनकी शरण ले अपना सम्पूर्ण हृदय उन्हें अर्पण करे उनके प्रति अपने चित्त में परम प्रेम धारण करे उन्हें प्रत्यक्ष परमेश्वर समझे इनसे भक्ति ज्ञान ले अपना समुद्र प्राप्त कर कृत कृत्य होंगे।

महात्मा सिद्धपुरुष ईश्वर के अवतार ही होते हैं केवल स्पर्श से एक कृपा कटाक्ष से एवम् संकल्प मात्र से भी शिष्य को कृतार्थ करते हैं पर्वतमाय पापों का नाश होने वाले पाप जीव को भी अपनी दया से क्षणार्ध में पुण्यात्मा बनाते हैं व गुरुओं के गुरु हैं। मनुष्यरूप में प्रकट राम धाम साक्षात् नारायण हैं मनुष्य इन्हीं के रूप में परमात्मा को देख सकता है। भगवान निर्गुण निराकार हैं पर हम लोग जब तक मनुष्य हैं तब तक हम उन्हें मनुष्य रूप में ही पूजना चाहिये तुम जो चाहो कहो चाहे जितना प्रयत्न करो पर तुम्हें मनुष्य रूपी सगुण परमेश्वर का ही भजन करना होगा निर्गुण निराकार का सानिध्य चाहे करो कितना ही अपार सगुण का तिरस्कार कर अवतारों की निन्दा करे सूर्य चन्द्र

तारा-गणों को दिखाकर बुद्धि-वाद से उन्हीं में देवत्व देखने को कहे पर उसमें यथार्थ आत्म-ज्ञान कितना है यह यदि तुम देखो तो वह केवल शून्य हैं हम लोग मनुष्य है परमात्मा हम से सगुण रूप में सद्गुरु रूप में ही मिलते है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं (स्वामी विवेकानन्द के समग्र ग्रंथ भाग ३ पृ. ५१६–५२१ मूल अंग्रेजी से)

स्वामी आगे और कहते हैं:—'भगवान से'मिलने की इच्छा करने वाले मुमुक्षू के नेत्र श्री सद्गुरु ही खोलते हैं गुरु और शिष्य का सम्बन्ध 'पूर्वज और वशज के सम्बन्ध जैसा ही है। श्रद्धा, नम्रता, शरणागति और आदर-भाव से शिष्य गुरू का मन मोह ले तोही उसकी अध्यात्मिक उन्नति हो सक्ती है। और विशेष रूप से ध्यान मे रखने की बात यह है कि जहाँ गुरु शिष्य का नाता अत्यन्त प्रेम से युक्त होता है वहीं प्रचण्ड अध्यात्म शक्ति के महात्मा उत्पन्न होते है स्वानुभूति ग्रन्थों से नहीं प्राप्त हो सक्ती। पृथ्वी पर्यटन कर चाहे आप सारी भूमि पादाक्रांत कर डालें हिमालय, काकेशश, आल्पस-पर्वत लांघ जाय समुद्र की गहराई में गोता लगा कर बैठ जांय, तिब्वत देश देखलें या गोवी का जगल छान डालें स्वानुभव का यथार्थ धर्म-रहस्य इन वातों से श्री गुरु के प्रसाद के विना त्रिकाल में भी नहीं ज्ञात होगा। इस लिये भगवान् की कृपा से जब ऐसा भाग्योदय हो कि श्री गुरु दर्शन दें तब सर्वान्तःकरण से श्री गुरु की शरण लो उन्हें ऐसा समझो जैसे यही परब्रह्म है, उनके वालक वनकर

अनन्य-भाव से उनकी सेवा करो इससे तुम धन्य होगे। ऐसे परम प्रेम और आदर के साथ जो भी गुरु के शरणागत हुए उन्हीं को और केवल उन्हीं को सच्चिदानन्द प्रभु ने प्रसन्न होकर अपनी परम भक्ती और अध्यात्म के अलौकिक चमत्कार दिखाये हैं। तत्सत्

दोहा:—जीव ईश दो वाच्य हैं ब्रह्म आत्मा लक्ष्य।
भाग त्याग से वाच्य तजि एकहि है दो लक्ष्य॥
दीपक अग्नि अल्प है, सूरज बड़ा विशेष।
दाहक रूप प्रकाशता, है दोनूं ही एक॥
व्यष्टि उपाधि जीव है, ईश समष्टि उपाधि।
सत् चित् आनन्द एक है अंश रहित निरुपाधि॥
सोऽहम् हंसो एक है, तुम मत जानो दोय।
ज्ञान विराग दीपकर तिहि गुरु मिल्यो न कोय॥
—(बालबोधनी)

(ख) श्लोक—वेदान्त सिद्धान्त निरुक्ति रेषा
ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।
अखण्डरूप स्थितिरेव मोक्षो
ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम्॥

भावार्थ:—वेदान्त का सिद्धान्त तो यही कहता है कि जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है और उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखण्ड रूप से स्थित रहना ही मोक्ष है। इसमें श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं।

श्लोकः—इति गुरु वचना च्छ्रुति प्रमाणा
त्परमवगम्य सतत्त्वमात्मयुक्त्या ।
प्रशमितकरणः समाहितात्मा
क्वचिदचलाकृतिरात्म निष्ठितोऽभूत् ॥

भावार्थः—इस प्रकार गुरु के श्रुति-प्रमाणयुक्त वचन और अपनी युक्तियों द्वारा परमात्मतत्व को जान कर चित्त और इन्द्रियों के शान्त हो जाने से शिष्य निश्चल वृत्ति से आत्म स्वरूप में स्थित हो गया ।

श्लोकः—कञ्चित् काल समाधाय, परे ब्रह्मणि मानसम् ।
उत्थाय परमानन्दादिद वचनमब्रवीत् ॥

भावार्थः—और कुछ देर तक परब्रह्म में चित्त के स्थिर रखने के पश्चात् उस परमानन्दमयी स्थिति से उठकर ऐसा कहने लगा.—

श्लोकः—बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्ति—र्ब्रह्मात्मनोरेकनयाधिगत्या
इद न जानेऽप्यनिदं न जाने किंवा कियद्वा सुख मस्त्यपारम् ॥

भावार्थः—ओह ! ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने पर मेरी बुद्धि तो एक दम नष्ट होगई, विषयों से मेरी सारी प्रवृत्ति दूर होगई, मैं इसको भी नहीं जानता और इस से भिन्न को भी नहीं जानता, तथा—यह भी नहीं जानता कि—यह अपार आनन्द कैसा और कितना है ।

अनन्य-भाव से उनकी सेवा करो इससे तुम धन्य होगे। ऐसे परम प्रेम और आदर के साथ जो भी गुरु के शरणागत हुए उन्हीं को और केवल उन्हीं को सच्चिदानन्द प्रभु ने प्रसन्न होकर अपनी परम भक्ति और अध्यात्म के अलौकिक चमत्कार दिखाये हैं। तस्मात्

दोहा:—जीव ईश दो वाच्य हैं, ब्रह्म आतमा लक्ष्य।
भाग त्याग से वाच्य तजि एकहि हैं दो लक्ष्य॥
दीपक अग्नि अल्प है, सूरज बड़ा विशेष।
दाहक उष्ण प्रकाशता, है दोनु में एक॥
व्यष्टि उपाधि जीव है, ईश समष्टि उपाधि।
सत् चित् आनन्द एक है अंश रहित निरुपाधि॥
सोहम् हंसो एक है, तुम मत जानो दोय।
जाने जिसने सोचकर तिहि गुरु मिथ्या न कोय॥
—(बालबोधनी)

(ख) श्लोक—वेदान्त सिद्धान्त निरुक्ति रेषा
ब्रह्मैव जीवः सकल जगच्च।
अखण्डरूप स्थितिरेव मोक्षो
ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम्॥

भावार्थः—वेदान्त का सिद्धान्त तो यही कहता है कि—जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है और बस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखण्ड रूप से स्थित रहना ही मोक्ष है। इसमें श्रुतियां ही प्रमाण हैं।

धन्योऽहं कृत कृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात्।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽह त्वदनुग्रहात् ॥

भावार्थः—उन श्री गुरुदेव की कृपा से मे नित्यानन्द-स्वरूप और परिपूर्ण होगया तथा, संसार-बन्धन से छूट कर धन्य और कृतकृत्य होगया।

नारायणोऽह नरकान्तकोऽहं, पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः।
अखंड बोधोऽहमशेष साक्षी, निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥

भावार्थः—मैं क्षीर समुद्र शायी नारायण हूँ, नरकासुर का विघातक हू, त्रिपुर दैत्य का नाश करने वाला हू, पुराण-पुरुष हू और ईश्वर हूं, मै सबका साक्षी हूँ, अखण्ड बोध स्वरूप हूं, स्वतन्त्र हूँ तथा -अहंता और ममता से रहित हूँ।

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ, बहुधा विश्ववीचयः।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते, माया मारुतविभ्रमात् ॥

भावार्थः—मुझ अखण्ड आनन्द समुद्र में विश्वरूपी नाना तरगें मायारूपिणी वायु के वेग से उठती और लीन होती रहती हैं।

सर्वाधार सर्ववस्तुप्रकाशं
सर्वाकारं सर्वगं सर्व-शून्यम्।
नित्य शुद्ध निश्चल निर्विकारं
ब्रह्माद्वैत यत्तदेवाहमस्मि ॥

श्लोक—किं हेयं किमुपादेयं किं सामान्यं विलक्षणम्।
अखण्डानन्दपीयूष-पूर्णे ब्रह्म-महार्णवे॥
न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम्।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः॥

भावार्थ—इस अखण्ड आनन्दामृत-पूर्णब्रह्म-समुद्र में कौन वस्तु त्याज्य है? कौन ग्राह्य है? कौन सामान्य है? और कौन विलक्षण है? अब मुझे यहाँ न कुछ दिखलाई देता है, न सुनाई देता है और न मैं कुछ जानता हूँ। मैं तो नित्यानन्द स्वरूप विलक्षण आत्मभाव में ही स्थित हूँ।

श्लोक—नमो नमस्ते गुरवे महात्मने
विमुक्तसंगाय सदुत्तमाय।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे
भूम्ने सदाऽपार दयाम्बुधाम्ने॥

यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजश्रमः।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात्॥

भावार्थ—जो संग रहित सत्स्वरूप, उत्तम और नित्य, तथा अद्वितीय आनन्द-रस-स्वरूप हैं। तथा-जिनके कृपा-कटाक्ष रूप चन्द्र की सुशीतल किरणों से संसार ताप-जन्य श्रम के दूर होने से मैंने क्षण मात्र में अखण्ड वैभव और आनन्दमय अक्षय आत्मपद को प्राप्त किया है उन भूमा और नित्य अपार दयासागर महात्मा गुरुदेव को बारंबार नमस्कार है।

धन्योऽहं कृत कृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽह त्वदनुग्रहात् ॥

भावार्थः—उन श्री गुरुदेव की कृपा से मै नित्यानन्द-स्वरूप और परिपूर्ण होगया तथा, ससार-बन्धन से छूट कर धन्य और कृतकृत्य होगया ।

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं, पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः ।
अखंड बोधोऽहमशेष साक्षी, निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥

भावार्थः—मै क्षीर समुद्र शायी नारायण हूँ, नरकासुर का विघातक हू, त्रिपुर दैत्य का नाश करने वाला हू, पुराण-पुरुष हू और ईश्वर हुं, मै सबका साक्षी हूँ, अखण्ड बोध स्वरूप हूं, स्वतन्त्र हूँ तथा-अहंता और ममता से रहित हूँ ।

मय्यखण्डसुखाम्भोदो, वहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते, माया मारुतविभ्रमात् ॥

भावार्थः—मुझ अखण्ड आनन्द समुद्र में विश्वरूपी नाना तरगें मायारूपिणी वायु के वेग से उठती और लीन होती रहती हैं ।

सर्वाधार सर्ववस्तुप्रकाशं
सर्वाकार सर्वगं सर्व-शून्यम् ।
नित्यं शुद्ध निश्चलं निर्विकारं
ब्रह्माद्वैत यत्तदेवाहमस्मि ॥

भावार्थः—जो सबका आधार, सब वस्तुओं का प्रकाशक, सर्वरूप सर्वव्यापी सबसे रहित, नित्यशुद्ध, निश्चल और विकल्प-रहित है वह अद्वैत ब्रह्म मैं ही हूं।

स्वाराज्य-साम्राज्य विभूतिरेषा
भवत्कृपा श्री महिमप्रसादात्।
प्राप्ता मया, श्रीगुरवे महात्मन्
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु॥

भावार्थः—हे गुरो! आपकी कृपा और महिमा के प्रसाद से मुझको यह स्वाराज्य-साम्राज्य की विभूति प्राप्त हुई है। हे महात्मन्! मैं आपको बारंबार नमस्कार करता हूँ।

नमस्तस्मै सदेकस्मै कस्मै चिन्महसे नमः।
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते॥

भावार्थः—हे गुरुराज! आपको नमस्कार है, जो आप कोई अति महान् सत्स्वरूप और एक होकर भी विश्वरूप से विराजमान हैं। —(वि० चू०)

* ॐ *

गुरु-गीता महात्म्य ।

जगत्-गुरु भगवान् भोलानाथ शंकर बोलेः—

हे पार्वति ! यह गुरुगीता आख्यान महान् पुण्य-कारक है, इस पुण्य-कारक आख्यान को जो कोई पठन और श्रवण करते हैं और ब्राह्मणों को लिख कर दान करते है, उनको सर्वदान का फल प्राप्त होता है, संसार रोग नष्ट होकर वे निर्मल होते हैं। यह केवल मंत्रराज है, इसके समान और दूसरा कोई नहीं है।

अन्नदान का अनन्त फल है, सर्वपापों का नाश करता है। राक्षसों का भुवन नाश करने और व्याघ्र चौरदिकों के नाश करने का अनन्त फल है, उससे भी इस गुरु-आख्यान के पाठ श्रवण, और दान का फल अधिक है। सद्गुरुदेव सब विघ्नों को दूर कर देते हैं, अष्टसिद्धियों को घर में लाते हैं, ऐसे वह 'सद्गुरुदेव' सर्वकाल में स्मरण करने योग्य हैं।

हे पार्वति ! यह गुरु-गीता शासनासन अथवा–कमलासन पर ध्यान रखके, निष्काम बुद्धि से पठन करे। यह गुरु-भक्ति-प्रकाशिका, चिन्तामणि रत्न सरीखी कामना सिद्ध करने वाली

भावार्थः—जो सबका आधार, सब वस्तुओं का प्रकाशक, सर्वरूप सर्वव्यापी सबसे रहित नित्यशुद्ध, निश्चल और विकल्प-रहित है वह अद्वैत ब्रह्म मैं ही हूँ।

स्वाराज्य-साम्राज्य विभूतिरेषा
भवत्कृपा-श्री-महिमप्रसादात्।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु॥

भावार्थः—हे गुरो! आपकी कृपा और महिमा के प्रसाद से मुझको यह स्वाराज्य-साम्राज्य की विभूति प्राप्त हुई है। हे महात्मन्! मैं आपको वारंवार नमस्कार करता हूँ।

नमस्तस्मै सदेकस्मै कस्मै चिन्महसे नमः।
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते॥

भावार्थः—हे गुरुराज! आपको नमस्कार है जो आप कोई अति महान् तेजस्वरूप और एक होकर भी विश्वरूप से विराजमान हैं। —(वि० चू०)

॥ ॐ ॥

गुरु-गीता महात्म्य।

जगत्-गुरु भगवान् भोलानाथ शंकर बोलेः—

हे पार्वति! यह गुरुगीता आख्यान महान् पुण्य-कारक है, इस पुण्य-कारक आख्यान को जो कोई पठन और श्रवण करते हैं और ब्राह्मणों को लिख कर दान करते हैं, उनको सर्वदान का फल प्राप्त होता है, संसार रोग नष्ट होकर वे निर्मल होते है। यह केवल मंत्रराज है, इसके समान और दूसरा कोई नही है।

अन्नदान का अनन्त फल है, सर्वपापों का नाश करता है। राक्षसों का भुवन नाश करने और व्याघ्र चौरादिकों के नाश करने का अनन्त फल है, उससे भी इस गुरु-आख्यान के पाठ श्रवण, और दान का फल अधिक है। सद्गुरुदेव सब विघ्नों को दूर कर देते हैं, अष्टसिद्धियों को घर में लाते हैं, ऐसे वह 'सद्गुरुदेव' सर्वकाल में स्मरण करने योग्य हैं।

हे पार्वति! यह गुरु-गीता शालनासन अथवा-कमलासन पर ध्यान रखके, निष्काम बुद्धि से पठन करे। यह गुरु-भक्ति-प्रकाशिका, चिन्तामणि रत्न सरीखी कामना सिद्ध करने वाली

है। यह गीता कामादि मोक्ष पर्यन्त चारों पदार्थों को देनेवाली है तथा सम्पूर्ण इष्टों को प्राप्त कराती है।

यह गुरु-गीता संसार मूल का नाश करने वाली-गंगा के समान पवित्र है। इसको जो पढ़ते हैं, उनको ज्ञान उत्पन्न करा देती है—इसमें संशय नहीं। ऐसा यह गुरु-गीता का माहात्म्य है। जो कोई इसका पाठ करते हैं अथवा—सुनते हैं, वे धन्य हैं और जो गुरु का भक्त है, वह भी धन्य है। गुरु ही माता है गुरु ही पिता है गुरुदेव ही स्वजन हैं गुरुदेव ही बन्धु है। गुरुदेव के सन्मुख होने से करोड़ों पूज्य देवता सन्मुख होते हैं। विद्या और धन से गर्वित होकर जो गुरु को मानते नहीं, वे कर्म-दरिद्री यमपुरी के वासी होते हैं। इस वास्ते गुरु ही "साक्षात् परब्रह्म है यही निश्चय सत्य है। बहुत कहने का काम नहीं।

—(गुरु-गीता श्लो १०५–१४८ का भावार्थ)



* ॐ *

अथ सप्तश्लोकी गुरु-गीता

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप अपने शिष्यों की बुद्धि में समाये हुए, अन्यथा ज्ञानरूपी अज्ञान (यानी भ्रम) को दूर करते हैं। इस 'संहाररूपी कार्य' करने के कारण 'रुद्र' हैं। और शिष्य की बुद्धि में यथार्थ ज्ञान की रक्षा करते हैं, इस कारण–'रक्षक' होने से 'विष्णु' है। और ज्ञान को नई नई विद्यायें देकर बढ़ाते हैं, इस 'नई सृष्टि के करने वाले' होने के कारण 'ब्रह्मा' हैं। और अन्त में शिष्य को 'निज रूप' बना लेते हैं, इस लिये 'परब्रह्म' है। ऐसे साक्षात् परब्रह्म गुरुदेव ! आपको प्रणाम है ॥१॥

अखण्ड मण्डलाकारं, व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन, तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥२॥

भावार्थः—हे परब्रह्म स्वरूप गुरुदेव ! आप अखण्ड-मण्डलाकार हैं ! और सब स्थावर जंगम में व्यापक है ! ऐसे आप सर्वव्यापी, तत्पद के लक्ष में लक्षित श्रीगुरुदेव को नमस्कार करता हूं ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप अपने आश्रितों के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिये ज्ञानाञ्जन रूपी शलाका प्रदान करते हैं जिस करके चक्षु निर्मल हो जाते हैं। ऐसे आप श्रीगुरु देव के प्रति मेरा नमस्कार है ॥३॥

ब्रह्मानन्दं* परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतम्
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥४॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप ब्रह्मानन्द नित्यानन्द स्वरूप हैं। परम सुख के दाता हैं ! केवल ज्ञान स्वरूप हैं ! द्वन्द्वों से अतीत, गगन के समान सर्व में व्याप्त और तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा लक्षित हैं ! एक हैं ! नित्य हैं ! विमल हैं ! अचल हैं ! सर्व में सुबुद्धिरूप हैं ! भूतमात्र के साक्षी हैं ! (अथवा—सब की बुद्धियों में साक्षी रूप से स्थिर रहने वाले हैं !) सर्व भावों से अतीत सत्, रज तम गुणों से रहित ऐसे हे गुरुदेव ! आपको नमस्कार है ॥४॥

---

*शुकरहस्य में- नित्यानन्दं परमसुखदं" इत्यादि पाठ है। 'हे गुरुदेव ! आप नित्यानन्द स्वरूप हैं परम सुख के दाता हैं ।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥५॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! ध्यान का मूल आपकी मूर्ति ही है, पूजन-अर्चन के मूल आपके चरण-कमल है, आपके वचनामृत ही मूल मंत्र हैं, और मोक्ष का मूल भी आपकी ही कृपा है ॥५॥

नित्यं शुद्धं निराभासं, निराकारं निरञ्जनम् ।
नित्यबोधं चिदानन्दं, तस्मै श्री गुरवे नमः ॥६॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप सर्वदा शुद्ध स्वरूप हैं, केवल प्रकाश स्वरूप हैं, निराकार हैं, माया मल से निर्लिप्त हैं, सदा ज्ञान स्वरूप हैं, चिदानन्द रूप हैं। ऐसे हे श्री गुरुदेव ! आपको नमन है-प्रणाम है ॥६॥

ॐ अवधूतसदानन्द, परब्रह्मस्वरूपिणे ।
विदेहदेहरूपाय, (श्री) नित्यानन्द नमोस्तुते ॥७॥

भावार्थः—हे प्रणवरूप श्री सद्गुरुदेव ! आप सदा सर्वदा आनन्दित रहने वाले, परम अवधूत (महायोगेश्वर) परब्रह्म-स्वरूप हैं ! आप विदेही होते हुए भी देह रूप में भगवान् नित्यानन्द हैं-आपको हम प्रणाम करते हैं ॥७॥

ॐ तत्सत्

—o—

अज्ञानतिमिरान्धस्य, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप अपने आश्रितों के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिये ज्ञानाञ्जन रूपी शलाका प्रदान करते हैं, जिस करके चक्षु निर्मल हो जाते हैं। ऐसे आप श्रीगुरु देव के प्रति मेरा नमस्कार है ॥३॥

ब्रह्मानन्दं* परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतम्
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥४॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप ब्रह्मानन्द नित्यानन्द स्वरूप हैं। परम सुख के दाता हैं ! केवल ज्ञान स्वरूप हैं ! द्वन्द्वों से अतीत गगन के समान सर्व में व्याप्त और तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा लक्षित हैं ! एक हैं ! नित्य हैं ! विमल हैं ! अचल हैं ! सर्व में बुद्धिरूप हैं ! भूतमात्र के साक्षी हैं। (अथवा-सर्व की बुद्धियों में साक्षी रूप से स्थित रहने वाले हैं !) सर्व भावों से अतीत सत्, रज, तम गुणों से रहित ऐसे हे गुरुदेव ! आपको नमस्कार है ॥४॥

---

*गुरुरहस्य में- नित्यानन्दं परमसुखदं" इत्यादि पाठ है। 'हे गुरुदेव ! आप नित्यानन्द स्वरूप हैं परम सुख के दाता हैं ।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥५॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! ध्यान का मूल आपकी मूर्ति ही है, पूजन-अर्चन के मूल आपके चरण-कमल हैं, आपके वचनामृत ही मूल मंत्र हैं, और मोक्ष का मूल भी आपकी ही कृपा है ॥५॥

नित्यं शुद्धं निराभासं, निराकारं निरञ्जनम् ।
नित्यबोधं चिदानन्दं, तस्मै श्री गुरवे नमः ॥६॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप सर्वदा शुद्ध स्वरूप हैं, केवल प्रकाश स्वरूप हैं, निराकार हैं, माया मल से निर्लिप्त हैं, सदा ज्ञान स्वरूप हैं, चिदानन्द रूप हैं। ऐसे हे श्री गुरुदेव ! आपको नमन है-प्रणाम है ॥६॥

ॐ अवधूतसदानन्द, परब्रह्मस्वरूपिणे ।
विदेहदेहरूपाय, (श्री) नित्यानन्द नमोस्तुते ॥७॥

भावार्थः—हे प्रणवरूप श्री सद्गुरुदेव ! आप सदा सर्वदा आनन्दित रहने वाले, परम अवधूत (महायोगेश्वर) परब्रह्म-स्वरूप हैं ! आप विदेही होते हुए भी देह रूप में भगवान् नित्यानन्द हैं-आपको हम प्रणाम करते हैं ॥७॥

ॐ तत्सत्

—— ० ——

॥ ॐ ॥

अष्टक क्या है?

स्वयं ब्रह्म का वर्णन करना बड़ा कठिन कार्य है वेद भी उसके वर्णन करने में "नेति नेति" कह कर रह जाते हैं। क्यों कि 'ब्रह्म' मन वाणी से अगोचर है और 'बोलना' वाणी का धर्म है। इसी लिये वेद कहता है कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" अर्थात्—जहाँ वाणी और मन उसे अप्राप्य समझ लौट आते हैं, ऐसा वह ब्रह्म है। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि—'यह जो भी वाणी का विषय नहीं है, तो भी उसके विषय में लिखा जाता है, तो यह क्यों? यह प्रश्न नया नहीं है उपनिषदों में भी आया है और भगवान् रामचन्द्र ने भी अपने गुरु वसिष्ठ जी से यही प्रश्न किया था। जिसके उत्तर में मुनि वसिष्ठ जी बोले—

'तस्मादद्वैतमस्तीह न चैक्यं न च शून्यता।
न चेतनाचेतनत्वं मौनमेव न तथता॥"

अर्थात्—उस ब्रह्म में न द्वैत है न ऐक्य है, न शून्यता है। परम तत्त्व न चेतन है, न जड़ चुप ही रहना पड़ता है। किन्तु चुप भी नहीं रहा जा सकता।

नैव चिन्त्यं न चाऽचिन्त्य, न चिन्त्याऽचिन्त्यमेवतत् ।
पक्षपातविनिर्मुक्तं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ —(श्रीधर)

अर्थात्ः—'वह चिन्त्य भी नहीं है–और अचिन्त्य भी नहीं है–और न चिन्त्य एव अचिन्त्य दोनों मिलकर ही है। ऐसी धारणा होने पर पक्षपात रहित परमब्रह्म की प्राप्ति होती है।' इस धारणा को दृढ़ करने के लिये प्रणवादि मंत्र, वेदादि के सूक्त तथा महा पुरुषों के अनुभवयुक्त उपदेश वाक्यों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति में ही 'वेदान्त-ग्रन्थ रत्न' तथा 'स्तोत्रादि' हैं। जगद्‌गुरु श्री शंकराचार्य महाराज ने भी इसी प्रकार का एक 'निर्वाण षट्क' निर्माण किया है। उसमे से कुछ श्लोक यहां उद्धृत किये जाते हैंः—

न मे द्वेष-रागौ न मे लोभ-मोहौ,
मदो नैव मे नैव मात्सर्य-भावः ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्ष-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥१॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं,
न मन्त्रो तीर्थं न वेदा न यज्ञा ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥२॥

न मृत्युर्न शङ्का न मे जातिभेदः,
पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥३॥

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो
विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
न वा बन्धनं नैव मुक्तिर्न भीति
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥४॥

—इस प्रकार की श्रीगुरु दत्तात्रेय महाराज कृत अवधूत गीता भी है। परन्तु यह सब संस्कृत में है।

प्रस्तुत 'अष्टक' भाषा में है। यह 'अष्टक' परम अवधूत महान् विरक्त श्रीमद्परमहंसपरिव्राजकाचार्य, पूज्यपाद-श्री १०८ श्री ज्ञानानन्दजी महाराज कृत है। जिन लोगों को श्रीयद रत्न ज्ञानसागर तथा-ज्ञानबाण गुटका पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा वे जानते हैं कि-अवधूत महाराज का ज्ञान कितना अगाध तथा-समझाने की शैली कितनी सुगम और सुन्दर है। उपर्युक्त अष्टक में अवधूत-गीता का सब सार अति सूक्ष्म किन्तु-सरलता से बुद्धि में आ सके इस प्रकार का आगया है। जिज्ञासुओं को यह बात समझने में सुगमता मिले इस हेतु से अष्टक के प्रत्येक पद पर अङ्क लगाकर नीचे अवधूत गीता के श्लोक सङ्केतरूप से दिये गये हैं। विचार पूर्वक-मनन की दृष्टि से पढ़ने वालों को यह योजना अवश्य लाभप्रद सिद्ध होगी।

—:०:—

॥ ॐ ॥

स्तोत्राष्टकम्

मनुष्यो[1] न देवो नहीं दैत्य [2]यक्ष,

पंडित न मूर्खो कवियो न दक्ष [3]।

जाता न आता खोया न [4]पाया,

शिवः केवलोहं निरमैल माया[5] ॥१॥

भावार्थ—मैं न मनुष्य हूं न देव, न दैत्य न यक्ष, न पण्डित हूं न मूर्ख, और न कवि हूं न दक्ष। न मैं कहीं जाता हूं न कहीं से आता हूं—मैं तो माया मल से रहित—केवल शिव स्वरूप हूं ॥१॥

आश्रम[6] न वर्णा न कुल जातिधर्मा[7],

नहीं नाम गोत्रं शर्मा न वर्मा[8]।

१—न षण्ढो न पुमान्नस्त्री अ. गी १-४६।

२—ब्रह्मादय. सुरगणाः कथमत्र सन्ति अव गी -२-२४

३—मूर्खोऽपि नाहं न च पण्डितोऽहं अव गी ४-२०

४—सयोगश्च वियोगश्च वर्तते न च ते न मे। अव.गी १-१५

५—वर्तते केवल. शिवः-अव गी १-६१। अहमेव शिवः परमार्थ इति०।

६—वर्णाश्रमो नैव कुलं न जाति.-१-३४।

७—ननु आश्रम-वर्ण-विहीन-पर ६-१४

८—उल्लेख मात्रमपि ते न च नाम रूप ३-३३

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥५॥

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो
विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
न वा बन्धनं नैव मुक्तिर्न भीति-
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥६॥

—इस प्रकार की श्रीगुरु दत्तात्रेय महाराज कृत अवधूत गीता भी है। परन्तु यह सब संस्कृत में है।

प्रस्तुत 'अष्टक' भाषा में है। यह 'अष्टक' परम अवधूत महान् विरक्त श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य पूज्यपाद-श्री १०८ श्री गुप्तानन्दजी महाराज कृत है। जिन लोगों को चौदह रत्न गुप्तसागर तथा-गुप्तज्ञान गुटका पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा वे जानते हैं कि-अवधूत महाराज का ज्ञान कितना अगाध तथा-समझाने की शैली कितनी सुगम और सुन्दर है। उपर्युक्त अष्टक में अवधूत-गीता का सब सार अति सूक्ष्म किन्तु-सरलता से बुद्धि में आ सके इस प्रकार का आगया है। जिज्ञासुओं को यह बात समझने में सुगमता मिले इस हेतु से अष्टक के प्रत्येक पद पर अङ्क लगाकर नीचे अवधूत गीता के श्लोक सङ्केतरूप से दिये गये हैं। विचार पूर्वक-मनन की दृष्टि से पढ़ने वालों को यह योजना अवश्य लाभप्रद सिद्ध होगी।

—:०:—

जीवो न सीवो न अज्ञान मूलं[१३],
सुखं न दुःखं नहि पाप शूलं[१४]।
कर्ता अकर्ता नहीं त्रिंब छाया[१५],
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥४॥

भावार्थः—न मैं जीव हूं न शिव हूं, न मैं मूल अज्ञान हूं, न सुख हूँ न दुःख, न पाप हूँ न शूल, न कर्ता हूँ न अकर्ता, न विम्ब हूँ न छाया—मैं तो माया मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ ॥४॥

मौनी न वक्ता वन्धों न मुक्ता[१६],
रागं विरागं नहीं लक्ष लखता[१७]।

१३—शिव न जानामि कथ वदामि १–२७

१४—सुख दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते १–७

१५—न कर्त्ता न च भोक्ताहं व्याप्य–व्यापक–वर्जित १–५७

१६—मौन विमौनं न च मे कदाचित् १५०

विशुद्ध निर्गुण ब्रह्म वन्धोमुक्तिः कथ मम १–५८

१७—रोगादि दोषरहितं त्वहमेव तत्त्व ३–६७

न मे रोगादि दोषो दुःख देहादिकं न मे १–६७

जाग्रत स्वप्न नहीं प्राण [९]काया,

शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥२॥

भावार्थ—मुझे न आश्रम है न वर्ण, न मेरा कुल है न जाति न नाम है न गोत्र, न मैं शर्मा हूँ न वर्मा, न मैं जाग्रत अवस्था हूँ न स्वप्नावस्था हूँ, न मैं प्राण हूँ न काया—मैं तो माया मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ ॥२॥

देशो न कालो वृद्धा न बाला[१०],

तुरिया वितुरिया नहिं काल जाला[११]।

जन्म्या न मूया माता न आया[१२],

शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥३॥

भावार्थ—न मैं देश हूँ न काल न वृद्ध हूँ न बाल न तुरिया हूँ न वितुरिया न काल हूँ न जाल—मैं तो माया मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ ॥३॥

९—ननु स्वप्नसुषुप्ति विहीन परम् ५-२४

१०—नवश्च कालो १-४८। दह काल त्रिकाल निराकारम्

११—ध्यानमय यदि च मेमि कथं तुरीयं ३।२०
अनुपतुप च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ५।१७

१२—जन्म मृत्युर्न मे चित्त १-१७।

जीवो न सीवो न अज्ञान मूलं[१३],
सुखं न दुःखं नहि पाप शूलं[१४] ।
कर्ता अकर्ता नहीं त्रिव छाया[१५],
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥४॥

भावार्थः—न मैं जीव हूं न शिव हूं, न मैं मूल अज्ञान हूं, न सुख हूं न दुःख, न पाप हूं न शूल, न कर्ता हूं न अकर्ता, न बिम्ब हूं न छाया—मैं तो माया मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूं ॥४॥

मौनी न वक्ता बन्धों न मुक्ता[१६],
रागं विरागं नहीं लक्ष लखता[१७] ।

१३—शिव न जानामि कथं वदामि १–२७
१४—सुख दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते १–७
१५—न कर्त्ता न च भोक्ताहं व्याप्य-व्यापक-वर्जित १–४
१६—मौनं विमौनं न च मे कदाचित् १५०
विशुद्धं निर्गुण ब्रह्म बन्धोमुक्तिः कथं मम १–५६
१७—रोगादि दोषरहितं त्वहमेव तत्त्व २–६७
न मे रोगादि दोषो दुःख देहादिकं न मे १–६७

सब भाष्य अभाष्य का महल ढाया[18],

शिवः केवलोऽहं निरपेक्ष मापा ॥५॥

भावार्थः—न मैं मौनी हूँ न वक्ता न बन्ध हूँ न मुक्त, न राग हूँ न विराग, अरूप हूँ न सरूपता हूँ सब भाष्य और अभाष्य के महल का गिरा दिया है—मैं तो माया मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ ॥५॥

सादी अनादी न च में समाधि[19],

स्वास्था न शास्त्र नहिं वाद[20] वादी।

नहीं पक्षपातं अन्मी न मापा[21],

शिवः केवलोऽहं निरपेक्ष मापा ॥६॥

भावार्थः—न मैं आदि सहित हूँ न आदि रहित और न मुझ में दोनों की समाधि है, न मैं पढ़ने वाला हूँ, न शास्त्र हूँ, न मैं वाद हूँ और न वादी, न पक्ष हूँ न विपक्ष न अन्य

१८—विदिता विदितं नहि सत्यमिति १-७

१९—आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन १-५७

२०—न चर्चा वा मम नैव वेदम् ५-११ तर्कं वितर्कं च कथं वदामि ५-२०

२१ न पक्षपाती न विपक्षपात १-६२

लेने वाला हूँ न जन्म देने वाला, मैं तो माया मल रहित केवल शिव स्वरूप हूँ ॥६॥

योगं वियोगं[22] न च मे समाधी[23],
माया अविद्या न च मे उपाधी[24] ।
शुद्ध स्वरूपं निरंजनं राया[25],
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥७॥

भावार्थः—न मुझ में योग है न वियोग और न समाधी ही, न मैं माया हूँ न अविद्या, न मुझ में कोई उपाधि ही है, मैं शुद्धस्वरूप निरजन-ब्रह्मरूप हूँ-मैं माया मल से रहित केवल शिव स्वरूप हूँ ॥७॥

गुसान भुक्ता लिपता न छिपता[26],

२२—ज्ञानं न तर्को न समाधियोग १-५८

२३—योगं वियोगं च कथं वदामि ४-१६

२४—माया विमाया न च मे कदाचित्-४-१८

२५—इति शुद्धनिरंजनसर्वसमं किमुगोदषि मानसि सर्व समम् ५-२

२६—निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं निराश्रयं निर्वपुषं निराशिषम् ।
निर्द्वन्द्व निर्मोहमलुप्तशक्तिकं तमीशमात्मा नमुपैति शाश्वतम् ॥

सब वाच्य अवाच्य का बाहल ढाया[१८],

शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥५॥

भावार्थ—न मैं मौनी हूँ न वक्ता न बन्ध हूँ न मुक्त, न राग हूँ न विराग, लक्ष्य हूँ न लखता हूँ, सब वाच्य और अवाच्य के बादल को मिटा दिया है—मैं तो माया मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ ॥५॥

सादी अनादी न च मैं समादि[१९],

स्वास्था न शास्त्र नहिं वाद[२०] वादी ।

नहीं पक्षपातं जन्मी न आया[२१],

शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥६॥

भावार्थ—न मैं आदि सहित हूँ न आदि रहित और न मुझ में दोनों की समाधि है, न मैं पढ़ने वाला हूँ, न शास्त्र हूँ न मैं वाद हूँ और न वादी, न पक्ष हूँ न विपक्ष न जन्म

१८—विदिता विवर्तं नहि सत्यमिति ४-७

१९—आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन १-५४

२०—न पेवके वा मम नैव पेयम् ५-११ तर्कं वितर्कंच कथं वदामि ४-२०

२१ न पक्षपातो न विपक्षपात १-६२

* ॐ *

सन्ध्या-आरती ।

"सन्ध्या-आरती" प्रक्रियात्मक लघु किन्तु-अत्यंत महत्त्व पूर्ण सूत्र ग्रन्थ है। इसे एक प्रकार से उपनिषदों और शास्त्रों का सार ही कहना चाहिये। विचारसागर जो कि-वेदान्त का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रत्न है, और जिसे साधारण से लेकर उच्च कोटि के सिद्ध महात्मागण तक बराबर मनन किया करते हैं, उसका सार भी इस आरती में है। जिस प्रकार विचार-सागर में तत्त्वदृष्टि, अदृष्टि और तर्क दृष्टि को 'तत्त्वमसि' 'अहंग्रह उपासना' तथा-शास्त्रैक्यता द्वारा-अधिकार भेद से गुरु ने उपदेश किया है, और उसके प्रथम अनुबन्ध, साधन चतुष्टय तथा-गुरुभक्ति की आवश्यकता और विधि बतलाई है, उसी प्रकार आरती में भी प्रक्रिया वर्णन की है।

प्रथम के दो दोहों में अनुबन्ध वर्णन कर, चौपाई नं० १ व २ में आत्मा का महत्त्व वर्णन किया है। पर साथ ही यह बतलाया है कि-यद्यपि इस शरीररूपी-मन्दिर में परमात्मरूप आत्मा रहता है। तो भी उसका पता-बिना सद्गुरु की कृपा के नहीं लग सकता है। इसलिये-सद्गुरु की शरण में जाकर उससे उपदेश ग्रहण कर, उसको मन में ठहराना चाहिये।

सोया न जागा तपता अतपता[27] ।
एको चिदात्म सब में समाया[28],
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥८॥

भावार्थः—न मैं गुप्त हूँ न प्रकट, न छिपायमान (छिप) हूँ न छिपा हुआ, न साफ हूँ न मैल न तपता हूँ न अतपता मैं वह आत्मा हूँ जो चैतन्य रूप से सब में समान रूप से समाया हुआ है—मैं माया मल से रहित केवल शिव स्वरूप हूँ ॥८॥

पढ़े प्रात काले कटे यमपाशे,
तजे आश तृष्णा संतोष पावे ।
अष्टस्तोत्र में मन लगाया,
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया[29] ॥९॥

भावार्थः—प्रातःकाल में इसका पाठ करने से काल-पाश कट जाती है—जो आशा-तृष्णा त्याग कर सन्तोष पालन करे—और इस अष्टस्तोत्र में मन लगावे तो—'माया मल से रहित केवल शिव स्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान पाकर शिव बन जावेगा ।

ॐ तत्सत्

२७—वेदागमज्ञा न सुराम यज्ञाः १ ।५। वदो न दीक्षा २-२१
२८—तत्त्वमेकमिदं सर्वं व्योमाकारं निरंजनम् १-५१
२९—रागद्वेषविनिर्मुक्ताः सर्वभूतहिते रताः ।
दृढबोधाश्च धीराश्च स गच्छेत्परमं पदम् २-२४

* ॐ *

सन्ध्या-आरती ।

"सन्ध्या-आरती" प्रक्रियात्मक लघु किन्तु-अत्यंत महत्त्व पूर्ण सूत्र ग्रन्थ है। इसे एक प्रकार से उपनिषदों और शास्त्रों का सार ही कहना चाहिये। विचारसागर जो कि-वेदान्त का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रत्न है, और जिसे साधारण से लेकर उच्च कोटि के सिद्ध महात्मागण तक बराबर मनन किया करते हैं, उसका सार भी इस आरती में है। जिस प्रकार विचार-सागर में तत्त्वदृष्टि, अदृष्टि और तर्क दृष्टि को 'तत्त्वमसि' 'अहंग्रह उपासना' तथा-शास्त्रैक्यता द्वारा-अधिकार भेद से गुरु ने उपदेश किया है, और उसके प्रथम अनुबन्ध, साधन चतुष्टय तथा-गुरुभक्ति की आवश्यकता और विधि बतलाई है, उसी प्रकार आरती में भी प्रक्रिया वर्णन की है।

प्रथम के दो दोहों में अनुबन्ध वर्णन कर, चौपाई नं० १ व २ में आत्मा का महत्त्व वर्णन किया है। पर साथ ही यह बतलाया है कि-यद्यपि इस शरीररूपी मन्दिर में परमात्मरूप आत्मा रहता है। तो भी उसका पता-बिना सद्गुरु की कृपा के नहीं लग सकता है। इसलिये-सद्गुरु की शरण में जाकर उससे उपदेश ग्रहण कर, उसको मन में ठहराना चाहिये।

लोका न वेदा तपता अतपता[२७] ।

एको चिदात्म सब में समाया[२८],

शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥८॥

भावार्थः—न 'मैं' गुप्त हूँ न प्रगट, न छिपायमान (छिपा) हूँ न छिपा हुआ, न लोक हूँ न वेद, न तपता हूँ न अतपता मैं वह आत्मा हूँ जो चैतन्य रूप से सब में समान रूप से समाया हुआ है—मैं माया मल से रहित केवल शिव स्वरूप हूँ ॥८॥

पढ़े प्रात काले कटे यमजाल,

तजै आशा तृष्णा संतोष पाले ।

अष्टस्तोत्र में मन लगाया,

शिवः केवलोऽहं निरमैल माया[२९] ॥९॥

भावार्थः—प्रातःकाल में इसका पाठ करने से काल-पाश कट जाते हैं—जो आशा-तृष्णा त्याग कर सन्तोष पालन करे—और इस अष्टस्तोत्र में मन लगावे तो—'माया मल से रहित केवल शिव स्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान पाकर शिव बन जावेगा ।

ॐ तत्सत्

२७—वेदानलोका न सुराम यज्ञाः १-१४ । वेदो न दीक्षा ८-११

२८—तत्त्वमेकमिदं सर्वं व्योमाकारं निरञ्जनम् १-४१

२९—रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः ।
दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत्परमं पदम् ८-२५

* ॐ *

सन्ध्या-आरती ।

"सन्ध्या-आरती" प्रक्रियात्मक लघु किन्तु-अत्यंत महत्त्व पूर्ण सूत्र ग्रन्थ है। इसे एक प्रकार से उपनिषदों और शास्त्रों का सार ही कहना चाहिये। विचारसागर जो कि-वेदान्त का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रत्न है, और जिसे साधारण से लेकर उच्च कोटि के सिद्ध महात्मागण तक बराबर मनन किया करते हैं, उसका सार भी इस आरती में है। जिस प्रकार विचार-सागर में तत्त्वदृष्टि, अदृष्टि और तर्क दृष्टि को 'तत्त्वमसि' 'अहंग्रह उपासना' तथा-शास्त्रैकयता द्वारा-अधिकार भेद से गुरु ने उपदेश किया है, और उसके प्रथम अनुबन्ध, साधन चतुष्टय तथा-गुरुभक्ति की आवश्यकता और विधि बतलाई है, उसी प्रकार आरती में भी प्रक्रिया वर्णन की है।

प्रथम के दो दोहों में अनुबन्ध वर्णन कर, चौपाई नं० १ व २ में आत्मा का महत्त्व वर्णन किया है। पर साथ ही यह बतलाया है कि-यद्यपि इस शरीररूपी मन्दिर में परमात्मरूप आत्मा रहता है। तो भी उसका पता-बिना सद्गुरु की कृपा के नहीं लग सकता है। इसलिये-सद्गुरु की शरण में जाकर उससे उपदेश ग्रहण कर, उसको मन में ठहराना चाहिये।

चौपाई नं० १ से लेकर ९ तक ब्रह्म तथा-माया के स्वरूप का वर्णन है। परन्तु यह स्वरूप बिना उत्तम अधिकार के एक-दम रहता नहीं-अत्यंत शुद्धान्तःकरणी पुरुष को ही यह होना सम्भव है-इसलिये इसके ठहराव का उपाय चौपाई नं० १० से १९ तक में ध्यान तथा उसकी विधि बतलाई है।

'सोहं' को 'अजपा गायत्री' तथा-तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का सूक्ष्म रूप शास्त्रों ने वर्णन किया है और उसकी विधि भी वर्णन की है हंसोपनिषद् ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् तथा अथर्वशीर्षोपनिषद् में इसकी विधि-विषद् रूप से वर्णित है। परन्तु यह विषय गुरुकृपा से ही गम्य हो सकता है, जैसा कि-स्वयं इस आरती में लिखा है कि:—

'बिन सद्गुरु नहीं पावे भेवा"।

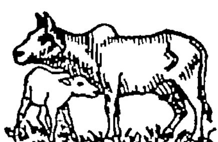
इसके पश्चात्-चौपाई नं० १९ से ५४ तक ब्रह्मानन्द के विविध प्रकार तथा-उसकी स्थिति वर्णन हुई है। चौपाई नं० ५५ से ९९ तक में अनेक दृष्टान्तों द्वारा आत्मा की निर्लेपता असंगता प्रकाशता भिन्नता तथा-जगत् की नश्वरता, असत्यता सिद्ध की है। इसके पश्चात् के छन्द में फिर उप-संहार रूप से सारी आरती का सारांश वर्णन किया है, और अन्त में जिस प्रकार भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देते हुए कहा है कि- 'अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि" (गी० अ० १८-५८) अर्थात्-हे अर्जुन! मेरे कहने पर अहङ्कार के वश हो यदि ध्यान न देगा-तो नाश को प्राप्त

होवेगा,उसी प्रकार इस आरती में भी अवधूत महाराज ने यही आज्ञा करी है कि:—

"यदि अमोलक रत्न (स्वस्वरूप की प्राप्ति) चाहते हो तो इस गुप्त-सागर मे बैठो, यह समय बीता जारहा है, यदि ध्यान नहीं दोगे तो अन्त मे रोओगे, पछताओगे !"

सबके अन्त मे हजार बात की एक बात कही है कि–"ज्ञान के सिवा मुक्ति नहीं। जिस प्रकार अन्धकार का नाश प्रकाश से ही हो सकता है, उसी प्रकार अज्ञान का नाश करने वाला एक मात्र ज्ञान ही है, और इसकी प्राप्ति का मार्ग 'अभ्यास' है। जिस प्रकार–कीड़ा भ्रमर के शब्दों को सुन, ध्यान में रखने से भ्रमररूप होजाता है, उसी प्रकार इसका भी ध्यान, विचार, अभ्यास करने से जीव, शिव होजावेगा"।

यद्यपि यह आरती भाषा में है, परन्तु–वेदान्त के सारे सिद्धान्तों का अति सूक्ष्मता से समावेश होजाने से सरल होते हुए भी गूढ़ है। इसके रहस्य का जानना गुरु-मुख द्वारा ही हो सकता है।



एक समय भगवान् शङ्कर सुरम्य कैलाश पर्वतके शिखर पर भगवती पार्वती के सहित विराजमान थे और दीक्षाविधि के क्रम से प्रणवादि महा मन्त्रों को देवी जी से प्रसन्नता पूर्वक वर्णन कर रहे थे उस समय भगवती पार्वती पति का प्रसन्न देख कर कहने लगी—'हे देव ! आपने मुझे प्रणव सहित मन्त्र का उपदेश दिया है इस कारण मै सर्व प्रथम प्रणव स्वरूप को जानना चाहती हूँ । हे शिव ! यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो इसका अवश्य वर्णन कीजिये ! उस प्रार्थना को सुन कर भगवान शङ्कर पार्वती के प्रति कहने लगेः—

'प्रणवार्थ का परिज्ञान ही मेरे स्वरूप का ज्ञान है । प्रणव रूप मन्त्र सब विद्याओं का बीज है अतः यह बीज के सदृश अति सूक्ष्म तथा महान् अर्थ वाला है । यह वेदों का आदि तथा सार है एवं मेरा रूप है । मेरा स्वरूप है तीन गुणों से अतीत सर्वज्ञ सर्वकर्ता सर्व प्रभु सर्वगत शिव स्वरूप में ही उस ओंकार में स्थित है । तीन गुणों में स्थूल प्राधान्य जाग से जगत में जो कुछ वस्तु है वह समष्टि व्यष्टि रूप से प्रणवार्थ ही है । यह प्रणव सर्व अर्थ का साधक है और ब्रह्म है । इस कारण इसी प्रणव से सर्व प्रथम शिवजी जगत् का निर्माण करते है । जो शिव है वही प्रणव है जो प्रणव है

वही शिव है, क्योंकि वाच्य और वाचक में कोई भेद नहीं होता इस लिये ब्रह्मर्षि लोग मुझे एकाक्षर ॐकार रूप ब्रह्म कहते हैं। मुमुक्षु को चाहिये कि वह प्रणव को ही सर्व कारण, निर्विकार, निर्गुण-शिव स्वरूप समझे।"
(महा विष्णुपुराण के सं. अ० ३-१०६)

भगवान् स्वामि कार्तिक ऋषि वामदेव से कहते हैं:—"हे वामदेव! आपके स्नेह से मैं आपके ज्ञान लिये इस श्रुति का वर्णन-तात्पर्य वर्णन करता हूँ आप सुनें। शिव शक्ति का योग ही परमात्मा है (और वह परमात्मा ही आकाशादि के रूप में परिणत होता है। जैसे ऊपादान कारण मृतिका अपने से अभिन्न घटरूप ग्रहण करती है, जैसे दुग्ध दही के आकार में बदल जाता है अथवा जैसे रज्जु रूप उपादान अज्ञान के कारण सर्पादि आकार में परिणत हो जाता है, ऐसे ही ॐ कार स्वरूप परब्रह्म पञ्चाकार में परिणत होता है) परमात्मा की पराशक्ति से चिच्छक्ति उत्पन्न होती है और चेतन्य शक्ति से आनन्द शक्ति, उस से इच्छा शक्ति से ज्ञान शक्ति और ज्ञान शक्ति से पञ्चमी क्रियाशक्ति उत्पन्न हुई है और इन ही शक्तियों से क्रमसः जगत् की उत्पति हुई है। चिदानन्द शक्ति से नाद और विन्दु उत्पन्न हुई है इच्छा शक्ति से मकार, ज्ञान शक्ति से ॐकार, और क्रिया शक्ति से अकार-स्वर उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार प्रणव की सृष्टि हुई है और इस प्रणव से पञ्चब्रह्म की तत्पश्चात् कलादि क्रम से आकाशादि की उत्पति हुई है।" (के. स. अ० १६-५३-५७)

एक समय भगवान् शङ्कर सुरम्य कैलाश पर्वतके शिखर पर भगवती पार्वती के सहित विराजमान थे और दीक्षाविधि के क्रम से प्रणवादि महा मन्त्रों को देवी जी से प्रसन्नता पूर्वक वर्णन कर रहे थे उस समय भगवती पार्वती पति को प्रसन्न देख कर कहने लगी–हे देव ! आपने मुझे प्रणव सहित मन्त्र का उपदेश दिया है इस कारण मैं सर्व प्रथम प्रणव स्वरूप को जानना चाहती हूँ। हे शिव ! यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो इसका अवश्य वर्णन कीजिये ! उस प्रार्थना को सुन कर भगवान शङ्कर पार्वती के प्रति कहने लगे:—

'प्रणवार्थ का परिज्ञान ही मेरे स्वरूप का ज्ञान है। प्रणव रूप मन्त्र सब विद्याओं का बीज है, अतः यह बीज के सदृश अति सूक्ष्म तथा महान् अर्थ वाला है। यह वेदों का आदि तथा सार है एवं मेरा रूप है। मेरा स्वरूप है तीन गुणों से अतीत सर्वज्ञ, सर्वकर्ता सर्व प्रभु, सर्वगत शिव स्वरूप मैं ही इस ॐकार में स्थित हूँ। तीन गुणों में न्यून सामान्य भाग से जगत में जो कुछ वस्तु है वह समष्टि व्यष्टि रूप से प्रणवार्थ ही है। यह प्रणव सब अर्थ का साधक है और अक्षर ब्रह्म है। इस कारण इसी प्रणव से सर्व प्रथम शिवजी जगत् का निर्माण करते हैं। जो शिव हैं वही प्रणव है जो प्रणव है

अर्थात्:—(प्र) प्रकृति से उत्पन्न हुए संसार-सागर के लिये (नवम्) यह प्रणव नौका रूप है, इस कारण पण्डित लोग इसे प्रणव कहते हैं। अथवाः—

प्रः प्रपञ्चो हि नास्ति के युष्माकं प्रणव विदुः।
प्रकर्षेण नये यस्मा न्मोक्षं वः प्रणव विदु॰॥५॥

(प्र) प्रपञ्च (न) नहीं है (व) तुममे अर्थात् जिसको जपने से ससार नहीं रहता उसका नाम प्रणव है।

अथवा.—

स्वजापकानां योगीनां स्वमंत्र पूजकस्यच
सर्वकर्मक्षयकृत्वा दिव्यज्ञानतु नूतनम् ॥६॥

अर्थात्:—अपना पूजन करने को उसके सर्व कर्म क्षय कर दिव्य ज्ञान देने से यह प्रणव कहलाता है।

अथवाः—

तमेच माया रहितं नूतनं परिचक्ष ते।
प्रकर्षेण महात्मान नवं शुद्ध स्व स्वरूपकम् ॥७॥
नूतन वे करोतिति प्रणवं तं विदुर्बुधा।

अर्थात्:—माया रहित होने से प्रणव को 'नूतन' कहते हैं यह महात्माओं को अत्यन्त नवीन शुद्ध रूप प्रदान करता है नूतन करने वाला होने के कारण पण्डित लोग इसे प्रणव कहते हैं।

स्वामि कार्तिक से जिस प्रकार परमात्मा की पञ्चशक्ति से प्रणव व आकाशादि पञ्च वर्णों की स्वयं पञ्च मुख से प्रणव की उत्पत्ति बतायी है। भगवान् शङ्कर ब्रह्मा-विष्णु से कहते हैं—

ॐकार मेरे मुख से उत्पन्न होने के कारण मेरे ही स्वरूप का बोधक है, यह वाच्य है और मैं वाचक हूं यह मंत्र मेरा आत्मा है इसका स्मरण करने से मेरा ही स्मरण होता है, मेरे उत्तर की ओर के मुख से अकार पश्चिम के मुख से उकार दक्षिण के मुख से मकार, पूर्व के मुख से बिन्दु और मध्य के मुख से नाद उत्पन्न हुआ है इस प्रकार पांचों मुखों से निर्गत हुए इन सब से 'ॐ' यह एकाक्षर बना है। सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत्, स्त्री-पुरुषादि भूत समुदाय एवं चारों वेद सभी इसी मंत्र में व्याप्त हैं और यह शिव शक्ति का बोधरूप है।' शि संहिता ७।१६।२०

इसी प्रसंग में भगवान् शङ्कर ने प्रणव मन्त्रों से 'नमः शिवाय' मंत्र की भी उत्पत्ति बताई है। यथा—

श्लोक—अस्मात् पञ्चाक्षरं जज्ञे बोधकं सकलस्य तत्-अकारादि क्रमेणैव नकारादि यथा क्रमम्

इसका नाम प्रणव क्यों है ?

प्रो ही प्रकृति जातस्य संसारस्य महोदधेः ।
नवं नावान्तर मिती प्रणवं वै विदुर्बुधा ॥१०

इस प्रणव मंत्र को 'तारक' मंत्र कहा जाता है क्योंकि इस मंत्र द्वारा प्राणी मात्र भवसमुद्र से तर जाते है। भगवान् शङ्कर कहते हैः—

एम् मेवेही देवेशि सर्व मंत्र शिरोमणिम्।
काश्यामहं प्रदास्यामि जीवानां मुक्ति हेतवे॥

अर्थात्ः—'हे देवी सर्व मत्रों के शिरोमणि इस ॐकार को ही में काशी में प्राण त्याग करने वाले जीवों को मुक्ति हेतु देता हूं'। स्वामी कार्तिकेय भी वामदेव के प्रति कहते हैंः—

एनमेव महामंत्र जीवानाञ्च तनुत्यजाम्।
काश्यां संश्राव्या मरणे दत्ते मुक्ति पराम शिव॥

अर्थात्ः—शिवजी काशी में शरीर त्याग करने वाले को मरते समय इसी महामंत्र का उपदेश देकर मुक्त करते हैं।

प्रणव का विषय।

भगवान शिवजी पार्वती के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैंः—

विषयः स्यामहं देवि जीव ब्रह्मैक्य भावनात्।

अर्थात्ः—जीव ब्रह्म की एक भावना से मैं (शिव) ही इस का विषय हूँ।

स्वामी कार्तिकेय वामदेव से के. स अ १२ के श्लोक ५–६

स्वयं शिवजी कहते हैं:—

ब्रह्मादि स्थावरान्तानां सर्वेषां प्राणिनां खलु ।
प्राण प्रणव एवाय तस्मात् प्रणव ईरितः ॥
—(के. स. म. १ । १४)

अर्थात्:—ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का यह 'प्रणव' ही प्राण है इससे इसको 'प्रणव' कहते हैं।

हंस मन्त्र में प्रणव की प्राप्ति ।

प्राणी मात्र श्वास प्रश्वास में हंस मंत्र का उच्चारण करते हैं। इस मंत्र में भी सदा प्रणव का ही जप होता है इस बात को भगवान् कार्तिकेय स्वामी वामदेव के प्रति कहते हैं—

प्रति लोमात्मके हंसे वक्ष्यामि प्रणवोद्भवम् ।
तव स्नेहात् वामदेव ! सावधानं तया शृणु ॥
व्यञ्जनस्य सकारस्य हकारस्य च वर्जनात् ।
ओमित्येव भवेत् स्थूलो वाचकः परमात्मनः ॥

अर्थात्:—हे वामदेव ! हंस मंत्र के प्रति लोम (विपरीत) सोऽहं मंत्र से प्रणव की प्राप्ति के विषय में मैं तुम से कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। व्यञ्जन (हंस) 'स' कार और 'ह' कार के वर्जन से 'ॐ' इस प्रकार परमात्मा का वाचक स्थूल प्रकट होता है।

इस प्रणव मंत्र को 'तारक' मंत्र कहा जाता है क्योंकि इस मंत्र द्वारा प्राणी मात्र भवसमुद्र से तर जाते हैं। भगवान् शङ्कर कहते हैं:—

एम् मेवेही देवेशि सर्व मंत्र शिरोमणिम्।
काश्यामहं प्रदास्यामि जीवानां मुक्ति हेतवे॥

अर्थात्:—'हे देवी सर्व मन्त्रों के शिरोमणि इस ॐकार को ही में काशी में प्राण त्याग करने वाले जीवों को मुक्ति हेतु देता हूं'। स्वामी कार्तिकेय भी वामदेव के प्रति कहते हैं:—

एनमेव महामंत्रं जीवानाञ्च तनुत्यजाम्।
काश्यां संश्राव्या मरणे दत्ते मुक्ति पराम शिव॥

अर्थात्:—शिवजी काशी में शरीर त्याग करने वाले को मरते समय इसी महामंत्र का उपदेश देकर मुक्त करते हैं।

प्रणव का विषय।

भगवान शिवजी पार्वती के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं:—

विषयः स्यामहं देवि जीव ब्रह्मैक्य भावनात्।

अर्थात्:—जीव ब्रह्म की एक भावना से मैं (शिव) ही इस का विषय हूँ।

स्वामी कार्तिकेय वामदेव से के स अ. १२ के श्लोक ५–६

स्वयं शिवजी कहते हैं:—

> ब्रह्मादि स्थावरान्तानां सर्वेषां प्राणिनां खलु।
> प्राण प्रणव एवाय तस्मात् प्रणव ईरित॥
> —(दे. स. अ. १।१४)

अर्थात्:—ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का यह 'प्रणव' ही प्राण है इससे इसको 'प्रणव' कहते हैं।

हंस मंत्र में प्रणव की प्राप्ति।

प्राणी मात्र श्वास प्रश्वास में हंस मंत्र का उच्चारण करते हैं। इस मंत्र में भी सदा प्रणव का ही जप होता है इस बात को भगवान् कार्तिकेय स्वामी वामदेव के प्रति कहते हैं—

> प्रति लोमात्मके हंसे वक्ष्यामि प्रणवोद्भवम्।
> तव स्नेहान् वामदेव! सावधान तथा शृणु॥
> व्यञ्जनस्य सकारस्य हकारस्य च वर्जनात्।
> ओमित्येव भवेत् स्थूलो वाचकः परमात्मनः॥

अर्थात्:—हे वामदेव! हंस मंत्र के प्रति लोम (विपरीत) सोऽहं मंत्र से प्रणव की प्राप्ति के विषय में मैं तुम से कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। व्यञ्जन (हस) 'स' कार और 'ह' कार के वर्जन से 'ॐ' इस प्रकार परमात्मा का वाचक स्थूल अक्षर होता है।

उपासना विधि ।

उपासक स्वच्छ शोक रहित, उज्वल, अष्टदल कमल के समान मकरन्द युक्त, कर्णिका से शोभायमान, हृदय कमल के मध्य में आधारशक्ति से आरम्भ करके भी तत्त्वमय उत्तम पद का ध्यान करके दहर व्योम की भावना करे। 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण कर तुम्हारे साथ मेरा दहराकाश के बीच मे सदा उत्कण्ठा से चिन्तन करे।

फल ।

एव विधोयाकस्य मल्लोकगति मेवचः।
मतो विज्ञान समाद्या मत्सायुज्य फल प्रिये ॥

(व) मंत्र योग का लक्षण श्री योगबीज मे श्री ईश्वर ने नीचे लिखे अनुसार बताया है:—

"हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा॥
गुरुवाक्या सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जय।
सोऽहं सोऽह मिति प्राप्तो मत्र योग स उच्यते॥"

अर्थात्:—शरीर में वायु हकार से वाहर आता है और सकार से पुनः शरीर में प्रवेश करता है ऐसी क्रिया द्वारा 'हंस' 'हंस' इस रीति का मंत्र यह जीव सर्वदा जपता है श्री गुरु वाक्य से सुषुम्णा में 'हस' 'हंस' से उलटा 'सोहं' 'सोह'

में कहते हैं-मैं दक्षिण भुजा उठा कर शपथ पूर्वक कहता हूँ कि यह सत्य है, सत्य है, सत्य है, प्रणव प्रधान तथा साक्षात शिवजी का ही वाचक होगया है। यही बात श्रुति-स्मृति, शास्त्र पुराण, और आगमों में भी बतलाई गई है।

इसके अधिकारी।

अधिकारी भवत्यस्य वैराग्यं जायते दृढम्।

अर्थात्—जिसे दृढ़ वैराग्य हो वही इसका अधिकारी है।

शमादि धर्मे निरतो वेदान्त ज्ञान पारगः।
अत्राधिकारी स मोक्षो यतिर्विगतमत्सर ॥

अर्थात्—शम-दमादि धर्म में निरत, वेदान्त ज्ञान के पारगामी मत्सर्य रहित यज्ञ शील उपासक ही इसके अधिकारी है। प्रणव मेरी (शिव) और जीव आत्मा की एकता का वाचक है-अतः इस एकता का प्रणव के साथ वाच्य वाचक भाव है।

प्रणव का स्थान।

आधार, मणिपूर, हृदय विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र, शक्ति और शान्ति ये क्रम-क्रम से प्रणव के स्थान हैं। हे देवि! शान्त स जो अतीत है उसको परात्मक कहते हैं।

—(के० सं १-१४-१५)

उपासना विधि ।

उपासक स्वच्छ शोक रहित, उज्वल, अष्टदल कमल के समान मकरन्द युक्त, कर्णिका से शोभायमान, हृदय कमल के मध्य में आधारशक्ति से आरम्भ करके भी तत्त्वमय उत्तम पद का ध्यान करके दहर व्योम की भावना करे। 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण कर तुम्हारे साथ मेरा दहराकाश के बीच में सदा उत्कण्ठा से चिन्तन करे।

फल ।

एवं विधोयाकस्य मल्लोकगति मेवचः ।
मतो विज्ञान समाद्या मत्सायुज्य फल प्रिये ॥

(ब) मंत्र योग का लक्षण श्री योगबीज मे श्री ईश्वर ने नीचे लिखे अनुसार बताया है:—

"हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा ॥
गुरुवाक्या सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जय ।
सोऽहं सोऽहं मिति प्राप्तो मन्त्र योग स उच्यते ॥"

अर्थात्:—शरीर में वायु हकार से वाहर आता है और सकार से पुनः शरीर में प्रवेश करता है. ऐसी क्रिया द्वारा 'हंस' 'हंस' इस रीति का मंत्र यह जीव सर्वदा जपता है श्री गुरु वाक्य से सुषुम्णा में 'हस' 'हंस' से उलटा 'सोहं' 'सोह'

इस रीति को प्राप्त हुआ जो जप होता है उसे मंत्र योग कहते हैं।

मनुष्यादि जीव आरोग्य स्थिति में एक अहोरात्र में २१६०० हंस मंत्र का स्वाभाविक उच्चार करता है—

"एक विंशति सहस्रं षट्शताधिकमीश्वरी।
प्रत्यहं जपते प्राणी हंस इत्यक्षर द्वयम्॥

इस सोऽहं मंत्र का शरीरस्थ चक्रों में कहां कितने जप किस भावना को लेकर करना इसके सम्बन्ध में गरुड़ पुराण में लिखा है—

आधारन्तु चतुर्दलं नगसमं वासांत वर्णाश्रयं।
स्वाधिष्ठानपि प्रभाकर समं बालांत षट् पत्रकम्॥
रक्ताभं मणि पूरकं दशदल डाद्य फकारान्तकम्।
पत्रैर्द्वादशभीस्त्व नाहत पुरं हैमं कठान्ताऋतम्॥
पत्र सस्वर षोडशैः शशिधर ज्योतिर्विशुद्धांबुजम्।
हंसेत्यक्षर युग्मकं द्वयदलं रक्ताभ मात्रांबुजम्॥
तस्मादूर्ध्वगतं प्रभासितमिदं पद्मं सहस्रच्छदं।
सत्यानंदमयं सदाशिवमयं ज्योतिर्मयं शाश्वतम्॥
गणेशं च विधिं विष्णु शिवं जीवं गुरुं ततः।
व्यापकं च परं ब्रह्म क्रमाच्चक्रेषु चिंतयेत्॥
षट् शतं गणनाथाय षट् सहस्रन्तु वेधसे।
षट् सहस्रं च हरये षट् सहस्रं हराय च॥

जीवात्मने सहस्त्रं च सहस्त्र गुरुवे तथा ।
चिदात्मने सहस्त्रं च जप संख्या निवेदयेत् ॥

"स एक जप कोट्या नाद मनुभवति" –हंसोपनिषद्

नादो दश विधो जायते, चिणिति प्रथम, चींचिणिति द्वितीय, घंटानादस्तृतीय, शंखनादश्चतुर्थ, पञ्चमस्तन्त्रीनाद, षष्ठस्तालनाद, सप्तमो वेणुनाद, अष्टमो मृदंग नाद, नवमो भेरी नाद, दसमो मेघ नाद, नवम परित्यज्य दशम मेवाभ्य सेत् ॥

प्रथमे चिंचिणि गात्रं द्वितीये गात्र भंजनम् ।
तृतीये स्वेदनं याति, चतुर्थे कम्पते शिर ॥
पंचमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृत निषेवणम् ।
सप्तमे गूढ विज्ञान परा वाचा तथाऽष्टमे ॥
अदृश्य नवमे देह दिव्य चक्षुस्तथा मलम् ॥
दसमे परमब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्म सन्निधो ॥

ऐसा जप जपो मन लाई सोऽह सोऽह अजपागाई ।
आसन दृढ करि धरो ध्यान, अह निसी सुमिरो ब्रह्मज्ञान
नासा गृज निज ज्यो वाई, इडाप्यगुला मध्यी समाई ।

इस रीति को प्राप्त हुआ जो जप होता है उसे मंत्र याग कहते हैं।

मनुष्यादि जीव आरोग्य स्थिति में एक अहोरात्र में २१६०० हंस मंत्र का स्वाभाविक उच्चार करता है:—

"एक विंशति सहस्रं षट्शताधिकमीश्वरी।
अत्यहं जपते प्राणी हंस इत्यक्षर द्वयम्॥

इस सोहं मंत्र का शरीरस्थ चक्रों में कहां कितने जप किस भावना को लेकर करना इसके सम्बन्ध में गरुड़ पुराण में लिखा है:—

आधारन्तु चतुर्दलं तत्समं वासांत वर्णाश्रयं।
स्वाधिष्ठानपि प्रभाकर समं बालांत षट् पत्रकम्॥
रक्ताभं मणि पूरकं दशदलं डाद फकारांतकम्।
पत्रेद्वादशभीस्त्व नाहत पुरं हेमं कंठाचापुतम्॥
पत्रे सस्वर षोडशीः शशिधर ज्योतिर्विशुद्धांबुजम्।
हंसस्य क्षसर युग्मक द्वयदलं रक्ताभ माज्ञांबुजम्॥
तस्मादूर्ध्वगतं प्रभासितमिदं पद्मं सहस्रच्छदं।
सत्यानन्दमयं सदाशिवमयं ज्योतिर्मय शाश्वतम्॥
गणेशं च विधिं विष्णु शिवं जीवं गुरुं ततः।
व्यापकं च परं ब्रह्म क्रमाच्चक्रेषु चिंतयेत्॥
षट् शतं गणनाथाय षट् सहस्रन्तु वेधसे।
षट् सहस्रं च हरय षट् सहस्रं हराय च॥

शांभव्या चैव खेचर्य्या भ्रामर्य्या योनि मुद्राय।
ध्यानं नादं रसानन्द लय सिद्धश्चतुर्विधा ॥५॥
पचधा भक्ति योगेन मनो मूर्छा च षड्विधा।
षड्विधोय राजयोगः प्रत्येक मवधारय ॥६॥

ध्यानयोग।

शांभवी मुद्रिकां कृत्वा आत्म प्रत्यक्ष मानयेत्।
बिन्दु ब्रह्म सकृदृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत् ॥७॥
खमध्ये कुरुचात्मान आत्म मध्ये च ख कुरु।
आत्मानं खम यम दृष्ट्वा न किंचिदपि बाधते ॥८॥

नाद योग समाधि विधिः।

साधनात्खेचरी मुद्रा रसनोर्ध्वं गता सदा।
तदा समाधिः सिद्धि॰ स्याद्धित्वासादा रण क्रियाम् ॥९॥
अतस्थ भ्रामरी नाद श्रुत्वा तत्र मनो नयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनंद सोहमित्यतः ॥

लय योग।

योनि मुद्रा समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुश्रृंगार रसेनैव विहरेत्परमात्मनि ॥
आनन्दहृदयः संभूत्वा ऐक्यं ब्राह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेतियाऽद्वैत समाधिस्तेन जायते ॥

हम महंस इक्कीसी आप भ्रम वह उपजै मारै आप ॥
बंक नाल में कनीसूर, रोम रोम धुनि बाजे तूर ।

पलट कमल सहस्र दल वास
भ्रमर गुफा में ज्योति प्रकाश ।
परही गहिया मन न आई दूर
अहि निसी पीवै योगी पाहसी सूर ।
नाद बिन्दाद पाइ काल की
तब आखिया योगी घटका बलीन ॥

काया गढ़ भीतर दस देहुरा कासी
सहज सुभाई मिले अविनासी ॥

श्लोकः—समाधि च परं योग बहु भाग्ये न लभ्यते ।
गुरोः कृपा प्रसादेन प्राप्यते गुरु भक्ति ॥१॥

मिथ्या प्रतीति सद्गुरु प्रतीति ।
परम प्रतीति मैनस प्रभाव ॥
दिने दिने यस्य मधेत्स योगी ।
सुधामभाभ्यास सु पैति सच ॥२॥

यथाग्निम मनः कृत्वा पत्य कृत्वा पतात्मनि ।
समाधि तद्विजानीयान्मुक्त संज्ञ दशाविभिः ॥३॥
अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोक भाक् ।
सच्चिदानन्द रूपोऽहं नित्यमुक्त समाधवान् ॥४॥

शांभव्या चैव खेचर्य्या भ्रामर्य्या योनि मुद्राय।
ध्यानं नादं रसानन्दं लय सिद्धश्चतुर्विधा ॥५॥
पचधा भक्ति योगेन मनो मूर्छा च षड्विधा।
षड्विधोय राजयोगः प्रत्येक मवधारय ॥६॥

ध्यानयोग।

शाभवी मुद्रिकां कृत्वा आत्म प्रत्यक्ष मानयेत्।
विन्दु ब्रह्म सकृद्दष्टा मनस्तत्र नियोजयेत् ॥७॥
खमध्ये कुरुचात्मान आत्म मध्ये च खं कुरु।
आत्मान खम यम दृष्ट्वा न किंचिदपि वाधते ॥८॥

नाद योग समाधि विधिः।

साधनात्खेचरी मुद्रा रसनोर्ध्वं गता सदा।
तदा समाधिः सिद्धि. स्याद्धित्वासादा रण क्रियाम् ॥९॥
अंतस्थ भ्रामरी नादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनद सोहमित्यतः ॥

लय योग।

योनि मुद्रा समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुश्रृगार रसेनैव विहरेत्परमात्मनि ॥
आनन्दहृदयः संभूत्वा ऐक्यं ब्राह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेतियाऽद्वैत समाधिस्तेन जायते ॥

भक्तियोग समाधि विधिः ।

स्वकीय हृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम् ।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लाद पूर्वकम् ॥

आनंदाश्रु पुलकेन दशाभावः प्रजायते ।
समाधिः संभवेत्तेन संभवेच्च मनोन्मनी ॥

रास्यो समाधि विधिः ।

मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत् ।
परमात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात् ॥

—— ० ——

जले विष्णुस्थले विष्णु विष्णुपर्वत मस्तके ।
ज्वाला माला कुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

—(घेरण्ड संहिता)

कार शौर्यं धृतकारं च सत्यं
सर्पैक्षाम्भिता स्त्रीषु कामोपशाम्भिता ।
क्लीबे धैर्यं मद्यप तत्त्व चिन्ता
गजा मिर्गे केशरई भूतं वा ॥१॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञान लव दुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं न रंजयति ॥

सुख कर मूढ़ रिझाइये अति सुगम पण्डित लोग ।
अल्प ज्ञान गर्वित को विधिहुन रिझावन योग ॥

जो मूरख उपदेश के होते योग जहान।
दुर्जोधन कहं वोध किन आये श्याम सुजान॥
फूले फले न वेत यदपि सुधा वरसाइ जलद।
मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिले विरचि सम॥
विगरयो होय कुसंग जिहि कौन सकै समुझाय।
लसन बसाये वसन को कैसे सकै बसाय॥१॥

—(वृन्द)

मूरखता के ढकन को रच्यो विधाता मौन।
ज्ञानि-सभा मह आभरण अज्ञहिं गुण को भौन॥

हम जानते थे इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यह जाना कि न जाना कुछ भी॥

—(जौफ)

अभ्यासः—

अभिवायु वीत्यर्षीगृणा नो३मिमित्रा वरुणा पूय मानः अभिनरं धी जय नरथेष्ठाममीन्द्रं वृषण वज्र वाहुम्॥

—(ऋग्० वे० १ । ८७ । ४६)

हे विद्वान्! कोष्टगत वायुरूप प्राण को सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिये प्रेरित कर एवं प्राण और अपान दोनों को पावन करता हुआ, उत्तम रूप से गति देता हुआ उनको भी प्रेरित कर इस देहरूप रथ पर सारथि वन कर-स्थित ध्यान सङ्कल्प मात्र के वेग से जाने वाले इन्द्रिय गणों के नेता मन

भक्तियोग समाधि विधि ।

स्वकीय हृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम् ।
चिन्तयेद् भक्ति योगेन परम ह्लाद पूर्वकम् ॥

आनन्दाश्रु पुलकेन दशाभावः प्रजायते ।
समाधिः संभवत्तेन संभवेच्च मनोन्मनी ॥

राज्यो समाधि विधिः ।

मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत् ।
परमात्मनः समायोगात् समाधिं सम वाप्नुयात् ॥

—— o ——

जले विष्णुः स्थले विष्णु विष्णुः पर्वत मस्तके ।
ज्वाला माला कुले विष्णुः सर्वं विष्णुमय जगत् ॥

—(घेरण्ड संहिता)

काके शौर्यं द्यूतकारे च सत्यं
सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीबे धैर्यं मद्यप तत्त्व चिन्ता
राजा मित्रं केनदृष्टं श्रुत वा ॥१॥

——

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञान लव दुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं न रंजयति ॥

——

सुख कर मूढ़ रिझाइये अति सुख पण्डित लोग ।
स्वल्प ज्ञान गर्वित को विधिहु न रिझवन योग ॥

जो मूरख उपदेश के होते योग जहान।
दुर्योधन कहं बोध किन आये श्याम सुजान ॥
फूले फले न बेत यदपि सुधा बरसाइ जलद।
मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिले विरचि सम ॥
बिगरयो होय कुसग जिहि कौन सकै समुझाय।
लसन बसाये बसन को कैसे सकै बसाय ॥१॥

—(वृन्द)

मूरखता के ढकन को रच्यो विधाता मौन।
ज्ञानि-सभा मंह आभरण अज्ञहिं गुण को भौन ॥

हम जानते थे इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यह जाना कि न जाना कुछ भी ॥

—(जौक)

अभ्यासः—

अग्निवायु वीत्यमीगृणा नोऽश्मिमित्रा वरुणा पूय मान.
अभिनर धी जय नरथेष्टाममीन्द्रं वृषण वज्र वाहुम् ॥

—(ऋग्० वे० १ । ८७ । ४६)

हे विद्वान् ! कोष्ठगत वायुरूप प्राण को सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिये प्रेरित कर एवं प्राण और अपान दोनों को पावन करता हुआ, उत्तम रूप से गति देता हुआ उनको भी प्रेरित कर इस देहरूप रथ पर सारथि बन कर–स्थित ध्यान सङ्कल्प मात्र के वेग से जाने वाले इन्द्रिय गणों के नेता मन

को उत्तम रीति से प्रेरित कर, और इस प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और नित्य स्थिर होकर हे सोम! विज्ञान तथा प्रकाश के धारण करने वाले ज्ञान रूप वज्र को हाथ में ले मुक्त्यावस्था में ब्रह्माऽऽलोक के सुख आने पर सब सुखों के धारक उस आत्मा को साक्षात् कर ॥

अयुक्त सूर एतश पवमानो मनावधि अन्तरिक्षस्य यातवे ॥
—(साम ६।१।८।१)

आत्मा को पवित्र करने वाले सूर्य के समान ज्ञानी मनन शील चित्त में भीतर के हृदयाकाश में परम सुख या मोक्ष मार्ग में आने के लिये अश्व के समान गमनशील मन को ध्यान समाधि द्वारा ईश्वर से मिला उसके प्रति जोड़े।

युक्तेन मनसा वयम देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥
—(यजु ॥ ११।२॥)

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि हम योग मोक्ष सुख के लिये यथा योग्य सामर्थ्य के बल से, परमेश्वर की सृष्टि में उपासना-योग करके अपनी आत्मा को शुद्ध करें जिससे अपने शुद्ध मन से परमेश्वर प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों।

अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः।

उस परमात्मा के ज्ञान का उपाय योग है।

श्रद्धा भक्तो ध्यान योगाद वेदी।

—(कैवल्योपनिषद्)

श्रद्धा भक्ति ध्यानयोग द्वारा–आत्मा को जानो।

सुक्ष्मतां चान्वपेक्षेतयोगेन परमात्मनः। —(मनुः)

योगाभ्यास से परमात्मा की सुक्ष्मा को देखे।

ध्यानयोगेन सम्पश्येन्द्‌तिमस्यांतरात्मनः।

—(मनुः ६। ७३।)

ध्यान योग से ही आत्मा जाना जासक्ता है इसलिये ध्यान योग परायण होना चाहिये।

श्लोकः—इज्याचार दमाहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्ः।
अयतु परमोधर्मो यद्‌योगेनात्म दर्शनम्॥

—(याज्ञवल्क्य)

यज्ञ आचार दम अहिंसा दान स्वाध्याय कर्मों के मध्य में यही परम धर्म है जो कि–योग से आत्मा का ज्ञान हो।

अपचि संराधने प्रत्यक्षानु मानाभ्याम। ध्यान काल में योगी लोग निरस्त समस्त–परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं क्योंकि–श्रुति स्मृतियों में ऐसे ही प्रतिपादित है।

—(वेदव्यास)

श्लोकः—समाधि विशेषाभ्यासात। —(गोतम० ४।२।३८)

समाधि विशेष के अभ्यास से तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है।

को उत्तम रीति से प्रेरित कर, और इस प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और स्थिर चित्त होकर हे साधक ! विज्ञान तथा अज्ञान के नाश करने वाले ज्ञान रूप वज्र को हाथ में ले ध्यानावस्था में महाऽऽलोक के खुल जाने पर सब सुखों के वर्षक उस आत्मा को साक्षात् कर ॥

अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि अन्तरिक्षेण यातवे ॥
—(साम ९ । १ । ८ । २)

आत्मा को पवित्र करने वाले सूर्य के समान ज्ञानी मनन शील चित्त में भीतर के हृदयाकाश में परम सुख या मोक्ष मार्ग में जाने के लिये अश्व के समान गमनशील मन को योग समाधि द्वारा ईश्वर से मिला उसके प्रति जोड़े ।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥
—(यजु ॥ ११ । २ ॥)

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि हम लोग मोक्ष सुख के लिये यथा योग्य सामर्थ्य के बल से, परमेश्वर की स्तुति में उपासना-योग करके अपनी आत्मा को शुद्ध करें जिससे अपने शुद्ध मन से परमेश्वर प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ।

अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः ।

उस परमात्मा के ज्ञान का उपाय योग है ।

॥ ॐ ॥

ब्रह्म नामावली स्तोत्रम् ।

सकृच्छ्रवण मात्रेण ब्रह्मज्ञानं यतो भवेत ।
ब्रह्मनामावली माला सर्वेषां मोक्ष सिद्धये ॥१॥

असंगोऽहमसंगोऽहमसंगोऽहं पुनः पुनः ।
सच्चिदानन्द रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥२॥

नित्य शुद्ध विमुक्तोऽहं निराकारोऽहमव्ययः ।
भूमानंद स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥३॥

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निराकारोऽहमच्युतः ।
परमानंद स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥४॥

शुद्ध चैतन्य रूपोऽहं आत्मा रामोऽमेदचः ।
अखंडानंद रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥५॥

शाश्वतानंद रूपोऽहं शांतोऽहं प्रकृते पराः ।
प्रत्यक् चैतन्य रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥६॥

तत्त्वातीतः परमात्मा मध्यातीतः पर. शिवाः ।
मायातीतः परंज्योतिरहमेवाहमव्यय ॥७॥

नाम रूप व्यतीतोऽहं चिदाकारोऽहमच्युतः ।
सुखरूप स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्यय. ॥८॥

श्लोकः—योगात् सञ्जायते ज्ञानं योगोमय्येकचित्तता ।

योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और योग नाम मेरे (ईश्वर) विषयक चित्त की एकाग्रता का है। —(आदित्य पुराण)

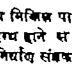
श्लोकः—आत्मज्ञानेन मुक्तिस्यात् तच्चयोगादृते नहि ।

आत्मज्ञान से मुक्ति होती है और यह ज्ञानयोग के बिना दुर्लभ है। —(स्कन्द पुराण)

श्लोकः—योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पाप पञ्जरम् ।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥

योगरूप अग्नि शीघ्र निखिल पाप-पञ्जर-पुञ्ज का दग्ध कर देता है। उस पाप के दग्ध होने से प्रतिबन्ध रहित ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से निर्वाण संज्ञक मोक्ष प्राप्त होता है।

—(कूर्म पुराण)



ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्त डिंडिम ॥२०॥
अंतर्ज्योतिर्बहिर्ज्योतिः प्रत्यग् ज्योतिः परात्परः ।
ज्योति ज्योतिः स्वयं ज्योतिरात्म ज्योतिः
शिवोऽस्म्यहम् ॥२१॥

तत्सत



मायातत्कार्यदेहादि मम नास्त्येव सर्वदा।
स्वप्रकाशैकरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥९॥

गुणत्रयव्यतीतोऽहं ब्रह्मादीनां च साक्ष्यहम्।
अनन्तानन्तरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१०॥

अन्तर्यामी स्वरूपोऽहं कूटस्थः सर्वगोऽस्म्यहम्।
परमात्म स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥११॥

निष्कलोऽहं निष्क्रियोऽहं सर्वात्मा च सनातनः।
अपरोक्ष स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१२॥

द्वन्द्वादिसाक्षिरूपोऽहमचलोऽहं सदोदितः।
सर्वसाक्षि स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१३॥

प्रज्ञानघन एवाहं विज्ञानघन एव च।
अकर्ताऽहम भोक्ताऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१४॥

निराधार स्वरूपोऽहं सर्वाधारोऽहमेव च।
आप्तकाम स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१५॥

तापत्रय विमुक्तोऽहं देहत्रय विलक्षणः।
अवस्थात्रय साक्ष्यस्मि अहमेवाहमव्ययः ॥१६॥

दृग् दृश्यौ द्वौ पदार्थौस्तः परस्पर विलक्षणौ।
दृग् ब्रह्म दृश्यं मायेति सर्ववेदान्त डिंडिमः ॥१७॥

यथा कुम्भादिकं सर्वं मृत्तिका मात्रमेव च।
तद्वद् ब्रह्म जगत्सर्वमिति वेदान्त डिंडिम ॥१८॥

अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैवं पुनः पुनः।
स एव मुक्तोऽसौ विद्वानिति वेदान्त डिंडिम ॥१९॥

भावार्थः—हे हंस (जीव) शिष्य ! ऐसी तुझे आरती सुनाता हूँ कि-जिससे तेरा जन्म मरण मिटजाय-हे जीवरूपी हंस ! आरती ऐसी करना चाहिए कि जिससे जाति-वर्ण-कुल वंश सब साफ होजायँ ॥१॥

काया मांहि देव है ऐसा । दूजा और नहीं कोई तैसा ।
काया केवल आतम देवा । विन सत्‌गुरु नहिं पावे भेवा ॥

भावार्थः—इस शरीर में एक ऐसा देव है कि जिसके समान दूसरा कोई नहीं है । इस काया रूपी मन्दिर में आत्मा रूपी देव है, परन्तु सद्‌गुरु की कृपा के विना उसका रहस्य नहीं मिलता ।

(जिसे इस प्रकार के रहस्य को जानने को आकांक्षा हो उसे चाहिये कि)—

पहिले गुरु-सेवा चित लावे । तासे सकल विधी को पावे ।
जो युक्ती गुरु देव वतावे । तामें अपना मन ठहरावे ॥३॥

भावार्थः—सबसे प्रथम गुरु-सेवा में चित्त लगाकर उनसे सब विधि प्राप्त करे, गुरु देव जो युक्ति बतावें उसमें अपने मन को स्थिर करे ।

माया का सब झूंठ पसारा । सत् है चेतन रूप तुम्हारा ॥
पाँच अंश सब ही में जानो । अस्ति भांति प्रिय सत्य वखानो ॥४

॥ ॐ ॥

सन्ध्या–आरती ।

ऐसी सन्ध्या आरती, सिखावे सबका सार ।
सांझ समय याको पढ़े समुझे सार असार ॥१॥

भावार्थ—जितनी सन्ध्या-आरती हैं उन सबका सार (सारांश) सिखाते हैं, जो कोई इसे सायंकाल के समय पढ़ेगा उसकी समझ में सब बात आजावेगी कि–संसार में सार वस्तु क्या है और असार क्या है ।

पढ़े सुने अति प्रीतियुत, अरु पुनि करे विचार
ज्ञान भानु हिय बिच उदय, है आतम दीदार ॥२॥

भावार्थ—जो कोई इसे बड़े प्रेम के साथ पढ़ेगा अथवा सुनेगा–और फिर उस पर विचार करेगा उसके हिये ज्ञान रूपी सूर्य का सब अस्तु उदय होकर आत्मा का दीदार स्वरूप की प्राप्ति होगी ।

(श्रीगुरुदेव अपने शिष्य के प्रति कहते हैं ।)

चौपाई

ऐसी आरती आदि सुनाऊँ । जन्म मरण का धोख मिटाऊँ ।
ऐसी आरति कीजे हंसा । छूटे जाति वरण कुल वंशा ॥१॥

कोई रूप नहीं है, उसका नाम 'माया' है। यह युक्ति के आगे ठहर नहीं सकती, इस माया को अचिन्त्य शक्ति बतलाते हैं ॥७॥

सो युक्ती अब कहौं बताई। जाते माया रहन न पाई ॥
सत्य असत्य नहीं कछु भाई। नहिं दोनों पद मिल कर गाई ॥८

भावार्थः—हे भाई! वह युक्ति अब कह कर बतलाता हूं, जिससे माया रहने न पावे। यह माया न तो (१) सत्य है, न (२) असत्य और न (३) दोनों पद मिल कर कही गई है।

नहिं वह कहिये भिन्न अभिन्ना। नहिं दोनों पद मिलि उत्पन्ना ॥
नहिं सावेव नहीं निरवेवा। दोनों मिलि नहिं होय अवेवा ॥९

भावार्थः—न वह (४) भिन्न है, न (५) अभिन्न, और न (६) दोनों पद मिल कर उत्पन्न ही है। न वह (७) सावयव है न (८) निरवयव और न (९) दोनों पद मिलकर अवयव-वाली ही है ॥९॥

यह नव युक्ती जिसने जानी। तिसके सामने माया भरती पानी ॥
यह सब युक्त गुरु से जाने। फिर कीजे निज आतम ध्याने ॥१०

भावार्थः—ये नौ युक्तियां जिसने समझ लीं उसके सामने माया पानी भरती है ये सब युक्तियां गुरु से जानो और फिर निज आतमा में ध्यान लगाओ ॥१०॥

भावार्थ:—हे शिष्य ! यह संसार रूपी पसारा सब माया का है जो झूठा है, केवल तुम्हारा रूप जो चैतन्य है वही सत्य है। सब में पाँच अंश—नाम, रूप, अस्ति, भाति, प्रिय होते हैं। इनमें अस्ति, भाति, प्रिय-सत्य कहे जाते हैं ॥४॥

नामरूप झूठे व्यभिचारी। तिनसे भूलि न कीजै यारी।
तीन सच्चिदानन्द पिछानों। तिनको ब्रह्म-रूप करि मानों ॥५॥

भावार्थ:—शेष जो 'नाम' तथा—'रूप' हैं वे मिथ्या तथा—व्यभिचारी हैं उनसे भूलकर भी स्नेह नहीं करना। पिछले तीन (अस्ति, भाति, प्रिय) को सच्चिदानन्द जानो—समझो, और इन्हीं को ब्रह्मरूप करके मानो ॥५॥

सो है ब्रह्म आपना रूपा। ऐसे वेद कहत मुनिभूपा ॥
दो झूठे मायाकृत दूजे। तिनको सत्य कबहु नहिं पेखे ॥६॥

भावार्थ:—यही ब्रह्म अपना स्वरूप है, ऐसा वेद और मुनियों के भूप अर्थात्-मुनिराजों ने कहा है। प्रथम दो—अर्थात् नाम और रूप—झूठे, तथा माया के बने हुए हैं, ऐसा देखो। इनको कभी ऐसा मत समझो कि—यह सत्य हैं ॥६॥

माया नाम कहत मुनि तसका। परमारथ से रूप न जिसका ॥
अचिन्त्य शक्ति कर ताहि बतावे। पुनी आगे रहन न पावे ॥७

भावार्थ:—मुनि नाम कहते हैं—जिसका परमार्थ स

भावार्थः—जब चितरूपी चन्दन को घिस कर लगाया तब ही निरञ्जन देव प्राप्त हुआ ऐसी स्थिति में बुद्धि ताली ठोकने लगी कि—मेरी, ब्रह्माकार वृत्ति जो करोड़ों जन्म से सोई हुई थी अब जगी ॥१४॥

अहकार का बाजा घंटा । बहुत काल का टूटा टटा ॥
चिदाभास ने शख बजाया । अपना रूप हमे अब पाया ॥१५

भावार्थः—तब अहंकार का घंटा बजा, अर्थात्—बोला कि—मैं शून्य हुआ. और बहुत समय का टंटा जो फसा हुआ था वह टूट गया—झगड़ा पाक हुआ । ऐसी स्थिति मे चिदाभास ने शख बजाया अर्थात्—कहा कि—अब हमे अपने स्वरूप की प्राप्ति होगई ॥१५॥

चिदाभास का कीना त्याग । कूटस्थ रूप मे कीना राग ॥
आभासरूप को त्यागा जब ही । रूप अक्रिय पाया तबही ॥१६

भावार्थः—परन्तु यह स्थिति स्थायी नहीं इस लिए चिदाभास अर्थात्—जीवभाव का त्याग करके, कूटस्थ (शुद्ध चैतन्य) स्वरूप में प्रेम किया और ज्योंही आभास रूप का त्याग किया तब ही से अपना अक्रिय स्वरूप प्राप्त किया ॥१६

ता साक्षी कर सदा अभेदा । ब्रह्मरूप यह गावत वेदा ॥
जिमि जलाकाश अरु घटकाशा । महाकाश मे सबका वासा ॥१७

आतम पूजा बहु विधि कीजे। जाते सकल अविद्या छीजे॥
सोऽहं थाल बहुत विधि साजे। स्वास स्वास पर घंटी बाजे॥११॥

भावार्थः—आत्म पूजा बहुत प्रकार से करो, जिससे सब प्रकार की अविद्या का नाश हो। सोऽहं की थाल बहुत प्रकार से सजाओ—सजाओ, और स्वास स्वास पर घंटी बजे॥११॥

संयम बाट करे दिन राती। ज्ञान दीप बाले बिन बाती॥
अस दीपक का होय उजाला। अन्धकार नशिजा ततकाला॥१२

भावार्थः—फिर दिन रात संयम की ओट करो और बिना बत्ती के ज्ञान रूपी दीपक जलाओ। यह प्रत्यक्ष ही है कि—जैसे ही दीपक का प्रकाश होता है कि—अन्धकार तत्काल नाश को प्राप्त होजाता है॥१२॥

आगे श्रीगुरुदेव कहते हैं—हे शिष्य!

झाँझ झलक चेतन की झलकी। मूल अविद्या सारी छिलकी।
मन मिरदंग तान कर कूटा। धृक धृक कहन लगा मैं झूठा॥१३

भावार्थः—चैतन्य झाँझ की झनकार के झनकते ही सारी मूल अविद्या छिटक जाती है मनरूपी मृदंग को ज्योंही तान-कर (एक तार बाँध कर) कूटा (बजाया) तो कहने लगता है कि—धिक्कार है धिक्कार है मैं झूठा हूँ—मैं झूठा हूँ॥१३॥

चित का चंदन घिस कर लाया। तब ही देव निरञ्जन पाया।
बुद्धि ताल बजावन लागी। काहू जन्म की सूती जागी॥१४

गेलानुभव कर सभी प्रसन्न हुए और विचार करने लगे। ऐसी स्थिति में कोई अनुभवी नाचते हैं, कोई गाते हैं और कोई मौन धारण कर रह जाते हैं। २०

कोई ताल बजावन लागे। आतम मांहिं हुए अनुरागे।
प्रीति पुष्प चढ़ावन लागे। ध्यान धूप को लावन लागे ॥२१

भावार्थ.—कोई तालियाँ बजाने लगे, कोई आत्मानुरागी हुए प्रीति-पुष्प-चढ़ाने लगे है और कोई ध्यानरूपी धूप लगाने लगे है ॥२१॥

वृत्ति करे ब्रह्म का गाना। और नहिं कछु भाखत आना॥
ऐसे कहि के ब्रह्म समाई। भेद भरम सब दिया उड़ाई ॥२२

भावार्थः— उनकी वृत्ति ब्रह्म का गान करने लगी है और कहती है कि-मुझे और कुछ बोलना शेष नहीं है। ऐसा कह कर ब्रह्म में समागयी—लीन होगयी। इस प्रकार उनका भेद-भ्रम उडा दिया ॥२२॥

लौन पूतरी जावे नीरा । उलट बात कुछ कहे न वीरा।
आप रूप सब दिया गंवाई। होय उदक दक मांहिं समाई ॥२३

भावार्थः—(हे शिष्य ! उन आत्मानुभवियों की कैसी स्थिति होती है सो सुन)—जिस प्रकार निमक की पुतली समुद्र की थाह लेने को जाती है और फिर लौट कर समाचार

भावार्थ—हे शिष्य ! यह जो अक्रियस्वरूप अर्थात् चैतन्य साक्षी है, उसका तरे से सदा अभेद है, वेद का यह कथन है कि—यही ब्रह्म स्वरूप है। जैसे कि जलाकाश घटाकाश आदि सबका महाकाश में वास है ॥१७॥

यह वृत्तान्त विचारे मन में। ब्रह्मरूप पावे या तन में॥
ऐसी कीजे आतम संध्या। याते जी छुटे यह बन्ध्या ॥१८॥

भावार्थ—जो इस वृत्तान्त को मन में विचारता है, वह अपने शरीर में ही ब्रह्मरूप को पा लेता है। इस प्रकार से आत्मसंध्या करो जिससे जीव इस बन्धन से मुक्त होवे ॥१८॥

ऐसी सन्ध्या आरती कीजे। जाते देव निरंजन रीझे॥
इन्द्रिय अरु तिनके सब देवा। करन लगे हैं आतम सेवा ॥१९॥

भावार्थ—हे शिष्य ! ऐसी आरती करो जिससे निरंजन परमात्मा प्रसन्न होवे। पूर्व में जिन्होंने ऐसे निरंजन देव को रिझा लिया है उनकी इन्द्रियाँ और उनके सब अधिदेव आत्म-सेवा करते रहे हैं—अर्थात् सबकी प्रवृत्ति आत्मा की ओर होने लगती है ॥१९॥

भय मुदित सब करें विचारा। आतम अपना रूप निहारा॥
कोई गावे कोई गाय। कोई मौन गह नहि जाये ॥२०॥

भावार्थ—अपना आत्मरूप अनुभव कर—अर्थात् अप

खलास होजाते हैं-जन्म मरण का संशय मिट जाता है ॥२६॥

बन्ध मुक्त याते सब जाने। आतम शुद्ध रूप पहिचाने।
बन्ध विहीन एक नहि दोई। ताकी मुक्ति कौन विधि होई ॥२७

भावार्थः—इसी से सब बन्धन और मुक्ति जानो—दोनों भ्रम करके है, इसलिये मिथ्या जानो। बन्धन से रहित-मुक्त दो नहीं एक ही है, उसकी मुक्ति किस प्रकार होवे ? अर्थात्-जो मुक्त है उसकी मुक्ति ही क्या ? ॥२७॥

बन्ध मुक्त माया कृत जाने। आतम शुद्ध रूप पहिचाने।
ध्यान अरु ज्ञान नहीं कोई-जामें। साधन साध्य-नहीं कोई तामें २८

भावार्थः—बन्धन और मुक्ति, माया कृत जानो, आत्मा, को शुद्ध रूप पहिचानो, न उसमें ध्यान है-न ज्ञान, न कोई साधन है, न कोई साध्य है ॥२८॥

द्वैत अद्वैत नहीं कछु झगड़ा। न कछु बन्या नहीं कुछ बिगड़ा ॥
अजर अमर आतम अविनाशी। चेतन शुद्ध रूप परकाशी ॥२६

भावार्थः—न उसमें द्वैत अद्वैत का झगड़ा है, न कुछ बना है, न कुछ बिगड़ा है। आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है, चैतन्य स्वरूप प्रकाशमान है ॥२८॥

सजाती विजाती न तामें कोई। स्वगत भेद फिर कैसे होई ॥
नहिं वह वृद्ध नहि वह वाला। स्वेत पीत हरता नहिं काला ॥३०

कहन को (पता बताने को) नहीं आ सकती। क्योंकि-इसने अपना सब रूप को दिया। जल होकर जल में लीन होगई ॥२३

जो कुछ सूक्ष्म या स्थूला। जो कारण था तिसका मूला ॥
सब ही चेतन ह्वै प्रकाशा। द्वैत अद्वैत सभी भई नाशा ॥२४

भावार्थः—जो कुछ स्थूल-सूक्ष्म था और जो कुछ इन का मूलकारण-अज्ञान-था सब चेतन्य होकर प्रकाशमान हो गया जहां द्वैत अद्वैत सभी का क्षय हो गया ॥२४॥

सन्ध्या आरती करो विचारा। छूटे भरम करम संसारा ॥
लोक वेद की छाँड़ो आशा। तब देखोगे ब्रह्म तमाशा ॥२५॥

भावार्थः—इस प्रकार संध्या आरती का विचार करोगे तो संसार के भ्रमरूपी सब कर्म छूट जावेंगे। जब लोक वेद की आशा छोड़ोगे तब तुम्हें ब्रह्म की लीला देखने में आवेगी ॥ २५ ॥

(अब गुरुदेव इस सन्ध्या आरती का माहात्म्य कथन करते हैं कि—)

ऐसी सन्ध्या आरती गावे। बहुरि सो जगत् जन्म नहिं पावे ॥
टूट बंधन होय उजासा। जन्म मरण का मिटिगा सांसा ॥२६

भावार्थः—जो इस प्रकार संध्या आरती गाता है-वह इस संसार में फिर जन्म नहीं लेता है, उसके सब बन्धन छूट कर

खलास होजाते हैं-जन्म मरण का संशय मिट जाता है ॥२६॥

बन्ध मुक्त याते सब जाने। आतम शुद्ध रूप पहिचाने।
बन्ध विहीन एक नहि दोई। ताकी मुक्ति कौन विधि होई ॥२७

भावार्थः—इसी से सब बन्धन और मुक्ति जानो—दोनों भ्रम करके हैं, इसलिये मिथ्या जानो। बन्धन से रहित-मुक्त दो नहीं एक ही है, उसकी मुक्ति किस प्रकार होवे ? अर्थात्-जो मुक्त है उसकी मुक्ति ही क्या ? ॥२७॥

बन्ध मुक्त माया कृत जाने। आतम शुद्ध रूप पहिचाने।
ध्यान अरु ज्ञान नहीं कोई जामें। साधन साध्य नहीं कोई तामें २८

भावार्थः—बन्धन और मुक्ति, माया कृत जानो, आत्मा, को शुद्ध रूप पहिचानो, न उसमें ध्यान है-न ज्ञान, न कोई साधन है, न कोई साध्य है ॥२८॥

द्वैत अद्वैत नहीं कछु झगड़ा। न कछु बन्या नहीं कुछ बिगड़ा ॥
अजर अमर आतम अविनाशी। चेतन शुद्ध रूप परकाशी ॥२६

भावार्थः—न उसमें द्वैत अद्वैत का झगड़ा है, न कुछ बना है, न कुछ बिगड़ा है। आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है, चैतन्य स्वरूप प्रकाशमान है ॥२८॥

सजाती विजाती न तामें कोई। स्वगत भेद फिर कैसे होई ॥
नहिं वह वृद्ध नहिं वह बाला। स्वेत पीत हरता नहिं काला ॥३०

भावार्थ—उसमें सजाति-विजाति कोई भेद नहीं है, तो फिर स्वगत भेद कैसे हो सकता है? न वह पुरुष है—न बालक न वह श्वेत है—न पीला है—न हरा है न काला है ॥१०॥

नहिं वह पुरुष नहीं वह नारी। नहिं सन्यासी नहिं ब्रह्मचारी ॥
लक्ष अलक्ष नहीं कुछ तामें। वाच्य अवाच्य बनै नहिं तामें ॥११

भावार्थ—न वह पुरुष है—न वह नारी, न सन्यासी है—न ब्रह्मचारी है। उसमें लक्ष्य-अलक्ष्य कुछ भी नहीं है न उसमें वाच्य अवाच्य ही बन सकता है ॥११॥

सब कुछ है अरु कुछ भी नाहीं। तन विकार कुछ परसत नाहीं।
नहिं वह हलका नहिं वह भारी। ना कुछ मधुर नहीं कुछ खारी ॥

भावार्थ—सब कुछ है—और कुछ भी नहीं है। तन विकार उसे स्पर्श नहीं कर सकता। न वह हलका है—न भारी न वह खारी है—न कुछ मीठा ॥१२॥

रूप रंग तामें कुछ नाहीं। ऐसा आतम सब के मांहीं ॥
सम रस रहे गगन की नाईं। काल कर्म की पड़े न छाईं ॥१३

भावार्थ—उसमें रूप रंग कुछ भी नहीं है। इस प्रकार का आत्मा सब के अन्दर है आकाश सरीखा एक रस रहता है जिस पर काल और कर्म की कुछ भी छाया नहीं पड़ती है ॥१३॥

सदा-अक्रिय निरभय देवा। कहा करै को तिसकी सेवा।
न कछु मौन नहीं कुछ बोले। ना कहिं स्थिर ना कहिं डोले ॥३४॥

भावार्थः—वह देवता सदा अक्रिय और निर्भय है, उसकी सेवा किस प्रकार बन सकती है। न वह मौन है–न वह बोलता है। न वह कहीं स्थिर है–न वह कहीं फिरता है ॥३४॥

निश्चल सदा अक्रिय देवा। बिन सत्‌गुरु नहिं पावे भेवा।
नहिं परिच्छेद तासु में कोई। देश काल वस्तु नहिं होई ॥३५॥

भावार्थ—वह अक्रिय देव सदा निश्चल है। उसका रहस्य बिना सद्‌गुरु के नहीं मिलता। उसमें कोई परिच्छेद-भिन्नता नहीं है। न उसमें देश, काल, वस्तु ही हो सकती है ॥३५॥

सन्ध्या आरती की लिखी चौपाई। जग को मिथ्या कहे जनाई।
आतम ब्रह्मरूप करि भासे। सत्‌चित आनन्द एक परकाशे ॥३६

भावार्थः—इस सन्ध्या आरती की चौपाइयाँ लिखकर जगत् को मिथ्या जताया है। ऐसा अनुभव सिद्धि होने पर आत्मा ब्रह्मरूप भासता है, वह सत्, चित्, आनन्द एक और प्रकाशमान् है ॥३६॥

और

जैसे गुन मे भासत भोगी। त्यों आतम में जग प्रति योगी।
शुक्ती में रूपा भ्रम होई। त्यों आतम में जग है सोई ॥३७॥

भावार्थ—(किस प्रकार भासता है सो गुरुदेव शिष्य के प्रति कहते हैं—हे शिष्य !) जैसे गुणों में नाग भासमान होता है। उसी प्रकार आत्मा में योगियों को जगत् मिथ्या भासता है। जैसे सीपी में चाँदी इसी प्रकार आत्मा में मिथ्या जगत् भासता है– इस दृष्टांत के अतिरिक्त और दृष्टांत भी देते हैं) ॥१७॥

स्थाणु महि पुरुष कहैं जैसे। रवि किरनन म नीर कहे तैसे।
आकाश माँहि ज्यों गंधर्व गामा। यों आतम म जगत अभिरामा॥

भावार्थ—जिस प्रकार रवि किरणों में जल रहता है उसी प्रकार स्थाणु-प्रकृति म पुरुष रहता है। जिस प्रकार आकाश म गन्धर्व नगर दीखता है तैसे ही आत्मा में जगत् भासमान होता है ॥१८॥

मिरची म तीक्ष्णता जैसे। जल के माहिं खारता तैसे॥
फूलन माहिं गंध जिमि होई। आतम म ऐसे जग सोई ॥१९॥

भावार्थ—जिस प्रकार मिर्चों में तीक्ष्णता है, जल म खारीपन है पुष्पों मे गंध है उसी प्रकार आत्मा म जगत् दिखाई देता है ॥१९॥

हे शिष्य ! कहाँ तक कहा जावे, सार यही है कि—

दोहा—सभी धरम का भासता करता किरिया कर्म।
आत्मा सदा असंग है कोइ जानत विरला मर्म॥

भावार्थः—कर्ता, क्रिया, कर्म–सब भ्रम से दिखाई देते है वास्तव में आत्मा सदा असंग है। परन्तु–इस मर्म को कोई विरला ही जानता है।

छन्दः—सतगुरु बिना नहिं भेद पावे, कहत वेद पुकार के।
लाचार नहिं चारा चला, हम चारों बैठे हारि के ॥१॥

भावार्थः—साधारण प्राणी की तो क्या गति, स्वयं वेद पुकार २ कर कहते है कि:—सद्गुरु के बिना कोई भेद पा नहीं सकता। हम चारों (वेद) हार कर बैठ गये–लाचार हैं, कोई वश नहीं चलता।

छन्दः—षट मान जेती सिमरती, वस्तु अनातम को कहे।
कौन शक्ती तासु की, जो आत्मा को वह लहे ॥२॥

भावार्थः—वेद के अतिरिक्त षट् शास्त्र और जितनी भी स्मृतियाँ है वह सब अनात्म वस्तुओं का ही वर्णन करती हैं। परन्तु–यह किसकी शक्ति–ताकत–जो उस आत्मा को प्राप्त करसके ॥२॥

छन्द.—निरवेव चेतन शुद्ध निरमल। एक दो की गम नहीं ॥
ऐसे शब्द करके वेद कहता। और कछु जाने नहीं ॥३

भावार्थ.—आत्मा निरवयव है, चैतन्यस्वरूप, शुद्ध, निर्मल है। उसमे अद्वैत, द्वैत की गम–गुजर नहीं। वेद भी

इन्हीं शब्दों में कहता है कि—इससे ज्यादा हम कुछ नहीं जानते ॥३॥

छन्द—दैशिक कही यह शिष्य को। तुहि ब्रह्म व्यापक रूप है।
जो समझता इस रमज़ को। पड़ता नहीं भव कूप है॥४॥

भावार्थः—सद्गुरु शिष्य को कहते हैं कि हे शिष्य ! "वह व्यापक ब्रह्म तू है" जिसका कि वर्णन ऊपर हुआ है। जो इस रहस्य को समझता है, वह फिर इस संसार रूपी कुएं में नहीं पड़ता ॥४॥

छन्द—मत आप भटका भरम में। तुही आप चेतन है सही॥
कुछ समझ अपने ज़ेहन में। यह बात हम तोसों कही॥५॥

भावार्थः—हे शिष्य ! भ्रम में पड़ के भटके मत वा सब सुख तू सर्व चेतन है। जो बात हमने तुमसे कही है, इसको ज़रा अपने ज़ेहन में जमा ॥५॥

छन्द—तत्त्वमसि आदि महावाक्य। कीजे ताहि विचार को॥
मत फंस किरिया कीच में। सब छाँड़ि जग आचार को॥६॥

भावार्थः—"तत्त्वमसि" आदि महावाक्य है, उनका विचार कर क्रिया कर्म के कीच में मत फँस, (अन्तःकरण से) जगत के व्यवहारों का त्याग कर ! ॥६॥

छन्दः—यह पढ़े संध्या आरती। चारों पदारथ जो लहै ॥
जो धारे इसके अर्थ को। फिर बात उसकी को कहे ॥७॥

भावार्थः—इस सन्ध्या आरती को जो पढ़ता है वह-चारों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पदार्थ प्राप्त कर सकता है। जो इसके अर्थ को धारण करता है, फिर उसकी तो बात ही कौन कह सकता है ॥७॥

छन्दः—चाहे अमोलक रतन को। बैठे गुप्त दरियाव में ॥
यह वक्त बीता जात है। फिर रोउगे इस दाव में ॥७

भावार्थः—जो अमूल्य रत्न को चाहता है वह इस गुप्त सागर में बैठे। यह समय वीता जा रहा है, इस अवसर (मनुष्य जन्म) को चूकोगे तो फिर रोवोगे ॥८॥

दोहाः—तम नाशत परकाश तें। कहौं तोहिं समुझाय।
और न काहू से नशे। चहैं लाखों करो उपाय ॥

भावार्थः—हे शिष्य ! तुझे समझा दिया कि-"अन्धकार प्रकाश से ही दूर होता है, और किसी से नहीं, भले ही लाखों उपाय करो"।

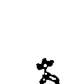
दोहाः—अज्ञान विरोधी ज्ञान है। लीजे बात विचार।
नाश न होवे और ते। चाहैं धारो वृत्त हजार ॥

भावार्थः—इस बात को विचार लो कि अज्ञान का

विरोधी केवल ज्ञान ही है, उसीका (अर्थात्-अज्ञान का) नाश अन्य किसी से नहीं हो सकता है, चाहे हजारों प्रकार के यत्न क्यों न किये जांय।

दोहा—कीट भिरंगी होत है, पुनः पुनः अभ्यास।
　　सुनि भृंगा के शब्द को, भृंग होय उड़ जात॥

भावार्थ—सतत अभ्यास के कारण कीड़ा भी भ्रमर रूप होजाता है और अन्त में भ्रमर के शब्द सुन भ्रमर बन उड़ जाता है।



* ॐ *

अथ केशवाष्टकम् ।

गुरू सत्यं अखिल चित्तं, अति आनन्दकन्दनम् ।
आदि मध्ये ध्रुवं अन्तं, नित्यकेशव नमाम्यहम् ॥१॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप सत्य स्वरूप, अखिल चैतन्य, महान् आनन्द के सागर आदि मध्य तथा अन्त में ध्रुव अर्थात्-अचल हैं। ऐसे हे केशव गुरू नारायण ! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ ॥१॥

गुरू देवं, अजं अचलं, शुद्धबुद्ध निरञ्जनम् ।
निराकारं निराभासं, नित्यकेशव नमाम्यहम् ॥२॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप अजन्मा, चिरस्थाई, शुद्ध, बोधरूप, निरञ्जन, निराभास हैं, ऐसे हे केशव [क=ब्रह्मा + ईश=रुद्र + व=विष्णु] देव गुरु नारायण ! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ ॥२॥

गुरू अवयं वासुदेवं, निष्कलो गगनोपमम् ।
एक अखिलं गुणातीतं, नित्यकेशव नमाम्यहम् ॥३॥

भावार्थ—हे गुरुदेव ! आप पूर्ण-श्रीकृष्णचन्द्र, निर्दोष, गगन के समान उपमा वाले, एक, अखिल, गुणों से अतीत हैं-ऐसे हे केशवदेव गुरु नारायण ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥

गुरु विमल अति शान्तं, नित्यानन्दं माधवम् ।
द्वन्द्वातीतं मति अतीत, नित्यकेशव नमाम्यहम् ॥४॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप निर्मल हैं, महा शान्त नित्य आनन्द के देने वाले माधव हैं ! द्वन्द्वों से अतीत, महाबुद्धि सागर ऐसे हे केशवदेव गुरु नारायण ! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ ॥४॥

गुरु आतम परब्रह्म, आदि ईश सनातनम् ।
कलातीत मति अतीतं, नित्यकेशव नमाम्यहम् ॥५॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप आत्म स्वरूप, परब्रह्म, जगत् के आदि भगवान् और सनातन हैं । कलाओं से अतीत महान् उपमा रहित हैं, ऐसे हे गुरुदेव केशव नारायण ! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ ॥५॥

गुरु गुप्त कवि मुक्त, भूमानन्द जनार्दनम् ।
विश्वनाथ शान्तरूप, नित्यकेशव नमाम्यहम् ॥६॥

भावार्थः—हे गुरुदेव आप गुप्त हैं कवि हैं मुक्त हैं, भूमानन्द-स्वरूप हैं जनार्दन हैं, विश्वनाथ हैं शान्त-स्वरूप हैं, ऐसे हे गुरुदेव ! आप ! केशव ! नारायण ! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ ॥६॥

गुरुं तूर्यं ज्ञानदीपम्, महाकाशं महीपतिम् ।
जगन्निवास स्वप्रकाश, नित्यकेशव नमाम्यहम् ॥७॥

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप तुरीयातीत ज्ञान के दाता

महाकाल-शंकर हैं, आप ही हे गुरुदेव ! पृथ्वी-पति ब्रह्मा हैं ! आप ही विष्णुरूप हैं । आप ही निज प्रकाश में प्रकाशित हैं, ऐसे हे गुरुदेव केशव नारायण ! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ ॥७॥

गुरू नित्यं निजानन्दं, देशकाल प्रच्छेदतम् ।
भजं चित्तं सत्यरूपम्, नित्यकेशव नमाम्यहम् ।।८।।

भावार्थः—हे गुरुदेव ! आप नित्य हैं, निजानन्द-स्वरूप है, देश काल वस्तु से रहित हैं, हे सत्यस्वरूप चैतन्यात्मा भजनीय गुरुदेव केशव नारायण ! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ-बारंबार प्रणाम करता हूँ ॥८॥

तत्सत्

ॐ तत्सत्

॥ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐतत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
(गीता १८-२३)

भावार्थः—"ओम् तत् सत्" यह तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश है। जिसमें कोई वस्तु बतलाई जाय उसका नाम निर्देश है। अतः यह ब्रह्म का तीन प्रकार का नाम है ऐसा वेदान्त में ब्रह्मज्ञानियों द्वारा माना गया है। पूर्वकाल में इस तीन प्रकार के नाम से ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञ सब रचे गये हैं। यह ब्रह्म के नाम की स्तुति करने के लिए कहा जाता है।

"तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

अर्थातः—इस लिये वेद प्रवचन-पाठ-करने वाले ब्राह्मणों की शास्त्रविधि से कही हुई यज्ञदान और तपरूप क्रियायें 'ओम्' ऐसे इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके ही सदैव आरम्भ की जाती हैं।

'तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः, क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥"

अर्थात्ः—'तत्' ऐसे इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके और कर्मों के फलों को न चाह कर, नाना प्रकार यज्ञ, तप और दानरूप क्रियायें अर्थात्–भूमि, सोना आदि का दान करना रूप क्रियायें मोक्ष को चाहने वाले मुमुक्षु-पुरुषों द्वारा की जाती है।

"सद्भावे साधुभावे च सदित्ये तत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छद्धः पार्थयुज्यते" ॥२६॥

अर्थात्ः—अविद्यमान वस्तु के सद्भाव मे यानी जैसे सविद्यमान पुत्रादि के उत्पन्न होने में, तथा साधुभाव में अर्थात् बुरे आचरणों वाले असाधु पुरुष का जो सदाचार युक्त हो जाना है उसमें, 'सत्' ऐसे इस ब्रह्म के नाम का प्रयोग किया जाता है। अर्थात्–वहाँ 'सत्' शब्द कहा जाता है। तथा हे पार्थ! विवाह आदि मॉगलिक कर्मों में 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है, अर्थात् उनमें भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

"यज्ञे तपसि दानेच स्थितिः सदितिचोच्यते।
कर्मचैव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते" ॥

अर्थात्—जो यज्ञकर्म में स्थिति है, जो तप में स्थिति है और जो दान में स्थिति है—वह भी 'सत्' है, ऐसा विद्वानों द्वारा कहा जाता है, तथा उन यज्ञादि के लिये जो कर्म है, अथवा जिसके तीन नामों का प्रकरण चल रहा है, उस

ॐ तत्सत्

॥ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐतत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥
(गीता १८–२३)

भावार्थः—'ओम् तत् सत्' यह तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश है। जिसमें कोई वस्तु बतलाई जाय उसका नाम निर्देश है। अतः यह ब्रह्म का तीन प्रकार का नाम है ऐसा वेदशास्त्र में ब्रह्मज्ञानियों द्वारा माना गया है। पूर्वकाल में इस तीन प्रकार के नाम से ही ब्राह्मण वेद और यज्ञ रचे गये हैं। यह ब्रह्म के नाम की स्तुति करने के लिए कहा जाता है।

"तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः, सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

अर्थात्—इस लिये वेद ब्रह्मण-पाठ-करने वाले ब्राह्मणों की शास्त्रविधि में कही हुई यज्ञदान और तपरूप क्रियायें 'ओम्' ऐसे इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके ही सदा आरम्भ की जाती हैं।

'तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः, क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥"

* ॐ *

धार्मिक-सूचना।

१—हे गृहस्थो! साधू सन्यासियों की तन मन धन से सेवा करना तुम्हारा परम धर्म है।

२—संत वृद्ध हो, रोगी हो अथवा कारण विशेष होने पर, प्रेम से स्नान कराना, वस्त्रादि धोना, पादचंपी करना भार उठाना, शारीरिक सेवा है।

३—सन्त के प्रति कुभाव न करना, उनके दिये उपदेश को धारण करना, ग्लानी न लाना, मन की सेवा है।

४—घर पर आये हुये किसी भी सन्त को भूखा प्यासा न जाने देना। आप भूखा प्यासा रह जावे पर सन्त को विमुख न जाने देवे। यदि सन्त को व्याधि हो, अथवा न आसकते हों, तो उनके स्थान पर भोजनादि पहुंचाना औषधि उपचार में खर्च करना, आवश्यक वस्त्र पुस्तकादि लाकर देना, तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जो निकट हो स्ववाहन द्वारा अथवा किराया भी देकर पहुँचवा देना यह धन की सेवा है।

५—यदि धर्म लाभ न कर सको तो न सही पर कम से कम अधर्म तो मत कमाना। अधर्म यह है:—

(अ) किसी आत्मा को शारीरिक-कष्ट पहुँचाना, स्थान को नष्ट भ्रष्ट करना, शारीरिक अधर्म है।

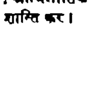
ईश्वर के लिये जो कर्म है, वह भी 'सत्' है यही कहा जाता है। इस प्रकार किये हुए यज्ञ और तप आदि कर्म, यदि असात्त्विक और विगुण भी हों तोभी श्रद्धापूर्वक परमात्मा के तीनों नामों के प्रयोग से सगुण और सात्त्विक बना लिये जाते हैं ॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

भावार्थः—हे प्रणवरूप परमात्मा !

व्यक्ति में शान्तिकर, जनता में शान्तिकर, संपूर्ण जगत् में शान्तिकर। हे प्रभो ! आधिभौतिक दुःखों की शान्ति ! आध्यात्मिक दुःखों की शान्ति कर।



* श्रीनित्यानन्दाय नमः *

जीवन सिद्धान्त।

—— o ——

दोहा।

महादेव सति दत्त-गुरु, महावीर गण-राय।
कच्छप नन्दीगण निगुण, रुच रुच मंगल गाय ॥१॥
लेख अलेख लखे नहीं, लखता लेख अलेख।
लेख अध है अफुर् है, कर विवेक तूं देख ॥२॥
स्वयँ विवेकी पुरुषतू, देखे तुझको कौन ?
आप आप को देख तूं, आनायास होय मौन ॥३॥
जीव नहीं तूं ब्रह्म है, ब्रह्म नहीं तूं जीव।
जीव ब्रह्म दोनों नहीं, साक्षी तूं निज शीव ॥४॥
कल्पित लेख अलेख दोउ, श्री गुरु दीन दयाल।
बोध कियो सुन कर भलो, नाश्यो तम तत्काल ॥५॥

शिष्य-शंका।

बहुरि भयो भ्रम मोर मति, दीनबन्धु भगवान्।
गुरु-गम, गम पडना कठिन, कहते सन्त सुजान ॥६॥

(ब) कुचेष्टा करना, निन्दा करना, कुभाव फैलाना मन का अधर्म है।

(स) साधु सन्यासियों को 'कनक कान्ता का त्याग' धर्म शास्त्रों में लिखा है। अतः उन्हें इन दो वस्तों से बचाना अपना कर्तव्य है। कदाचित् अपनी परीक्षा लेने के निमित्त अथवा प्रमाद वश कोई ऐसी याचना करे भी तो हाथ जोड़ कर प्रार्थना करदो कि महात्मा! इसके लिए क्षमा चाहते हैं।

(द) महा पुरुषों के पास जाकर तुम भी उनसे वही वस्तु लेने की इच्छा करना जिसमें तुम्हारा श्रेय होय, वास्तविक कल्याण होय क्योंकि यदि तुम उनसे हेय वस्तु मांगने आओगे तो वे तुम्हें अनधिकारी (क्षुद्र ग्राहक) जानकर कहीं खिसक जावेंगे, और तुम हाथ मलते ही रह जाओगे। फिर कौन जाने मौका हाथ लगे या न लगे। सत्य ही कहा है कि—

सन्त-समागम हरि कथा, तुलसी दुर्लभ दोय।
सुत दारा अरु लक्ष्मी पापी के भी होय ॥१॥

(और भी सुनो)

तुलसी जग में आयके, कर लीजै दो काम।
देवे को टुकड़ा भला लेव को हरि नाम ॥२॥

KNOW THYSELF"

(अर्थात्)

"स्वस्वरूप का ज्ञान"

तत्सत्।

समाप्तम्